सूरदास और भ्रमरगीत सार

डॉ. किशोरी लाल

८९१.२२

सूर और उनका भ्रमरगीत

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कृत भ्रमरगीत से संकलित
200 पदों की व्याख्या और समीक्षा

समीक्षा एवं व्याख्या-लेखक

डॉ० किशोरी लाल, एम० ए०, डी० फिल्०

अवकाशप्राप्त वरिष्ठ प्राध्यापक,

हिन्दी-विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

अभिव्यक्ति प्रकाशन

सूर और उनका भ्रमरगीत

संस्करण 1993

समीक्षा एवं व्याख्या लेखक : डॉ० किशोरी लाल

प्रकाशक
अभिव्यक्ति प्रकाशन
847-विश्वविद्यालय मार्ग
इलाहाबाद — 211002
दूरभाष : 608347

© अभिव्यक्ति प्रकाशन

वितरक
ज्ञान भारती
14/15 पुराना कटरा
इलाहाबाद

लेज़र टाइपसेटिंग
अभिव्यक्ति प्रिंटोग्राफ़िक्स
इलाहाबाद

मुद्रक
एडवांस क्रिएटिव सर्विसेज़
इलाहाबाद — 211003

मूल्य
पैंतालीस रुपया

दो शब्द

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कृत भ्रमरगीत के 200 पदों की व्याख्या और समीक्ष प्रतियोगिता (I.A.S.) एवं स्नातकोत्तर परीक्षा में सम्मिलित होने वाले प्रत्याशियों एवं छात्रों वे हित को दृष्टि में रखकर लिखी गयी है, लेकिन इससे मध्यकालीन साहित्य के अध्येता तथा सुध पाठक भी पूर्ण लाभ उठा सकेंगे, इस आशा और विश्वास के साथ यह पुस्तक प्रस्तुत की ज रही है।

सम्प्रति बाजार में सूर के भ्रमरगीत सार की व्याख्या और समीक्षा विषयक कई पुस्तवे देखने में आयी हैं। किन्तु कई स्थलों पर मैंने देखा कि टीकाकार कवि की अभीष्ट भाव-व्यंजन और अर्थ की गहराई तक नहीं पहुँच सके, मात्र कामचलाऊ व्याख्या द्वारा अपने कर्त्तव्य क निर्वाह किया है।

वस्तुत; व्याख्या या टीका का कार्य अब इतना सरल और सामान्य समझ लिया गया ं कि जिनका इस विषय में बहुत अधिक अभिनिवेश या पैठ नहीं है, वे भी व्याख्याकार य टीकाकार बन बैठे। परिणाम यह हुआ कि परीक्षा में बैठने वाले प्रत्याशीगण गलत औ भ्रमात्मक व्याख्या के कारण अच्छे अंकों की प्राप्ति से वंचित हो जाते हैं और जिस ललक वे साथ इसे खरीदते हैं, उनकी वह ललक पूरी नहीं हो पाती। वास्तव में सूर के विशिष्ट प्रयोग और उनकी विशिष्ट व्यंजना को समझने वाले आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, लाला भगवानदीन औ आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र जैसे मनीषी हमारे मध्य अब नहीं रहे। सत्य तो यह है कि लाल जी और आचार्य मिश्र हिंदी के मल्लिनाथ थे। जैसे कालिदास की कृतियों का उद्धार मल्लिनाथ ने अपनी व्याख्या द्वारा किया है, वैसे ही हिन्दी के गूढ़ अंशों की सरल व्याख्या और शब्दार्थ वे द्वारा इन आचार्यों ने प्राचीन काव्यों के पठन-पाठन का मार्ग प्रशस्त किया है।

अब ऐसे कार्यों को सम्मान की दृष्टि से देखने वाले लोग नहीं रहे और टीका या व्याख्य का कार्य जो अपने आप में एक श्रमसाध्य कार्य है, नगण्य मान लिया गया। इसी संकोच वे कारण इसके प्रकाशक श्रीकृष्ण पुरवार जी को मैंने इसे पूरा करने के लिए इनकार कर दिया थ लेकिन उनके सहज सौजन्यपूर्ण व्यवहार और सरलता के आगे मेरी कुछ भी नहीं चली औ अन्ततः उन्होंने यह कार्य मुझसे करवा ही लिया। शब्दार्थ, सुबोध व्याख्या और टिप्पणी संवलित यह पुस्तक सुधी पाठकों को सुग्राह्य होगी तथा संलग्न समीक्षा से इसकी उपादेयता बढ़ेगी, ऐस पूर्ण विश्वास है।

—लेखव

160-नैनी बाजार, इलाहाबाद

15 जून 1993 ई०

विषयानुक्रमणिका

विषय		पृष्ठ
दो शब्द	...	3
विषयानुक्रमणिका	...	5
[समीक्षा खण्ड]	...	**7-48**
1. भ्रमरगीत की परम्परा और स्वरूप	...	9
(क) श्रीमद्‌भागवत में वर्णित भ्रमरगीत विषयक कथावस्तु	...	9
(ख) सूर और उनका भ्रमरगीत	...	10
(ग) सूर के भ्रमरगीत की मौलिकता	...	11
(घ) परम्परा	...	14
2. भ्रमरगीत में दर्शन और भक्ति	...	22
3. सूर के वियोग-वर्णन की विशेषताएँ	...	25
4. भ्रमरगीत में प्रकृति-वर्णन	...	33
5. भ्रमरगीत में सूर की कलात्मक दृष्टि	...	37
(क) सूर की भाषा	...	37
(ख) सूर का अर्थ-गाम्भीर्य	...	40
(ग) सूर की आलंकारिक योजना	...	42
(घ) सूर का बिम्ब-विधान	...	45
[काव्य एवं व्याख्या खण्ड]	...	**49-285**

"आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः"

Let noble thoughts come to us from every side

—*Rigveda*

सूर और उनका भ्रमरगीत

समीक्षा खण्ड

1. भ्रमरगीत की परम्परा और स्वरूप

वस्तुतः भ्रमरगीत की परम्परा का उल्लेख करते समय उसके आधारभूत ग्रन्थ श्रीमद्‌भागवत की काफी चर्चा की जाती है। यद्यपि यह सत्य है कि हिन्दी कवियों ने विशेषतया सूर के भ्रमरगीत की उद्‌भावना और उसका परिविस्तार श्रीमद्‌भागवत के आधार पर ही किया है, लेकिन भागवत में वर्णित भ्रमरगीत और सूरसागर में प्राप्त भ्रमरगीत में पर्याप्त अन्तर है। सूर ने भागवत की इस संक्षिप्त कथा को जो काव्योचित सरसता प्रदान की है और वाणी की भंगिमा की जो चारुता इसमें प्रदर्शित की है, वह अन्यत्र विरल है। इस कथन की सत्यता के निमित्त पहले हम श्रीमद्‌भागवत की भ्रमरगीत-विषयक कथावस्तु पर विचार करना उचित समझते हैं।

(क) श्रीमद्‌भागवत में वर्णित भ्रमरगीत-विषयक कथावस्तु—श्रीमद्‌भागवत में श्रीकृष्ण कथा के अन्य प्रसंगों के साथ ही दशम स्कन्ध के 47वें अध्याय में भ्रमरगीत की प्रसंगोद्‌भावना की गयी है। 46वें अध्याय में यह प्रसंग इस रूप में आरम्भ होता है—

वृष्णीनां प्रवरो मंत्री कृष्णास्य दयितः सखा।
शिष्यो वृहस्पतेः साक्षादुद्‌भवो बुद्धिसत्तमः॥

अर्थात् वृष्णिवंश में एक श्रेष्ठ पुरुष श्रीकृष्ण के मंत्री और सखा थे। वे वृहस्पति के साक्षात् शिष्य और बुद्धि में उत्तम (बुद्धिमान) थे। इन्हीं सखा उद्धव से श्रीकृष्ण ने एक दिन कहा कि हे उद्धव, तुम ब्रज के लिए प्रस्थान करो। वहाँ मेरे माता-पिता रहते हैं, उन्हें प्रसन्न करो तथा मेरे वियोग में दुखित गोपियों को मेरा संदेश दे कर उन्हें चिन्तारहित करो—

गच्छोद्धव ब्रज सौम्य पित्रौ नौ प्रतिभावह।
गोपीनां मद्वियोगाधि मत्सन्देशैर्विमोचय॥

इसके अतिरिक्त भागवत में श्रीकृष्ण और गोपियों के मधुर और निकटतम सम्बन्धों की बहुत अधिक चर्चा हुई है। किन्तु आश्चर्य है कि वहाँ राधा का नामोल्लेख भी नहीं हुआ। भागवत में उद्धव के व्यक्तित्व का रेखांकन हिन्दी कवियों से सर्वथा भिन्न रूप में हुआ है। वहाँ उद्धवजी एक सरल, निराभिमानी और तार्किक बुद्धि से परे दिखाये गये हैं। श्रीकृष्ण के कहने से बहुत ही सहज भाव से वे रथ पर आरूढ़ होकर नंदगाँव के लिए प्रस्थान कर देते हैं। इसके सम्बन्ध में भागवतकार का कथन है—

इत्युक्त उद्धवो राजन् भार्तुरादृतः।
अदाय रथमारूढ्य प्रययौ नंदगोकुलम्॥

भागवत के अनुसार उद्धवजी नंदगाँव में सन्ध्या समय पहुँचते हैं और उनकी सबसे पहले नंद और यशोदा से वार्त्ता होती है। नन्द और यशोदा उद्धव से श्रीकृष्ण का समाचार पूछते हैं और श्रीकृष्ण की ब्रज में रहते समय की समस्त लीलाओं को स्मरण करके वे भाव-विह्वल हो

जाते हैं। यशोदा श्रीकृष्ण के प्रति अपने सहज वात्सल्य भाव को प्रकट करती हैं और श्रीकृष्ण की स्मृति में उनका हृदय भावों से भर जाता है। उद्धवजी इन बातों को सुनकर भाव-विभोर हो उठते हैं। उद्धवजी इसके अनन्तर नंद और यशोदा को समझाते हैं और तरह-तरह के उपदेश देते हैं।

भागवत का दूसरा महत्वपूर्ण प्रकरण उद्धव का गोपियों के साथ संवाद है। उद्धव के पहुँचने पर गोपियाँ उनका स्वागत करती हैं, उद्धव अपना संदेश प्रस्तुत करते हैं, जिसे सुनकर गोपियाँ व्यंग्यगर्भित शैली में उन्हें फटकारती हैं, और श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में पूछती हैं, उलाहना देती हैं और उनके कमलवत् चरणों के निकट मँडराने वाले भ्रमर को बुरा-भला कहती हैं, उसे कोसती हैं। भ्रमर के माध्यम से उद्धव और श्रीकृष्ण के प्रति यह फटकार अन्योक्ति पद्धति से वर्णित है। भ्रमर का यह संदर्भ भ्रमरगीत नाम से अभिहित किया जाता है। भ्रमरगीत का शाब्दिक अर्थ 'भ्रमर का गान या गुंजन' है। गोपियों ने भ्रमर को लक्ष्य करके उद्धव और श्रीकृष्ण दोनों को फटकारा, इस दृष्टि से इसका अर्थ भ्रमर को इंगित करके गाया जाने वाला गीत भी कहा जा सकता है।

वास्तव में भ्रमर श्याम वर्ण का होता है और उसके सिर पर पीले रंग का दाग होता है, इस कारण यह साम्य पीताम्बरधारी श्यामवर्ण श्रीकृष्ण और उद्धव पर उचित प्रतीत होता है। भागवत के अनुसार अन्त में उद्धव मथुरा लौट आते हैं; और लौटते समय वे ब्रजवासियों द्वारा भेंट में प्राप्त बहुत-सी वस्तुएँ भी अपने संग ले जाते हैं। ब्रजमण्डल के सौन्दर्य, ब्रजवासियों के प्रेम से वे काफी प्रभावित हुए। उनका रोम-रोम ब्रज की पवित्र रेणु से आपूरित हो गया। वे ब्रज में रहने और वहाँ की जड़ी-बूटियाँ आदि के रूप में अवतरित होने में अपना परम सौभाग्य समझते हैं—

आसामहोचरणरेणु जुषामहं स्यां।
वृन्दावने किमपि गुल्म लतौषधीनाम्॥
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा।
भेजुमुकुन्द पदवी श्रुतिर्भिविमृग्याम्॥

(ख) **सूर और उनका भ्रमरगीत**—यह कहा जा चुका है कि सूर ने श्रीकृष्ण की अन्यान्य लीलाओं की भाँति भ्रमरगीत-विषयक संदर्भ श्रीमद्‌भागवत से ही लिया है। किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि इस भ्रमरगीत में भागवत की अक्षरशः अनुकृति है बल्कि स्थल-स्थल पर सूर की नवोद्‌भावनाओं से इसकी चारुता और स्वारस्य प्रायः बढ़ गया है।

सूर के तीन भ्रमरगीत सूरसागर में भ्रमरगीत-विषयक तीन प्रकार की रचनाएँ मिलती हैं—प्रथम भ्रमरगीत श्रीमद्‌भागवत् का अनुवाद है, जिसमें काव्योचित सरसता का प्रायः अभाव है। रचना दोहों और चौपाइयों में है तथा यथास्थल सार छन्द का भी प्रयोग किया गया है। इस रचना में सूर के ज्ञान और वैराग्य-विषयक सिद्धान्तों का विवेचन नगण्य है।

सूर के द्वितीय भ्रमरगीत में गोपियों के प्रति उद्धव का उपदेश, गोपियों का उद्धव के प्रति उपालम्भ, उद्धव का मथुरागमन, उद्धव द्वारा श्रीकृष्ण के समक्ष गोपियों की वियोगावस्था का वर्णन, गोपियों की दशा सुनकर श्रीकृष्ण की मूर्च्छा का कथन आदि एक ही पद में मिलता है। इसमें न तो भ्रमर का उल्लेख है और न गोपियों के विस्तृत संवाद और उनके द्वारा दिये गये उपालम्भ की चर्चा ही इतनी अधिक की गयी है।

सूर ने तीसरे भ्रमरगीत की चर्चा सूरसागर के 4078वें पद से लेकर 4710वें पद तक की है। इसमें सूर की परिष्कृत काव्योचित प्रतिभा और भागवत् से दृष्टिकोणगत पार्थक्य की रेखा सहज रूप में देखने को मिलती है। इसमें उक्त दोनों भ्रमरगीत की तुलना में इसकी रचना के प्रणयन का उद्देश्य सुस्पष्ट हुआ है। इसमें मात्र भागवत-कथा का ही विनियोग नहीं हुआ अपितु भाव-व्यंजना के उत्कर्ष को भी महत्व दिया गया है। इसके साथ ही इसमें भ्रमर के रूप में उद्धव और यथाप्रसंग श्रीकृष्ण को उपालम्भ भी दिया गया है। पुनः तत्कालीन निर्गुण तथा सगुण उपासना के सम्बन्ध में चलने वाले विवाद को दृष्टि में रखकर सगुणोपासना के मार्ग को श्रेष्ठ बताया गया है और योग तथा ज्ञान पर प्रेम और भक्ति की विजय का उद्घोष किया गया है।

(ग) **सूर के भ्रमरगीत की मौलिकता**—सूर ने श्रीमद्भागवत में वर्णित तद्विषयक प्रसंगों को जितनी गहराई और कौशल के साथ प्रकट किया है वह इनकी मौलिक दृष्टि का परिचायक है। इनकी मौलिकता में निम्नलिखित बातों का उल्लेख किया जाता है—

(1) निर्गुण की तुलना में सगुण की महत्ता का प्रतिपादन,

(2) प्रेमतत्व की व्यापकता और गंभीरता का विश्लेषण,

(3) व्यंजना और वाणी की भंगिमा का प्रभावशाली वर्णन,

(4) गोपियों के वियोग-वर्णन के साथ ही राधा की मनोव्यथा की मार्मिक अभिव्यक्ति,

(5) उपहास और व्यंग्य-विनोद के आभोग में कुब्जा की प्रसंगोद्भावना।

भ्रमरगीत रचना का मूल कारण क्या था और इसके पीछे सूर की क्या मानसिकता थी, इन सब पर विचार करते समय तत्कालीन सामाजिक और धार्मिक परिवेश पर दृष्टिपात करना नितान्त आवश्यक है। इस सम्बन्ध में मध्यकालीन साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का कथन है—"ज्ञान की कोरी वचनावली और योग की थोथी साधनावली का यदि साधारण लोगों में विशेष प्रचार हो तो अव्यवस्था फैलने लगती है। निर्गुण पंथ ईश्वर की सर्वव्यापकता, भेदभाव की शून्यता, सब मतों की एकता आदि को लेकर बढ़ा, जिस पर चलकर अपढ़ जनता ज्ञान की अनगढ़ बातों और योग के टेढ़े-मेढ़े अभ्यास को ही सब कुछ मान बैठी तथा दंभ, अहंकार आदि दुर्वृत्तियों से उलझने लगी। ज्ञान का ककहरा भी न जानने वाले उसके पारंगत पंडितों से मुँहजोरी करने लगे। इस कथन से स्पष्ट है कि धर्म और ज्ञान के क्षेत्र में स्थिरता नाम की कोई चीज रह ही नहीं गयी थी। 'अपनी-अपनी ढफली अपना-अपना राग' अलापने की प्रवृत्तियाँ प्रबल हो गई थीं। वर्ण-व्यवस्था की संकीर्णता और उसकी प्रतिक्रियास्वरूप सामाजिक एकता और अखण्डता के विघटनकारी तत्व और क्षयिष्णु प्रवृत्तियाँ धीरे-धीरे फैलने लगी थीं। सूर आदि सगुणोपासक कवियों ने इस विषाक्त वातावरण के दुष्परिणाम को पूरी तरह से समझ लिया था; अतः प्रेम और भक्ति की सरसता तथा ज्ञान और योग की नीरसता के लाभालाभ का प्रतिपादन और तद्विषयक सूक्ष्म विवेचन इन रचनाकारों का स्पृहणीय एवं अभीष्ट विषय बन गया। फलतः सूरादि सगुणोपासक कवियों ने निर्गुण की अपेक्षा सगुण मार्ग का अपेक्षाकृत अधिक गुण-गान किया तथा माधुर्य और सौन्दर्य की मूर्ति श्रीकृष्ण के भूलते हुए स्वरूप के प्रति इन्होंने जन-मानस को एक बार पुनः आकृष्ट करने का श्लाघ्य प्रयत्न किया। श्रीमद्भागवत में इस तथ्य पर विचार नहीं हुआ। यह सूर की मौलिक तथा सर्वथा नूतन

सूझ है।[1]

वस्तुतः योग और ज्ञान की साधना इतनी कठिन है कि इसे सामान्य जनता आसानी से ग्रहण नहीं कर सकती। सूर ने जनता की इस कठिनाई को समझ कर सगुण भक्ति को एक सरल और सुग्राह्य मार्ग की अवतारणा उद्धव-जैसे ज्ञानी पुरुष और सरल हृदय भक्ति और प्रेम की प्रतिमूर्ति राधा और गोपियों के रूप में की। वास्तव में दर्शन के उलझाऊ सिद्धान्त और ज्ञान तत्व का चिन्तन सामान्य गोपियों के लिए नहीं है, अपितु इसके अधिकारी अन्तर्दृष्टिसम्पन्न योग-साधना और ब्रह्म-चिन्तन की गहराई में डुबकियाँ लगाने वाले सच्चे साधक और तत्वान्वेषी पुरुष हैं। इस मर्म को न जानने वाले उद्धव को इसी कारण गोपियों ने अज्ञानी की संज्ञा दी है—

अहो अजान ज्ञान उपदेसत ज्ञान रूप हमहीं।
निसि दिन ध्यान सूर प्रभु को अलि, देखत जित तितही ॥

ज्ञान-मार्ग पर चलने से हमें संसार की विभूतियों के प्रति माया-मोह त्यागना होगा और अपनी बहिर्मुखी वृत्तियों को अन्तर्मुखी बनाना होगा। इसी से ऐसे साधक रहस्य और गुह्य की उलझनों में निरन्तर फँसा रहता है। बाह्य जगत की रमणीयता उसके लिए व्यर्थ है—बेकार है। पर सगुणोपासक भक्त अनुराग से रंजित होता है—वह विश्व की विभूतियों में अपने हृदय को तन्मय करके जिस अपूर्व और लोकोत्तर आनन्द की प्राप्ति करता है, वह सब के लिए सुलभ नहीं है। वह गुह्य साधना, दुराव और आन्तरिक जगत के प्रति अनास्थावान रह कर तथा सरल, सीधा भक्ति और प्रेम-मार्ग पर चलकर मंगल तत्व को बटोरता है—ऐसे मार्ग पर वह विरापद चलता है, क्योंकि यह मार्ग निष्कंटक है। इसी से गोपियाँ सगुणोपासना के मार्ग का विरोध करने वाले ज्ञानी उद्धव से बहुत ही आग्रहपूर्वक कहती हैं—

काहे को रोकत मारग सूधो।
सुनहु मधुप, निर्गुन कंटक तें राजपंथ क्यों रूँधो ?
राजपंथ तें टारि बतावत उरझ, कुबील, कुपैंड़ो ॥
सूरदास समाय कहा लौं, अज के बदन कुम्हैंड़ो ॥

सगुणोपासना की साधारता और निर्गुणोपासना की निराधारता दोनों पर सम्यक्रूपेण विचार करने के पश्चात् ही सूर ने निर्गुण से हटकर सगुण मार्ग पर चलने का संकेत किया है। सूर के अनुसार निर्गुण इस प्रकार है—

रूप रेख गुन जाति जुगुति बिनु निरालंब मन चक्कृत धावै।
सब विधि अगम बिचारहि, तातें सूर सगुन लीलापद गावै ॥

सूर ने प्रेमलक्षणा भक्ति के जिस दृढ़ आधार-शिला पर राधा-कृष्ण और कृष्ण एवं गोपियों के परस्पर प्रेमतत्व की गहराई और सूक्ष्मता का बहुविध विश्लेषण किया, वह हिन्दी के किसी काव्य में नहीं मिलता। यद्यपि राधा-कृष्ण का एकनिष्ठ तथा कृष्ण और गोपियों का बहुनिष्ठ प्रेम परस्पर-विरोधी हैं फिर भी अपनी गंभीरता और व्यापकता की दृष्टि से यह अभिन्न और अखण्ड है। सूर के सम्बन्ध में जो यह उक्ति 'तत्व तत्व सूरा कही, तुलसी कही अनूठि' कही जाती है, इसमें प्रयुक्त तत्व वस्तुतः प्रेम तत्व का ही बोधक है। सूर ने प्रेम तत्व के जिस

स्वरूप का विश्लेषण किया है उसमें विषमता का प्राधान्य है और यही विषमता प्रेम को दृढ़ता प्रदान करती है तथा उसकी व्यापकता का संकेत करती है। इस सम्बन्ध में सूर का कथन विचारणीय है—

ऊधो बूझति गुपुत तिहारी।
सब काहू के मन की जानत बाँधे मूरि फिरत ठगवारी॥
पीत ध्वजा उनके पीतांबर लाल ध्वजा कुबिजा व्यभिचारी।
सत की ध्वजा स्वेत ब्रज ऊपर अजस हेतु ऊधो ! सो प्यारी॥
उनके प्रेम प्रीति मनरंजन पैह्यौं सकल सील ब्रतधारी।
सूर बचन मिथ्या लँगराई ये दोऊ ऊधो की न्यारी॥

गोपियाँ क्या कलंक के भय से श्रीकृष्ण से प्रेम करना छोड़ देंगी ? कभी नहीं। वे प्रेम की सात्विकता को ग्रहण कर प्रेम-मार्ग में दृढ़ता के साथ अपने चरण रखती रहीं; वहाँ संदेह का कोई स्थान नहीं। यह प्रेम मनोरंजन या वासना का पर्याय नहीं है जहाँ प्रेमी का स्खलन हो सके—जहाँ उसके पराभव की संभावना बनी रहे। सूर के भ्रमरगीत के मौलिक तत्वों में जिस प्रेम-व्यंजना की चर्चा की जाती है, वह यही प्रेम तत्व है जो सूर के पूर्ववर्ती और परवर्ती किसी भी कवि में दृष्टिगत नहीं हुआ।

सूर हिंदी-साहित्य में अपनी व्यंजना अर्थात् अपनी व्यंग्यगर्भित शैली और वाणी की भंगिमा अर्थात् अपने वक्रोक्ति-विधान के कारण अति प्रसिद्ध हैं। सूर ने भागवत के आधार पर भ्रमरगीत के जिन अंशों को ग्रहण किया उनमें न तो व्यंजना का चमत्कार है और न वक्रोक्ति विधान की चारुता। यह सूर की निजी सम्पदा है जिसे देखकर हिंदी के बहुत से कवियों की दृष्टि चकाचौंध में पड़ गयी। सूर का यह कथन 'निर्गुण कौन देस का वासी'—अपनी व्यंग्य-गर्भित शैली के लिए काफी प्रचलित है। इसके अतिरिक्त 'ऊधो जोग बिसरि जनि जाहु' जैसी उक्तियों में व्यंग्य तत्व की तीक्ष्णता अपने आप में कितनी प्रभावशालिनी है। इसी प्रकार वाणी की भंगिमा के सौन्दर्य-निरूपण में सूर कभी पीछे नहीं रहे। उनकी एक से एक उक्तियाँ अपनी वक्रता का ज्वलन्त निदर्शन उपस्थित करती हैं; यथा—

उर में माखन चोर गड़े।
अब कैसे हूँ निकसति नाहीं तिरछे ह्वै जु अड़े॥

भाव प्रेरित वचन-वक्रता के ऐसे बहुत से पद सूरसागर में प्राप्त हैं। भागवत में इस प्रकार की वक्र उक्तियों का प्रायः अभाव है।

भागवत में गोपियों की मार्मिक वियोग-दशा का तो वर्णन हुआ ही है, किन्तु राधा की मनोव्यथा और उसकी हृदयविदारक पीड़ा का कहीं भी उल्लेख नहीं किया गया। राधा की मानसिक दशा और श्रीकृष्ण-वियोगजन्य विह्वलता का जैसा भावात्मक एवं चित्रात्मक वर्णन सूर ने किया है, वह सर्वथा नूतन और मौलिक है। राधा की वियोग-दशा को सूर ने दो प्रसंगों में उल्लिखित किया है। वियोग-दशा की मार्मिक अवतारणा का प्रथम प्रसंग ब्रजमंडल में प्राप्त होता है, जहाँ राधा के शरीर की कृशता, वियोग-ताप, अश्रु और विवर्णता आदि को उद्धव ने प्रत्यक्ष अपनी आँखों से देखा। इसे देखकर ज्ञानी उद्धव का दृढ़ धैर्य ठहर न सका। राधा की वियोग-दशा का दूसरा प्रसंग वहाँ प्राप्त होता है जहाँ उद्धव द्वारा श्रीकृष्ण के समक्ष सारी बातें

प्रस्तुत की जाती हैं। राधा की दशा का यह चित्रात्मक वर्णन उद्धव के मथुरा आने पर किस प्रकार किया गया है, उसका एक नमूना इस प्रकार है—

चित दै सुनौ स्याम प्रबीन।
हरि तिहारे विरह राधे, मैं जो देखी छीन।
कहन को संदेस सुंदरि गवन मो तन कीन॥
छुटी छुद्रावलि, चरन अरुझे गिरी बलहीन।
बहुरि उठी सँभारि, सुभट ज्यों परम साहस कीन॥
बिन देखे मनमोहन मुखरो सब सुख उनको दीन।
सूर हरि के चरन-अंबुज रही आसा लीन॥ 386॥

भागवत में कुब्जा का भी इस प्रकार उल्लेख नहीं किया गया। यहाँ कुब्जा के प्रसंग को लेकर सूर ने व्यंग्य-विनोद और उपहास की मधुर छटा प्रस्तुत की है। गोपियाँ कुब्जा के संदर्भ में श्रीकृष्ण की बुरी तरह खिल्ली उड़ाती हैं। असूया संचारी के अन्तर्गत सूर ने इस प्रकरण को बहुत ही सरस, रमणीय और मधुर बनाने की पूर्ण चेष्टा की है। कहीं-कहीं व्यंग्य की तीक्ष्णता हृदय पर मार्मिक प्रभाव डालती है और इससे सूर की विनोदशीलता और हास-परिहास की प्रवृत्ति का अच्छा परिचय मिलता है। तद्विषयक एक पद प्रस्तुत किया जा रहा है—

ऊधो ! जाके माथे भाग।
कुब्जा को पटरानी कीन्हीं, हमहिं देत बैराग॥
तलफत फिरत सकल ब्रजबनिता चेरी चपरि सोहाग।
बन्यो बनायो संग सखीरी ! वै रे ! हंस वै काग॥
लौंडी के घर डौंडी बाजी, स्याम रंग अनुराग।
हाँसी, कमल नयन-संग खेलति बारहमासी फाग॥

(घ) **परम्परा**—हिन्दी में भ्रमरगीत की एक विशाल परम्परा मिलती है। यद्यपि इसका आरंभ सूरदास ने ही किया किन्तु सूर के समकालीन और परवर्ती इतर कवियों द्वारा इस विषय का जिस परिमाण में संपोषण होता रहा वह अत्यंत विस्मयकारी है। डॉ० सत्येन्द्रजी ने अपने ब्रजभाषा साहित्य के इतिहास में भ्रमरगीत-परम्परा के काव्यों की एक प्रामाणिक सूची प्रस्तुत की है जो सोलहवीं शताब्दी से लेकर बीसवीं शताब्दी के मध्य रचित ग्रंथों का संकेत करती है—

16वीं शती—	1535 —भ्रमरगीत	सूरदास
	1553 —भ्रमरगीत	कृष्णदास
	1560 —भ्रमरगीत	सेव्यकवि
	1580 —प्रेमतरंगिणी	लक्ष्मीनारायण
	1590 —भँवरगीत	नंददास
17वीं शती—	1635 —प्रेमरस सागर	घनश्यामकृत
	1677 —भ्रमरगीत	परमानन्ददास
18वीं शती—	1735 —भ्रमरगीत	केशव (मेड़वा के)
	1751 —भ्रमरगीत	कालिदास
	1777 —पूर्व सनेह लीला	रसिकराम

	1788	—वियोगवल्ली उपालम्भ शतक	रसरूप
	1789	—सनेह सागर	बक्सी हंसराज
	1790	—प्रेमदीपिका	अक्षर अनन्य
	1795	—रसिक पचीसी	रसिकराम
	1795	—स्नेह लीला	हरिराम जी 'रसिक'
19वीं शती—	1903	—भ्रमरगीत	रसनायक
		—भ्रमरगीत	वृन्दावनदास
	1806	—भ्रमरगीत	प्रागनकवि
	1809	—ब्रजविलास	ब्रजवासीदास
	1815	—गोपी प्रेमपियूष प्रवाह	नवनीत चतुर्वेदी
	1835	—बिरह बत्तीसी	मथुरालाल
	1839	—प्रेम पचीसी	शिवराम
	1946	—निर्गुण सगुण निरूपण	शिवानंद
	1870	—उक्तजुक्त रसकौमुदी	निजकवि
	1879	—भँवरगीत	सेवाराम
	1879	—गोपी तथा कुब्जा पचीसी	ग्वाल कवि
	1880	—रसिक पचीसी	रसरासि
20वीं शती—	1911	—भागवत भ्रमरगीत अनुवाद	रघुराजसिंह
	1929	—उद्धवशतक	रत्नाकर
	1941	—भ्रमरदूत	सत्यनारायण कविरत्न
	1970	—उद्धव शतक	डॉ० रसाल।
	1981	—उद्धव शतक	गजेन्द्र चतुर्वेदी

बीसवीं शती के भ्रमरगीत से संबंधित अमृतलाल चतुर्वेदी कृत 'स्याम संदेसों' और डॉ० लक्ष्मीशंकर मिश्र निशंक कृत 'श्याम शतक' भी परिगणित किये जा सकते हैं।

भ्रमरगीत की रचना स्फुट शृंगारिक कवित्त-सवैयों में भी निरन्तर की जाती रही। बिहारी, देव, मतिराम, पद्माकर, दास, घनानंद और ग्वाल जैसे कवियों के छन्दों में स्फुट रूप से इस विषय का विस्तार होता रहा।

भ्रमरगीत की इस विशाल परम्परा को प्रवृत्ति की दृष्टि से तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—

(1) दर्शन एवं भक्तिमूलक

(2) शृंगारमूलक

(3) सामयिक संदर्भमूलक

कृष्ण भक्त कवियों में सूर के पश्चात् नन्ददास का भँवरगीत साहित्य रसिकों के मध्य अधिक चर्चित रहा। नन्द दास ने इस भँवरगीत की रचना भक्ति और दर्शन की प्रेरणा से की है; अतः भक्त सुलभ भावुकता और संवेदना के साथ ही इसमें दर्शन की तार्किकता की भी खूब झलक मिलती है। इस भँवरगीत की दूसरी विशेषता इसकी नाटकीयता है, जिसमें उत्तर प्रत्युत्तर का

सौष्ठव संवाद शैली में पूर्णतया लक्षित होता है; यथा—

जो उनके गुन नाहि और गुन भए कहाँ तें।
बीज बिना तरु जमैं मोहि तुम कहो कहाँ तें॥

इसकी तीसरी विशेषता इसकी टेकमिश्रित गीति शैली है जो भ्रमरगीत की एक विशिष्ट पद्धति के रूप में स्वीकार कर ली गयी। इनकी इस रचना को विद्वानों ने पद्य-निबंध के ढंग की रचना बतायी है। इसके सम्बन्ध में आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का कथन है—"सूर के भ्रमरगीत की सी विविधता इसमें नहीं, पर निबंध रूप में होने में रसधारा का आनंद-प्रवाह अवश्य मिलता है। सूर के उद्धव की भाँति नंददास के उद्धव मौनाभ्यासी या अल्पभाषी नहीं है, और शास्त्रार्थी या विवादी हैं।"

कृष्ण काव्यधारा के दूसरे प्रसिद्ध कवि परमानन्द दास कहे जाते हैं, जिनके 'परमानंद सागर' में भ्रमरगीत-विषयक प्रसंग बहुत सरस और उत्कृष्ट रूप में प्रस्तुत किया गया है, किन्तु सूर और नंददास की भाँति इन्होंने इस विषय का अधिक विस्तार नहीं किया। इनके तद्विषयक थोड़े से पद मिलते हैं। इनके भ्रमरगीत पर सूर की अमिट छाप है। इनके भी भ्रमरगीत-विषयक पदों में निर्गुण सिद्धान्त का खण्डन और सगुण का मंडन किया गया है। इनके पदों में भाव-मग्नता की अपूर्व क्षमता है और भावुकता तथा संवेदना में ये सूर से कम नहीं हैं। हाँ, यह अवश्य है कि नंददास की भाँति इन्होंने दर्शन को तार्किकता से अपने पदों को बोझिल नहीं बनाया, बल्कि इनके पदों की सरसता और सहजता सहृदय पाठकों के निकट अधिक श्लाघ्य है—

मोहन वह क्यों प्रीति बिसारी।
कहत सुनत समुझत उर अन्तर दुख लागत है भारी॥
एक दिवस खेलत बन भीतर बेनी सुमन सँवारी।

अष्टछाप के अन्य कवियों में कृष्णदास, चतुर्भुजदास आदि का उल्लेख किया जाता है। परन्तु इनकी भ्रमरगीत-विषयक रचनाएँ अधिक प्राप्त नहीं हैं। कुछ स्फुट पद यत्र-तत्र मिल जाते हैं। हाँ, रामभक्त कवियों में तुलसीदास ने कवितावली में केवल दो छन्द भ्रमरगीत के सम्बन्ध में भी लिखे हैं, किन्तु इसका परिविस्तार श्रीकृष्ण गीतावली में किया है। यद्यपि इनके छन्दों में भ्रमर या मधुप का प्रयोग नहीं मिलता, परन्तु उद्धव-गोपी सम्वाद की बड़ी सुष्ठु योजना देखने को मिलती है। तुलसी के भ्रमरगीत-विषयक छन्दों में मर्यादावाद का पालन इनकी प्रमुख विशेषता है। सूर और नन्ददास की शैली से तुलसी की शैली सर्वथा भिन्न है। यहाँ गोपियाँ उद्धव के प्रश्नों का उत्तर बड़ी शालीनता, संयम और मर्यादा के साथ देती हैं। सूर या नंददास जैसी विनोदशीलता या उपहास की प्रवृत्तियों का इनके भ्रमरगीत में सर्वथा अभाव है। हाँ, कहीं-कहीं भावानुभूति और संवेदनशीलता की दृष्टि से सूर और तुलसी की भ्रमरगीत विषयक रचनाएँ इतनी घुलमिल गयी हैं कि यदि नाम को हटा दिया जाय तो पहचानना भी मुश्किल हो जाएगा कि कौन सूर की रचना है और कौन तुलसी की।

उत्तर मध्यकाल (शृंगारकाल) तक आते-आते कवियों की प्रवृत्तियाँ बदल चुकी थीं। इस काल में भक्ति और दर्शन की अपेक्षा शृंगार के स्थूल चित्रण की प्रधानता हो गयी थी। फलतः भ्रमरगीत के सम्बन्ध में हमें जो भी छन्द इस काल में मिलते हैं उनमें रीति शैली और स्थूल

शृंगार की प्रवृत्तियाँ स्पष्टतया दृष्टिगत होती हैं। शृंगारकाल में प्रवृत्ति की दृष्टि से कवियों की दो कोटियाँ बनायी जा सकती हैं—(1)रीतिबद्ध, (2) रीति मुक्त। रीतिबद्ध कवियों में देव, बिहारी, मतिराम, पद्माकर, दास, ग्वाल जैसे कलाकारों ने वियोग-वर्णन के संदर्भ में यत्र-तंत्र उद्धव और गोपी संवाद की भी चर्चा कर दी है, परन्तु भाव-तन्मयता, अनुभूति की प्रभविष्णुता और हृदय की सच्ची रागात्मकता का इन कवियों की रचनाओं में प्रायः अभाव है। ऐसी रचनाओं में कहीं चमत्कारवाद का आग्रह है और कहीं अलंकरण की प्रवृत्ति पराकाष्ठा पर पहुँच गयी है। सहजता और सरसता इसमें उस कोटि की नहीं मिलती जिस प्रकार भक्त कवियों में प्राप्त है। नमूने के लिए कुछ कवियों की कविताएँ उद्धृत की जा सकती हैं—

(क) ऊधो यह सूधो सों संदेसो कहि दीजो भलो।
हरि सों हमारे ह्याँ न फूले बन कुंज हैं॥
किंसुक गुलाब कचनार औ अनारन की
डारन पै डोलत अंगारन के पुंज हैं। —पद्माकर

(ख) ऊधो आए, ऊधो आए, हरि को संदेसो लाए।
सुनि गोपी गोप धाए, धीर न धरत हैं॥
बौरी लगि दौरी उठी भौंरी लौं भ्रमति, माती।
गनति न गुनी गुरु लोगन दुरत है॥
ह्वै गई बिकल बाल बालम बियोग भरी।
जोग की सुनत बात गात ज्यों जरत है॥
भारे भए भूपन सम्हारे न परत अंग।
आगे को धरत पग पाछे को परत हैं॥ —देव

(ग) ऊधो ! तहाँई चलो लै हमैं, जहँ कूबरी कान्ह बने एक ठौरी।
देखिय 'दास' अघाय-अघाय, तिहारे प्रसाद मनोहर जोरी॥
कूबरी सों कछु पाइए मंत्र, लगाइए कान्ह सों प्रीति की डोरी।
कूबरी भक्ति बढ़ाइए बन्दि, चढ़ाइए चन्दन-बन्दन रोरी॥

रीतिबद्ध कवियों में जहाँ वस्तु-व्यंजना का आग्रह, ऊहात्मक प्रवृत्तियों की प्रधानता है, वहीं रीतिमुक्त कवियों में भाव-व्यंजना का उत्कर्ष, संवेदना की प्रभविष्णुता और अनुभूति की गहराई भी मिलती है। रसखान, बक्सी हंसराज, घनानंद और आलम जैसे रीतिमुक्त कवियों में इस तथ्य का भलीभाँति परीक्षण किया जा सकता है।

भक्त रसखान को रीतिकाव्य के आलोचकों ने रीतिमुक्त कोटि के कवियों के अन्तर्गत रखा है। इन्होंने 'सुजान रसखान' नामक ग्रन्थ में भ्रमरगीत-विषयक सात छन्दों की रचना की है, जिनमें उद्धव को खरी-खोटी सुनाने के साथ ही कुब्जा-प्रसंग की बड़ी सरस और हृदयग्राहिणी उद्भावना की गई है। इन छन्दों की एक प्रमुख विशेषता यह है कि रसखानजी ने इनमें कहीं भी भ्रमर शब्द का प्रयोग नहीं किया, यद्यपि इन छन्दों का शीर्षक भ्रमरगीत दिया गया है। इन छन्दों में 'भ्रमर' की जगह उद्धव शब्द का प्रयोग हुआ है। एक उदाहरण लें—

लाज के लेप चढ़ाइ कै अंग, पची सब सीख को मंत्र सुनाइ कै।
गारुड़ी ह्वै ब्रज लोग थक्यौ, करि औषद बेसक सौंह दिवाइ कै॥

ऊधो सों को रसखान कहै जिन चित्त धरौ तुम ऐते उपाइ कै।
कारे बिसारे को चाहैं उतार्‌यौ अरे विष बावरे राख लगाइ कै॥

रीतिमुक्त कवियों में निश्चय ही रसखान की उक्तियाँ अपने वक्रता-विधान और अनूठी व्यंजना के कारण अतिशय लोकप्रिय रही हैं।

बक्सी हंसराज की भी गणना रीतिमुक्त कवियों में की जाती है। इन्होंने सं० 1811 में 'विरह विलास' नामक ग्रन्थ की रचना की, जिसमें उद्धव-गोपी संवाद का वर्णन अतिशय सुंदर शैली में हुआ है। चूँकि ग्रन्थ अप्रकाशित है, इसलिए बहुत से हिन्दी के विद्वान इस ग्रन्थ का विस्तारपूर्वक उल्लेख नहीं कर सके। 'सनेहसागर' की भूमिका में लाला भगवान दीन ने बक्सी के अन्यान्य ग्रंथों के साथ इसकी भी चर्चा की है। हस्तलिखित ग्रंथों के रूप में हमें यह देखने को मिला है। इसमें उद्धव और गोपियों की सम्वाद-योजना अति सुष्ठु और हृदयग्राहिणी है।

घनानंद ने उद्धव-गोपी सम्बाद से संबंधित छन्दों की रचना स्फुट रूप में की है। इन ग्रन्थों में कुछ ही छंद इस विषय के मिलते हैं, अधिक नहीं। परन्तु हृदय पर मार्मिक प्रभाव डालने की क्षमता इन छन्दों में अवश्यमेव मिलती है—इसमें दो मत नहीं है। इनके छन्दों में सगुण और निर्गुण के विवाद का वर्णन है, पर उक्तियाँ रमणीय और सरस हैं। वस्तुतः घनानन्द ने वियोग के परिप्रेक्ष्य में गोपियों की मानसिक अवस्था का बड़ा ही मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है।

आलम रीतिमुक्त कवियों में एक श्रेष्ठ और सरस कवि के रूप में अभहित किये जाते हैं। जहाँ तक ज्ञात है घनानंद और रसखान की तुलना में इन्होंने भ्रमरगीत-विषयक अधिक छन्दों की रचना की है। इस विषय के छन्द इनके प्रसिद्ध संग्रह ग्रंथ 'आलम केलि' में प्राप्त है। आलम केलि में यशोदा-विरह और गोपी-विरह के छन्दों के साथ ही भ्रमरगीत के उन्नीस छन्द मिलते हैं। भँवरगीत के पश्चात् 'उद्धव का लौटना' शीर्षक के अन्तर्गत पाँच छन्द प्राप्त हैं। वस्तुतः भँवरगीत के छन्द उक्ति वैचित्र्य, वस्तु-व्यंजना के चमत्कार और ऊहात्मक प्रवृतियों के कारण कहीं-कहीं अस्वाभाविक से लगते हैं।

उक्तियों की अतिरंजना और दूरारूढ़ कल्पना के कारण आलम हृदय की रागात्मकता को अधिक उभार नहीं सके। इस संबंध में एक उदाहरण लें—

अँखियाँ भली जु ऐसे अँसुवनि धारैं, ना तो।
धारा पल छूटि तिहुँ देस न समाति है॥
औधि है जु धूम की उसांस रूँधि राखी है सु,
नेकु लेत द्योसहूँ अँध्यारी होति राति है॥
आलम संताप स्वेद सींचिबो अधार कौ हूँ
झूरी ह्वै कै देह फिर खेह ज्यों उड़ति है॥
छाती पै सराहौं बरु दीया की सी भाँति ऊधौ
पाती लिखे लेखनी ज्यों बाती बरी जाति है॥

इसी प्रकार की प्रवृत्ति 'उद्धव का लौटना' शीर्षक छन्दों में भी परिलक्षित होती है। कुछ पंक्तियाँ देखें—

कानन में जाय नेकु आनन उघारि देत।
ताकी झार फूली डार दूरि तें सुखाती हैं॥

बारि में जो बोर्‌यो तनु लागति ज्यों चुरै मीन।
बारिज की बेलैं ते बिलोकि बरी जाती है॥

अर्थात् श्रीकृष्ण के समक्ष वियोगिनी गोपियों की दशा का उल्लेख करते हुए उद्धवजी कह रहे हैं कि यदि गोपियाँ जंगल में जाकर कहीं थोड़ा भी अपना मुख खोलती हैं तो उनके विरह-ताप की लपटों से फूली हुई डालें दूर से ही सूख जाती हैं और यदि वे अपने शरीर के ताप को दूर करने के लिए सरोवर आदि में स्नान करती हैं तो मछलियाँ चुरने लगती हैं और कमल की लताएँ देखने मात्र से जलने लगती हैं। आलम के छन्दों में भी मधुप या भ्रमर का प्रयोग नहीं हुआ है। सर्वत्र गोपियों ने उद्धव शब्द का ही प्रयोग किया है।

यद्यपि आधुनिक संदर्भों का आरंभ भारतेन्दु से होता है, लेकिन भारतेन्दुजी ने भ्रमरगीत-विषयक जो छन्द रचे हैं उनमें प्राचीन परिपाटी का ही अनुसरण किया गया है। उन छन्दों में आधुनिक या साम्प्रतिक चेतना की झलक किसी भी रूप में नहीं मिलती। वस्तुतः कविता में साम्प्रतिक चेतना का उपयोग-विनियोग, द्विवेदी युग में धड़ल्ले के साथ होने लगा। इस काल में भ्रमरगीत-परम्परा में कुछ नया मोड़ भी आया। इस दिशा में एक अच्छा नमूना रत्नाकर के उद्धव शतक के साथ ही पं० सत्यनारायण कविरत्न के भ्रमर दूत में देखने को मिला। आधुनिक ब्रजभाषा काव्य-परम्परा में इन दो कवियों की विशेषरूपेण चर्चा की जाती है।

रत्नाकर और उनका उद्धव शतक—रीति और भक्ति की कड़ी के रूप में उद्धव शतक भ्रमरगीत परम्परा में कुछ नूतनता और वाणी की अनुपम भंगिमा लेकर आया। कथावस्तु की मौलिकता और नवीन प्रसंगों की उद्‌भावना की दृष्टि से इसकी भूरिशः सराहना की जाती है। इस काव्य में राधा और गोपियों के वियोग के साथ ही यमुना में बहते हुए कमल को प्राप्त कर राधिका की मधुर स्मृति में बेसुध होने वाले श्रीकृष्ण की वियोग-व्यथा और उनकी मानसिक दशा का जैसा चित्रात्मक वर्णन इसमें हुआ है, वह सर्वथा मौलिक है।

इस काव्य में भ्रमर या मधुप का प्रयोग प्रायः नहीं किया गया। मात्र एक छन्द में 'मिलि सो तिहारो मधु मधुप हमारो नेह' में 'मधुप' शब्द आया है। श्रीकृष्ण के पास ब्रजवासियों ने उद्धव द्वारा जो उपहार भेजा है, वह परम्परा से सर्वथा भिन्न है। तद्‌विषयक पंक्तियाँ यों हैं—पीतपट नंद दयो, जसुमति नवनीत नयो, कीरति कुमारी सुखारी दई बाँसुरी।

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने उद्धव शतक पर अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है—"कवित्त शैली में कुछ नवीन उदभावनाओं के साथ 'उद्धव-शतक' प्रस्तुत करके रत्नाकर ने अपनी कवित्व शक्ति का सच्चा परिचय तो दिया ही, लाक्षणिक प्रयोगों और व्यंजक विधि की कसावट से भाषा-शक्ति का भी पूरा प्रमाण उपस्थित किया। रत्नाकर के उद्धव शतक जैसी रचना पुनः देखने को नहीं मिली। सत्य तो यह है कि इसमें नंददास की सुष्ठु पद योजना पद्माकर के कवित्तों का नाद-सौन्दर्य और लयात्मकता, घनानंद की लाक्षणिकता, बिहारी की भाषा की समाहर शक्ति और देव की दूरारूढ़ कल्पना का अद्‌भुत संयोग हुआ है। वे आधुनिक ब्रजभाषा काव्य के एक चतुर शिल्पी और असाधारण कलाकार के रूप में अभिहित किये जाते हैं।

भ्रमरगीत की रचना द्वारा पं० सत्यनारायण कविरत्न ने देश-प्रेम की सच्ची व्यंजना की है। यह रचना सामयिक संदर्भों से रंजित है। इसमें उद्धव-गोपी सम्वाद की पद्धति नहीं अपनायी गयी, बल्कि इसमें यशोदा के माध्यम से मातृभूमि की पीड़ा और उसकी दुर्दशा का बड़ा सजीव

और मार्मिक चित्रण किया गया है। यही नहीं, अतीत की मधुर स्मृति में खोया हुआ कवि उजड़े हुए ब्रज को देखकर रो पड़ता है, उसके विषाद की धारा मानस से फूट पड़ती है और वह कह उठता है कि "जहाँ एक दिन कन्हैया गोपियों के साथ बिहार किया करते थे, आज वहीं काछी-माली खेती कर रहे हैं। पहले जैसा वह वृन्दावन नहीं रह गया।"

सत्यनारायण जी ने नारी शिक्षा के अनादर का दुष्परिणाम अपनी आँखों से देखा था, अतः उन्होंने नारी शिक्षा का दृढ़तापूर्वक समर्थन किया है। उनकी दृष्टि में नारी शिक्षा का जो अनादर करते हैं वे सचमुच अनाड़ी पुरुष की श्रेणी में आते हैं। यशोदा द्वारा इसी तथ्य की व्यंजना इस छन्द में की गयी है—

"नारी-सिक्षा निरादरत जे लोग अनारी।
ते स्वदेस-अवनति-प्रचंड-पातक अधिकारी॥
निरखि हाल मेरो प्रथम, लेउ समुझि सब कोइ।
विद्या बल लहि मति परम अबला सबला होइ॥
—लखौ अजमाइ कै॥"

गोपियों ने श्रीकृष्ण के पास अपना संदेश भ्रमर के द्वारा भेजा और भ्रमर को दूत रूप में प्रस्तुत किया गया। इस कारण इस काव्य का नाम भ्रमरगीत रखा गया। रत्नाकर और सत्यनारायण के पश्चात जिन दो काव्य ग्रन्थों का नाम विशेषरूपेण उल्लेखनीय है वे हैं डॉ० 'रसाल' कृत 'उद्धव शतक' और डॉ० लक्ष्मीशंकर मिश्र 'निशंक' कृत 'श्याम संदेश'। रसालजी ने यद्यपि अपने उद्धव शतक में बहुवस्तुस्पर्शिणी प्रतिभा का परिचय दिया है, लेकिन पांडित्य से बोझिल इस रचना में रत्नाकर जैसी न तो सहजता मिलती है और न सरसता। हाँ, उक्ति वैलक्षण्य-प्रदर्शन की भोड़ी रुचि ने इसे कृत्रिमता और केशव-जैसी चमत्कारिवादिता की सीमा तक पहुँचा दिया। रत्नाकर जैसी लय और मृदुता भी इनके कवित्तों में नहीं मिलती।

'श्याम संदेश' में डॉ० निशंकजी ने निश्चय ही सामयिक संदर्भों का समावेश करके अपनी नूतन दृष्टि का परिचय दिया है। ब्रजभाषा काव्य-परम्परा में भ्रमरगीत की विविधता और नूतनता की ऐसी दृष्टि इसके विकासोन्मुखी प्रवृत्ति को सहज रूप में उजागर कर रही है।

ब्रजभाषा की परम्परा से भिन्न ख़ड़ीबोली में भी इस विषय को अग्रसर करने का श्रेय अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' और राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त को है। हरिऔध जी का प्रिय-प्रवास खड़ीबोली का प्रथम महाकाव्य है जिसमें संस्कृत को विविध वर्ण-वृत्तों के द्वारा इस दिशा में चमत्कारिक और विस्मयकारी प्रयोग किया गया था। इस महाकाव्य में सर्वप्रथम राधा को लोक और समाज सेविका के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इस काव्य में श्रीकृष्ण के हृदय में ब्रजवासियों के प्रति मधुर स्मृतियाँ जागृत की गयी हैं। इन स्मृतियों से श्रीकृष्ण का भावुक हृदय वियोग-व्यथा से पीड़ित हो गया। इसमें गोपियों ने भ्रमर का प्रयोग न करके स्पष्टतया उद्धव शब्द का प्रयोग किया है। लोक-सेविका राधा का एक चित्र इस प्रकार है—

मै ऐसी हूँ न निज दुख कष्टिता शोक-मग्ना।
हा, जैसी हूँ व्यथित ब्रज के वासियों के दुखों से॥

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने भ्रमरगीत की प्रसंगोद्‌भावना अपनी प्रसिद्ध कृति 'द्वापर' में की है। इसमें भ्रमरगीत-विषयक सभी पारम्परिक दृष्टि का उपयोग-विनियोग हुआ है, किन्तु

गुप्तजी की मौलिक दृष्टि का दर्शन गोपियों की मनोव्यथा और उनके वियोग-ताप में होता है। यही नहीं, गुप्तजी ने गोपियों की स्पष्टवादिता के साथ उनकी विनयशीलता का भी निरूपण द्वापर में किया है। वे उद्धव के ज्ञानयोग से अपने वियोग को उत्तम समझती हैं—

ज्ञान योग से हमें हमारा यही वियोग भला है।
जिसमें आकृति, प्रकृत, रूप-गुण, नाट्य कवित्त कला है॥

इस प्रकार के विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि भ्रमरगीत की परम्परा अपने उद्‌भव काल से लेकर विकास काल तक कितने मोड़ों से गुजरी है और आज भी यह परम्परा रत्नाकर के पश्चात् डॉ० रसाल, अमृतलाल चतुर्वेदी, गजेन्द्र चतुर्वेदी, डॉ० लक्ष्मीशंकर मिश्र 'निशंक' के मध्य पूर्णतया जीवित है और अपने समस्त बल-वेग के साथ स्पंदित है।

□□□

2. भ्रमरगीत में दर्शन और भक्ति

सूर के भ्रमरगीत में भक्तितत्व और दार्शनिकता का अद्‌भुत मणि-कांचन संयोग हुआ है। वस्तुतः बल्लभाचार्य ने अपने दार्शनिक सिद्धान्तों के अन्तर्गत बुद्धि और हृदय के सामंजस्य पर अधिक बल दिया। क्योंकि मनुष्यत्व की पूर्ण अभिव्यक्ति रागात्मिक वृत्ति और बोधवृत्ति दोनों के मेल में है। अतः इन दोनों में किसी भी वृत्ति का निषेध उचित नहीं। देखा गया है कि इन दोनों वृत्तियों में कभी किसी तत्वज्ञ का झुकाव हृदय-पक्ष की ओर हुआ और किसी का बोधवृत्ति या बुद्धि-पक्ष की ओर। आचार्य वल्लभ ने इन दोनों के एकीकरण को महत्वपूर्ण समझा। कहने का सारांश यह है कि वल्लभाचार्य जहाँ एक ओर दार्शनिक दृष्टि से वेदान्त मार्ग के अनुयायी थे, वही भक्ति के क्षेत्र में प्रेमोपासना के पूर्ण अनुगत कवि थे।

वल्लभाचार्य जी का सिद्धान्त दार्शनिक दृष्टि से शुद्धाद्वैत कहा जाता है। वे वेदान्त के अद्वैतवाद के समर्थक अवश्य थे, किन्तु रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत से उनका सिद्धान्त इस अर्थ में भिन्नता रखता था कि ब्रह्म सत्, चित और आनन्द तीनों गुणों से युक्त है। वह केवल चित और अचित मात्र नहीं है। वल्लभ ने यह निरूपित किया कि ब्रह्म अपने इच्छानुसार सत चित और आनन्द तीनों स्वरूपों का आविर्भाव और तिरोभाव करता रहता है। उनके अनुसार जड़ जगत भी ब्रह्म ही है। हाँ, उसमें उसने अपने चित और आनन्द स्वरूप का तिरोधान कर रखा है। इस सिद्धान्त के अनुसार जगन्मिथ्या की धारणा निराधार है। क्योंकि मायारूपी जगत ब्रह्म का ही रूप है और माया भगवान की शक्ति के रूप में अभिहित की गयी है। वास्तव में जीव शुद्ध ब्रह्म स्वरूप को तभी प्राप्त कर पाता है जब आविर्भाव और तिरोभाव मिट जाता है अर्थात् सत, चित और आनन्द जब एक हो जाते हैं तो जीव शुद्ध ब्रह्म रूप हो जाता है। आविर्भाव और तिरोभाव तभी नष्ट नहीं हो सकता है जब जीव को ईश्वर का अनुग्रह प्राप्त हो। इस अनुग्रह को ही पुष्टि या पोषण कहा गया है। इसी पुष्टि को दृष्टि में रखकर भक्ति के क्षेत्र में वल्लभाचार्य ने पुष्टि मार्ग चलाया और इस मार्ग की उपासना-पद्धति को पुष्टिमार्गी भक्ति की अमिधा दी गयी। सूरदास वल्लभाचार्य के शिष्य होने के कारण इसी पुष्टिमार्गी भक्ति के अनुगत थे।[1]

भ्रमरगीत के अन्तर्गत उद्धव ने संसार में व्याप्त ब्रह्म की जिस सत्ता का विरोध किया और ब्रह्म के जिस सगुण रूप का अपने सिद्धान्तों के अन्तर्गत निषेध किया, गोपियों ने उसका डटकर विरोध किया और कहा कि—

सुनिहै कथा कौन निर्गुन की, रचि पचि बात बनावत।
सगुन सुमेरु प्रगट देखियत, तुम तृन की ओट दुरावत॥

गोपियाँ उस निर्गुण ब्रह्म पर विश्वास नहीं करतीं जिसका स्वरूप कभी व्यक्त नहीं होता। वे बड़ी दृढ़ता के साथ उद्धव से पूछती हैं—

1. भ्रमरगीत सार की भूमिका—आचार्य शुक्ल, पृ० 73-74

रूप न रेख, बरन जाके नहिं ताको हमैं बतावत।
अपनी कहौ, दरस वैसे को तुम कबहूँ हौ पावत?
मुरली अधर धरत है सो पुनि गोधन बन-बन चारत?

वल्लभाचार्य के अनुसार जड़-चेतन जगत और जीव सभी उस विराट् सत्ता के अंश हैं—'प्रकृति पुरुष श्रीपति नारायण, सब हैं अंस गोपाल'।

वल्लभाचार्य ने भगवान के तीन रूपों पर विचार किया है—रसावतार पूर्ण पुरुषोत्तम परब्रह्म श्रीकृष्ण, पूर्ण-पुरुषोत्तम अक्षर ब्रह्म तथा अन्तर्यामी ब्रह्म। सूर ने ब्रह्म के इन तीनों रूपों का संकेत किया है और उनकी धारणा है कि जब-जब भक्तों पर संकट आता है यही ब्रह्म—जिसे वेद और उपनिषद नेति-नेति कह कर पुकारते हैं—सगुण रूप धारण करके उनके संकट को दूर करता है—

वेद उपनिषद जासु को निरगुनहिं बतावैं।
भक्त बछ्छल भगवान धरे तन भक्तनि के बस॥

सूर के भ्रमरगीत में ज्ञान पर भक्ति और प्रेम की विजय की घोषणा की गई है। सूर ने जगत की रमणीयता और उसकी दिव्य विभूतियों को स्वीकार किया है, किन्तु योग-साधना के उस स्वरूप का इन्होंने खुलकर विरोध किया है जिसमें हृदय की रागात्मक वृत्तियों के लिए कोई स्थान नहीं है। गोपियाँ उस निर्गुण ब्रह्म का उपहास करती हैं जिसमें सगुण की रसमयता और दिव्यता का पूर्ण अभाव है। उपासना की इस पद्धति से ऊब कर वे उद्धव से व्यंग्य भरे शब्दों में पूछती हैं—

निर्गुन कौन देस को वासी ?
मधुकर ! हँसि समुझाय, सौंह दे बूझति साँच न हाँसी॥

सूर की भक्ति का निरूपण करने वाले आलोचकों ने मुख्यतया उसमें चार प्रकार के भाव बताये हैं—दास्य, वात्सल्य, सख्य तथा दाम्पत्य। किन्तु विशुद्ध भक्ति की दृष्टि से किसी ने वात्सल्य भाव को वरीयता दी, किसी ने सख्य एवं दाम्पत्य भाव को तो किसी ने दास्यभाव को ही श्रेष्ठ माना। सम्प्रति सूरसागर में लगभग पाँच हजार पद मिलते हैं। यदि इन पदों को उक्त भक्ति-भावों की दृष्टि से विचार करें तो दास्य भाव के पद लगभग तीन सौ, बाल तथा साख्य भाव के लगभग चार-चार सौ पद, शेष चार सौ पद अन्य विषयों के मिलते हैं। किन्तु दाम्पत्य भाव के लगभग साढ़े तीन हजार पद मिलते हैं जिनमें मिलन और वियोग दोनों ही अवस्थाओं के पद समानरूपेण प्राप्त हैं। इस प्रकार के आँकड़ों से स्वतः सिद्ध है कि सूर की प्रतिभा का सर्वाधिक उन्मेष दाम्पत्य के पदों में हुआ। सच तो यह है कि जिस प्रेमलक्षणा भक्ति का उल्लेख किया जाता है उस भक्ति को आधार बना कर सूर ने कान्ताभाव या माधुर्यभाव की रचनाओं में जितनी गहराई और सहृदयता का परिचय दिया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। कुछ विद्वानों के अनुसार यही भाव सूर को अधिक प्रिय था और यही भाव सूर की भक्ति का सर्वाधिक प्रतिनिधित्व भी करता है।[1]

वस्तुतः माधुर्यभाव की दृढ़ आधारभूत शिला प्रेमलक्षणा भक्ति है जिसे वल्लभाचार्य ने पुष्टिमार्गीय भक्ति की संज्ञा दी है। और इस भाव का विकास सूरसागर में प्रारम्भ से ही होता रहा; यथा—आँगन में क्रीड़ा करने वाले बाल कृष्ण और माखन चोरी के पहले पद में ही माधुर्य

1. सूर नवनीत : पं० उमाशंकर शुक्ल, भूमिका भाग, पृ० 11

भाव का सूर ने जिस ढंग से बीजारोपण किया है, वे निश्चय ही विस्मयकारी हैं। तद्विषयक पद देखें—

मैं देख्यो जसुदा के नंदन खेलत आँगन बारौ री।
ततछन प्रान पलटि गयौ मेरौ, तन-मन ह्वै गयौ कारौ री॥
देखत आनि सँच्यौ उर अंतर, दै पलकनि कौ तारौ री।
मोहि भ्रम भयौ सखी उर अपनैं चहुँ दिसि भयो उज्यारौ री॥

भ्रमरगीत में गोपियों की जिस भक्ति का संकेत मिलता है, वह रागानुगा भक्ति कही गयी हैं। इस भक्ति में भक्त चारों ओर से अपने चित्त को हटा कर एक मात्र भगवान में केन्द्रीभूत करना चाहता है। इस संबंध में भक्ति रसामृत सिन्धु के अन्तर्गत श्री रूप गोस्वामी ने भक्ति के दो भेद किये हैं—

(1) गौणी (2) परा। पराभक्ति सर्वोच्च कोटि की और सिद्धावस्था की सूचक है। गौणी भक्ति दो प्रकार की है—(1) वैधी (2) रागानुगा। वैधी भक्ति में शास्त्रानुमोदित विधि-निषेध का पालन अनिवार्य है, किन्तु रागानुगा भक्ति भावना राग अथवा प्रेम पर अवलंबित है।[1]

लगता है कि भ्रमरगीत में जिस रागानुगा या प्रेम लक्षणा भक्ति का प्राधान्य है, उसे गोपियों ने शनै-शनैः प्राप्त किया था अर्थात् वात्सल्य से ही उसके विकास का क्रम बनता रहा और वात्सल्य-सख्य की सीढ़ियों पर चढ़कर ही गोपियों ने माधुर्य भाव के अंतिम सोपान को प्राप्त किया। रागानुगा भक्ति में वैधी की भाँति मर्यादा का आग्रह नहीं होता। भगवान् की कृपा पर ही यह आश्रित है। भगवान का अनुग्रह ही इसका पोषण करता है—वल्लभाचार्य ने इसी से इसे पुष्टिमार्गीय भक्ति कहा। गोपियाँ श्रीकृष्ण से अपना सच्चा प्रेम-सम्बन्ध बनाये रखने के लिए गुरुजनों, पतियों और माता-पिता की मर्यादा का भी ध्यान नहीं रखती—

हम अलि गोकुलनाथ अराध्यो।
मन, बच, क्रम हरि सों धरि, पतिव्रत प्रेमयोग तप साध्यो॥
मातु-पिता-हित प्रीति निगम पथ तजि दुख-सुख-भ्रम नाख्यो।
मान अपमान परम परितोषी अस्थिर थित मन राख्यो॥

यह परम आश्चर्य है कि सूर ने वल्लभाचार्य से दीक्षा लेने के पूर्व जिस दास्य भाव की भक्ति को अपनाया था, वह किस प्रकार वल्लभाचार्य से दीक्षा लेने पर वात्सल्य और सख्य से कान्ताभाव में परिवर्तित हो गयी। गोपियों में श्रीकृष्ण के प्रति जो अनन्यता, आत्मसमर्पण और विनयशीलता मिलती है, उसका मूल कारण दास्यभाव की भक्ति का प्रभाव है। भ्रमरगीत में गोपियों की जिस भक्ति भाव की व्यंजना हुई है, उसमें उनके प्रेम की सात्विकता अन्तर्हित है। गोपियाँ श्रीकृष्ण के प्रति अपने सात्विक प्रेम-योग की साधना कथमपि त्यागना नहीं चाहतीं। वे इसके लिए कलंक या अपयश की भी परवाह नहीं करतीं। प्रेम लक्षणा भक्ति में मर्यादा की अनिवार्यता पर बल दिया भी नहीं गया। इस सम्बन्ध में गोपियों का कथन है—

पीतध्वजा उनके पीताम्बर, लाल ध्वजा कुब्जा व्याभिचारी,
सत की ध्वजा सेत ब्रज ऊपर अजस हेत, ऊधो पै प्यारी।

□□□

1. भारतीय-साधना और सूर साहित्य-डॉ० मुंशीराम शर्मा, पृ० 124

3. सूर के वियोग-वर्णन की विशेषताएँ

सूरदास वात्सल्य और शृंगार के सम्राट माने गये हैं। किन्तु वात्सल्य की तुलना में सूर की रागात्मकता का उन्मेष शृंगार के व्यापक धरातल पर हुआ है। सूर संयोग के मधुर और आह्लाद पक्ष के निरूपण में जितने कुशल माने गये हैं, उससे अधिक वे मार्मिक और कौशलपूर्ण वियोग के वर्णन में सिद्धहस्त कहे गये हैं।

वियोग या विप्रलम्भ शृंगार के शास्त्रकारों ने चार अंग माने हैं—

(1) पूर्वराग (2) मान (3) प्रवास (4) करुण।

इन चारों अंगों से संपुष्ट होने के कारण विप्रलम्भ शृंगार की व्यापकता और प्रभाव अन्य रसों की तुलना में अधिक है। स्थूल रूप में सूर के वियोग-वर्णन को दो भागों में विभाजित किया गया है—

1. वात्सल्य का वियोग-पक्ष ; 2. दाम्पत्य का वियोग-पक्ष

वात्सल्य के वियोग पक्ष के अन्तर्गत यशोदा और नन्द की मानसिक पीड़ा का विवेचन किया गया है और दाम्पत्य वियोग पक्ष के अन्तर्गत राधा और गोपियों की मनोव्यथा और विषाद की मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है। वस्तुतः वियोग का आरंभ वात्सल्य के वियोग-पक्ष से हुआ है। श्रीकृष्ण जब अक्रूर के साथ मथुरा चले गये और अतिशय प्रतीक्षा के अनन्तर नहीं लौटे तो यशोदा दुखित मन से अपने पति नंद को फटकारती हुई कहने लगी—

'छाँड़ि सनेह चले मथुरा, कत दौरि न चीर गह्यो।

यशोदा की बातों को सुन कर नंद ने उनका मुँहतोड़ उत्तर इस प्रकार दिया—

तब तू मारिबोई करति।
रिसनि आगे कहै जो आवत अब लै भांडे भरति॥

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने नंद की इस झुँझलाहट को प्रेम-भाव के अन्तर्गत रखा है। दाम्पत्य के वियोग पक्ष के अन्तर्गत मथुरा-प्रवास गोपियों की विरहानुभूति, उद्धव का ब्रज में आगमन तथा भ्रमर गीत प्रसंग का उल्लेख किया जाता है।

वियोग के जिस व्यापक चित्रपटी पर सूर ने प्रेमवृत्तियों के विभिन्न वर्णी चित्रों को उरेहा है, वह अपने आप में बेजोड़ और अप्रतिम है। श्रीकृष्ण के मथुरा-प्रवास के अनन्तर ब्रजमंडल के हृदय विदारक परिवेश के सूक्ष्म अंकन में सूर ने अपनी प्रतिभा प्रगल्भता का जैसा परिचय दिया है और काव्य के माध्यम से प्रेम-व्यंजना के उत्कर्ष को जैसा बहुआयामी रूप प्रदान किया है, वह हिन्दी-साहित्य के बहुत से कवियों के लिए विरल है।

वास्तव में सूर के वियोग-वर्णन की कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जिनके आधार पर यह स्पष्टतया कहा जा सकता है कि इस दिशा में सूर अकेले हैं। उनके वियोग-वर्णन के कतिपय

महत्वपूर्ण पहलुओं पर विचार करते समय निम्नलिखित विशेषताएँ देखने को मिलती हैं—

(1) प्रेम व्यंजना की विविधता,

(2) मानवेतर वस्तुओं का समावेश,

(3) व्यंग्यगर्भित उक्तियों की सशक्त अभिव्यक्ति।

सूर ने वियोग के अन्तर्गत प्रेम-व्यंजना की अनेकरूपता का चित्रण और उसकी गहराई का निरूपण बड़ी तन्मयता और बहुत ही सूझ-बूझ के साथ किया है। सूर का वियोग-वर्णन एक देशीयता का ज्ञापन नहीं करता अपितु इसमें गोपियों की मनोदशा और उनके अक्षय प्रेम के स्रोत को एक व्यापक धरातल पर प्रवाहित करने की असाधारण चेष्टा की गयी है। वस्तुतः वियोग में प्रेम का प्रवाह अधिक तीव्र और उत्कट अवस्था को प्राप्त होता है। सूर को यह पूर्ण विश्वास था कि विरह से भी प्रेमोद्रेक में पूर्ण सहायता मिलती है तभी तो गोपियों के माध्यम से एक स्थल पर उन्होंने कहा है—

ऊधो बिरहौ प्रेम करै।
ज्यों बिनु पुट पट गहै न रंगहि, पुट गहे रसहि परै॥
जौ आवौं घट दहत अनल तनु तौ पुनि अमिय भरै।

मनः स्थितियों के सूक्ष्म पारखी मनोविज्ञानवेत्ता ही जान पाते हैं कि कभी-कभी प्रतिकूल स्थितियों की अपरिहार्यता पर जब दृष्टि जाती है तो लगता है कि इसी को अपनाने में ही कल्याण है। आचार्य शुक्ल ने इस स्थिति से उत्पन्न वृत्ति को आत्म-समाधान की अभिधा दी है। सूर ने भावों की अतल गहराई तक पहुँच कर जैसी छान-बीन की है, वह मात्र कथन का वैलक्षण्य नहीं है, मनोवैज्ञानिक सत्य भी है। इसी से सूर का वियोग-वर्णन शरीर की कृशता या वियोगजन्य ताप की नाप-जोख तक ही सीमित नहीं है, बल्कि उसमें प्रेम-वृत्तियों के अनन्त स्रोत फूटते रहते हैं जहाँ पहुँच कर सहृदय और भावुक जनों का मानस आनन्दमग्न हो जाता है।

वृन्दावन के जिस नैसर्गिक और स्वच्छन्द वातावरण में गोपियों और कृष्ण के परस्पर प्रेम का उदय हुआ था उसके उत्कर्ष और दीप्ति की सच्ची झलक वियोग में ही देखने को मिली। 'लरिकाई को प्रेम कहो अलि कैसे छूटे' में प्रेम के आकस्मिक उद्‌भव का संकेत मात्र नहीं है बल्कि प्रेम की उस वैकासिक स्थिति को सामने रखा गया है जहाँ प्रेम के स्थायित्व के सम्बन्ध में किसी प्रकार का प्रश्नवाचक चिह्न नहीं लगाया जा सकता।

प्रेम में त्याग-निष्ठा और आत्मोत्सर्ग की वृत्ति अत्यंत महत्वपूर्ण कही गयी है। वस्तुतः प्रेमियों के लिए यही सच्ची प्रेम-साधना या प्रेम-योग कहा गया है और यही जीवन का उत्सर्ग, तथा जीवन की सार्थकता माना गया है। प्रेमी इस स्थिति को प्राप्त करके प्रिय के न चाहने पर भी प्रिय के कल्याण और उसकी मंगल कामना में निरन्तर लगा रहता है और मन में मनाया करता है कि प्रेमी को एक काँटा भी न चुभे। इसीलिए गोपियाँ श्रीकृष्ण की मंगल-कामना से अभिभूत होकर कहती हैं—

ऊधो ! इतनी जाय कहौ।
सब बल्लभी कहति हरि सों 'ये दिन मधुपुरी रहौं'॥
आज कालि तुमहू देखत हौ तपत तरनि सम चंद।
सुंदर स्याम परम कोमल तनु क्यों सहिहैं नँद नंद।

प्रायः अपने दोषों की स्वीकृति से ही मन की कलुषिता धुल जाती है, हृदय प्रक्षालित हो जाता है। इसी से आत्म-ग्लानि या अपने दोषों को स्वीकार करने में जितना आत्मसन्तोष होता है, वह अन्य साधनों से नहीं। रीति साहित्य में कलहंतरिता नायिका की कल्पना आत्म-ग्लानि और स्वदोषों की स्वीकृति के आधार पर ही की गयी है। सूर ने भी वियोग के अन्तर्गत एक ऐसी ही अनाविल और पवित्र प्रेम व्यंजना के स्वरूप को सहृदय एवं संवेदनशील पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया है। राधा ने कृष्ण के साथ कभी दुर्व्यवहार किया था, आज श्रीकृष्ण के न रहने पर उसके स्मृति-पटल पर अतीत की सभी त्रुटियाँ और दुर्बलताएँ शनै-शनैः अंकित हो रही हैं—

मेरे मन इतनी सूल रही।
वै बतियाँ छतियाँ लिखि राखी जे नँदलाल कही॥
एक दिवस मेरे गृह आये, मैं ही मथति दही।
देखि तिन्हैं हौ मान कियो सो हरि गुसा गही॥

प्रेम-व्यंजना के उत्कर्ष-निरूपण में सूर ने शृंगारिक कवियों की भाँति वस्तु-व्यंजना या ऊहात्मक प्रवृत्तियों द्वारा खिलवाड़ करने की प्रायः चेष्टा नहीं की। शायद थोड़े से पद अपवाद-स्वरूप मिल जायँ, लेकिन अधिकांश विरहमूलक रचनाएँ हृदय की सरसता और अनुभूति की प्रभविष्णुता से परिपूर्ण हैं।

सूर के वियोग-वर्णन की अन्य महत्त्वपूर्ण विशेषता मानवेतर जगत या मानवेतर वस्तुओं के समावेश से सम्बन्धित है। प्रायः देखा जाता है कि जिसके मध्य या जिसके साथ हम रहते-रहते आत्मीय सम्बन्धों से जुड़ जाते हैं पुनः उसमें और हममें कोई अन्तर नहीं रह जाता। सूर की गोपियाँ भी वृन्दावन की नैसर्गिक छटा, कालिंदी के रम्य पुलिन, वृक्षों की हरीतिमा, लताओं के मंडप आदि से प्रारम्भ से ही जुड़ी रहीं और ये सब वस्तुएँ उनके जीवन के मेल में थीं। लेकिन आज श्रीकृष्ण के मथुरा चले जाने पर जीवन के मेल में रहने वाली ये वस्तुएँ उन्हें काटने दौड़ती हैं और लगता है कि उनका समस्त आकर्षण अब विकर्षण के रूप में परिवर्तित हो गया है। गोपियों की ऐसी मनःस्थिति में मधुबन की हरीतिमा कब आकर्षण पैदा कर सकती है। मधुबन को फटकारती हुई गोपियाँ इसी से कह उठती हैं—

मधुबन तुम कत रहत हरे !
विरह-वियोग स्याम सुंदर के ठाढ़े क्यों न जरे॥
तुम हो निलज, लाज नहिं तुमको फिर सिर पुहुप धरे।
ससा स्यार औ बन के पखेरू धिकृधिक सबन करे॥

यद्यपि वियोग के अन्तर्गत सूर ने भी प्राकृतिक व्यापारों का वर्णन उद्दीपन विभाव के ही अन्तर्गत किया है, परन्तु इन वर्णनों में भी सूर की नूतन कल्पना और अनुभूति की प्रभविष्णुता सराहनीय है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार सूर ने पावस ऋतु आदि विषयक जिन पदों की रचना की है, उनमें प्रस्तुत और अप्रस्तुत की अन्तर-रेखा मिट गई है। उनका कथन है—

"अपनी अन्तर्दशा को ऋतु सुलभ व्यापारों के बीच बिम्ब-प्रतिबिम्ब रूप में देखना भाव-मग्न अन्तःकरण की एक विशेषता है। इसके वर्णन में प्रस्तुत-अप्रस्तुत का भेद मिट जाता है।' उन्होंने इस सम्बन्ध में सूर के पावस-विषयक इस पद का संकेत किया है—

निसिदिन बरसत नैन हमारे।
सदा रहति पावस ऋतु हम पै जब तें स्याम सिधारे॥

सूर ने अपनी चित्र-विधायिनी कल्पना-शक्ति का विनियोग गोपियों के विरहोन्माद की दशा में ऐसे ढंग से किया है कि लगता है उनकी दृष्टि प्रकृति के इन व्यापारों के सूक्ष्म निरीक्षण में अधिक सजग और कुशल थी। इस संदर्भ में पावस का यह चित्र द्रष्टव्य है—

पिया बिनु साँपिनि कारी रात।
कबहुँ जामिनी होत जुन्हैया डसि उलटी ह्वै जात॥

वर्षा में बादलों के हट जाने से चाँदनी का जो चित्र नेत्रों के समक्ष आता है, वह डस कर पलट जाने वाली नागिन के चित्र को साकार कर देता है। इस प्रकार सूर ने काव्य की पुरानी रूढ़ियों के आधार पर जिन नवीन चित्रों की उद्‌भावना की है वे चित्र सर्वथा मर्मस्पर्शी और परम्परा अभुक्त हैं।

सूर की दृष्टि केवल प्रकृति व्यापारों तक ही सीमित नहीं रही, बल्कि वह पशु-जगत तक अपनी पूरी दौड़ लगाती रही। जिस प्रकार राम के बन चले जाने पर गोस्वामी तुलसीदास ने स्वगीतावली में राम के घोड़ों की अन्तर्दशा का बहुत ही मार्मिक वर्णन किया है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण के वियोग में पछाड़ें खाकर गिरने वाली गायों की प्रकृति और उनकी मनोदशा का वर्णन सूर ने एक व्यापक धरातल पर किया है—

उधो ! इतनी कहियो जाय।
अति कृस गात भई हैं तुम बिनु बहुत दुखारी गाय॥
जल समूह बरसत अँखियन तें, हूँकति लीन्हें नाँव।
जहाँ-जहाँ गोदोहन कीन्हें ढूँढ़ति सोइ सोइ ठाँव॥

सूर ने वियोग के व्यापक परिप्रेक्ष्य में जड़ और चेतन को एक साथ लाकर खड़ा कर दिया और ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने जिन भाव-रंजित चित्रों को प्रस्तुत किया है उनके साथ उनके हृदय की रागात्मकता भी लिपटी चली आयी है।

कहा जाता है कि सूरदास जितने सहृदय और भावुक थे उतने ही वे वाणी की भंगिमा, व्यंग्योक्तियों और वक्रोक्ति विधान में भी निपुण थे। उनकी भावप्रेरित वक्रता और व्यंजना की सशक्त अभिव्यक्ति तीन संदर्भों में देखने को मिली है—

(1) कृष्ण के सन्दर्भ में;

(2) उद्धव के सन्दर्भ में,

(3) कुब्जा के सन्दर्भ में।

वास्तव में भ्रमरगीत एक उत्तम उपालम्भ काव्य माना जाता है; अतः वियोग की मार्मिक अनुभूतियों और संवेदना के प्रभावशाली रूपों से प्रेरित श्रीकृष्ण-उद्धव और कुब्जा के प्रति गोपियों ने जो उपालम्भ दिये हैं, उन्हें जिस प्रकार की खरी-खोटी बातें सुनाई हैं वे भ्रमरगीत के प्राणस्वरूप हैं। उन्हें निकाल देने पर समस्त भ्रमरगीत ऐसा लगेगा जैसे यह निष्प्राण हो गया।

यद्यपि समस्त भ्रमरगीत में इन्हीं तीनों के संदर्भ विशेषरूपेण देखने को मिले हैं, परन्तु कभी-कभी गोपियाँ अक्रूरजी को भी अपने व्यंग्य-वाणों का लक्ष्य बनाती हैं। इन तीनों की कभी

एक साथ कुत्सा करती हैं—उन पर व्यंग्य-वाणों की वर्षा करती हैं और कभी अलग-अलग इनकी खबर लेती हैं।

गोपियाँ सबसे अधिक असंतुष्ट एवं दुखित हैं श्रीकृष्ण के प्रति। उन्होंने तो मथुरा में जाते ही सारे प्रेम-सम्बन्धों के सूत्र को एकबारगी तोड़ दिया। श्रीकृष्ण की इस निष्ठुरता और हृदयहीनता से गोपियों का व्यथित मानस व्यंग्य और वक्रता का गंभीर सहारा लेता है। गोपियाँ इन तीनों के व्यवहार से तिलमिला उठती हैं और अपने अमर्ष भाव को व्यंग्य के आवरण में लपेट कर बड़ी चतुराई के साथ प्रस्तुत करती हैं। वे श्रीकृष्ण, उद्धव और अक्रूर तीनों के श्यामवर्ण की फब्तियाँ किस ढंग से पेश करती हैं, इसे इस पद में देखें—

बिलगि जनि मानहु ऊधो प्यारे !
वह मथुरु काजर की कोठरि जे आवहिं ते कारे ॥
तुम कारे सुफलक सुत कारे, कारे मधुप भँवारे।
तिनके संग अधिक छबि उपजत कमल नैन मनिआरे।
मानहु नील माट ते काढ़े लै जमुना ज्यों पखारे।
ता गुन स्याम भई कालिंदी सूर स्याम गुन न्यारे ॥

इन तीनों में मणिधारी कालानाग (अतिशय भयंकर सर्प) श्रीकृष्ण हैं, जिनके डसने से प्राणों की रक्षा की कोई आशा नहीं। प्रेम की विषमता की जैसी चौड़ी और विस्तृति भूमि सूर ने भ्रमरगीत में तैयार की उसके आधार पर गोपियों को बहुत कुछ श्रीकृष्ण के प्रति व्यंग्यगर्भित उक्ति के द्वारा सुनाने का अवसर मिला।

श्रीकृष्ण के श्याम वर्ण की व्यंजना में सूर की प्रतिभा अधिक रमी है और इतना सोच-सोच कर तद्विषयक उक्तियाँ इन्होंने गढ़ी है कि आश्चर्य होता है।

एक स्थल पर श्रीकृष्ण के श्यामवर्ण के सम्बन्ध में व्यंग्य की तीक्ष्णता से भरी वाणी का उपयोग गोपियों ने इस प्रकार किया है—

जाय कहौ बूझी कुसलात।
जाके ज्ञान न होय सो मानै कही तिहारी बात ॥
कारे नाम, रूप पुनि कारो, कारे अंग सखा सब गात।
जो पै भले होत कहुँ कारे तौ कत बदलि सुता लै जात ॥

कभी-कभी तो गोपियाँ श्रीकृष्ण की जातिगत संकीर्णता का भी संकेत करती हैं—

प्रेम निबाहि कहा वै जानैं साँचेई अहिराई।
सूरदास बिरहिनी बिकल मति कर मीजैं पछिताई ॥

गोपियाँ किस शालीनता और संयम के साथ भाव प्रेरित वचन वक्रता का प्रयोग इस पद में कर रही हैं, यह द्रष्टव्य है। वे परस्पर कह रही हैं कि तुम सब तो उन्हें ग्वाल कह कर पुकारती हो किन्तु वे तो मथुरा के राजा हैं, अतः वे यहाँ क्यों आवें ? क्योंकि यहाँ आने पर उनका अपमान होता है—

सखी री ! हरि आवैं केहि हेत ?
वै राजा तुम ग्वाल बुलावत यहै परेखो लेत ॥

अब सिर छत्र कनक मनि राजै, मोरचंद नहिं भावत।
सुनि ब्रजराज पीठि दै बैठत, जदुकुल बिरद बुलावत॥

x x x x x

भ्रमरगीत में व्यंग्य और वक्रता का और भी अधिक परिष्कृत रूप उद्धव के संदर्भ में मिलता है जिसमें निर्गुण ब्रह्म की काँट-छाँट बड़ी कुशलता से की गयी है। उद्धव के सम्बन्ध में गोपियों ने जिन व्यंग्योक्तियों को प्रयुक्त किया है, उनमें दो प्रमुख विशेषताएँ स्पष्टतया लक्षित होती हैं—

(1) चपल वृत्ति से प्रेरित व्यंग्य विनोद का प्रयोग तथा

(2) आक्रोश और अमर्ष भाव से प्रेरित व्यंग्य की तीक्ष्णता का प्रयोग।

चपल वृत्ति से प्रेरित गोपियाँ अपने व्यंग्य-विनोद के द्वारा उद्धव को खूब बनाती हैं। लगता है कि वे बहुत सहज और सरल ढंग से उन्हें समझा रही हैं, परन्तु इस सहजता और सरलता के मूल में अन्तर्हित अत्यंत तिरस्कृत वाच्य ध्वनि या विपरीत लक्षणा की करामात देखते ही बनता है। कभी तो वे यथार्थवादी दृष्टि को अपनाती हुई यह कह बैठती हैं—

जोग ठगौरी ब्रज न बिकैहैं

और कभी उद्धव की धूर्तता का प्रकटीकरण इन शब्दों में करती हैं—

आयो घोष बड़ो व्यापारी।
लादि खेप यह ज्ञान-जोग की ब्रज में आय उतारी॥
फाटक दैकर हाटक माँगत भारी निपट सुधारी।

x x x x

गोपियाँ उद्धव को एक भकुवा किस्म का व्यक्ति समझती हैं। क्योंकि उद्धव की निर्गुण-विषयक बातों को सुन कर वे आश्चर्य में पड़ जाती हैं। उन्हें विश्वास नहीं होता है कि यह संदेश श्रीकृष्ण ने भेजा है; अतः वे अनुमान लगाती हैं कि बेचारे उद्धव को बेवकूफ बनाने की दृष्टि से श्रीकृष्ण ने उनके पास यह संदेश भिजवाया है। और वे सब उद्धव से बड़ी जिज्ञासा के साथ प्रश्न करती हैं कि सच बताओ उद्धव! जब श्रीकृष्ण तुम्हें यहाँ भेजने लगे थे तो क्या कुछ मुस्कराये भी थे (इस मुस्कराने में जो व्यंजना है वह स्पष्ट बता रही है कि यह संदेश श्रीकृष्ण का नहीं है)—

ऊधो जाहु तुम्हैं हम जाने।
साँच कहौ तुमको अपनी सौं, बूझत बात निदाने॥
सूर स्याम जब तुम्हैं पठाये तब नेकहु मुस्काने।

x x x x

इस सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का यह कथन सुग्राह्य है। यह अनुमान या वितर्क रागात्मिका वृत्ति से सर्वथा निर्लिप्त शुद्ध बुद्धि की क्रिया नहीं है। 'संचारी गति' के समान यह भी भाव प्रेरित है, हृदय की रागद्वेष वृत्ति से सम्बन्ध रखता है।

उद्धव के सन्दर्भ में व्यंग्य विनोद का प्रस्फुटन वहाँ अधिक प्रभावशाली रूप में हुआ है जहाँ निर्गुण सिद्धान्त की असंगतियों के मेल में व्यावहारिक जीवन की संगतियाँ ठहर नहीं

पातीं। उद्धव व्यवहार और सिद्धान्त के सामंजस्य की चर्चा न करके जब अपना राग अलापने लगते हैं तो गोपियों को विवशता के साथ कहना पड़ता है—

अटपति बात तिहारी ऊधो सुनै सो ऐसी को है ?
हम अहीरि अबला सठ, मधुकर ! तिन्हैं जोग कैसे सोहै !
बूचिहि सुभी आँधरो काजर नकटी पहिरै बेसरि।
मुँडली पाटी पारन चाहै कोढ़ी अंगहि केसरि॥

१०१-६६

x x x x

ऐसा नहीं है कि गोपियाँ अमर्षजनित तीखे व्यंग्य का प्रयोग नहीं करतीं। आवश्यकता पड़ने पर उनकी संयत शब्दावली आवेग और झुँझलाहट की स्थिति में इस प्रकार परिवर्तित हो जाती है—

रहु रे मधुकर ! मधु मतवारे !
कहा करौं निर्गुन लै कै हौं जीवहु कान्ह हमारे॥
लोटत नीच पराग पंक में पचत न आपु सम्हारे।
बारम्बार सरक मदिरा की अपरस कहा उघारे॥

उद्धव के अतिरिक्त सूर ने कुब्जा-प्रसंग को अधिक सरस और मनोरंजक बनाने की चेष्टा की है। सूर के कथन की चातुरी और वचन विदग्धता का जैसा सुन्दर रूप इस संदर्भ में दिखाई पड़ा है, वह अन्य प्रसंगों में नहीं मिला। कुब्जा को सूर ने असूया संचारी का आधार बनाकर एक-से-एक वक्रोक्ति और व्यंजना के प्रभावशाली व्यापार को भलीभाँति अग्रसर करने का प्रयास किया है। कुब्जा के संदर्भ में श्रीकृष्ण को जिस कौशल के साथ जोड़ा है, वह सूर की बहुत बड़ी विशेषता के रूप में अभिहित होता है।

उद्धव जब निर्गुण सिद्धान्त का विश्लेषण करने लगे तो गोपियाँ उसे बीच में ही खंडित करके कहने लगीं कि ये सब बातें उस कूबड़ी ने गढ़ कर तैयार की है। इस संदेश को श्रीकृष्ण ने नहीं भेजा है—

मधुकर कान्ह कही नहिं होही।
यह तो नई सखी सिखई है निज अनुराग बरोही॥
सचि राखी कूबरी पीठ पै ये बातें चकचोही।

x x x x

कहीं-कहीं क्षुब्ध हृदय की भाव प्रेरित वक्रता और व्यंजना की करामात सारे संदर्भों को कितना सजीव और सप्राण बना देती है, इसे इस पद में देखें—

बरु वै कुब्जा भलो कियो।
सुनि सुनि समाचार, ऊधो ! मो कछुक सिरात हियो॥
जाको गुन, गति, नाम, रूप हरि हार्‌यो फिरि न दियो।
तिन अपनो मन हरत न जान्यो हँसि-हँसि लोग जियो॥

x x x x

'मो कछुक सिरात हियो' में अत्यंत तिरस्कृत वाच्यध्वनि का प्रयोग कितनी कुशलता से किया गया है।

गोपियाँ कुब्जा और श्रीकृष्ण की जोड़ी देखकर दुखित होती हैं और अपने-अपने भाग्य की बात पर विचार करती हैं। उनका कहना है कि यह भाग्य की ही बात है कि श्रीकृष्ण ने कुब्जा-जैसी बदसूरत को अपनी पटरानी बनाया और हमें वैराग्य की शिक्षा दे रहे हैं। वे इस बात से भी संतुष्ट हो जातीं यदि दोनों की जोड़ी ठीक-ठिकाने की होती—इस अनमेल सम्बन्ध को लेकर गोपियाँ अपनी व्यंजना वलित शब्दावली में कुब्जा और श्रीकृष्ण को कितना उछाल रही हैं, उसे इस पद में देखें—

बन्यो बनायो संग सखी री वै रे हंस, वै काग।
लौंड़ी के घर डौंड़ी बाजी, स्याम रंग अनुराग॥
हाँसी कमल नयन-संग खेलति बारहमासी फाग।

भ्रमरगीत में इस प्रकार की वक्रोक्ति और व्यंजना के न जाने कितने चमत्कार भरे पड़े हैं। इस प्रकार के विनोद, हास-परिहास और व्यंग्योक्तियों में विरह की मार्मिक अभिव्यक्ति भी हुई है। मर्माहत मानस केवल व्यंग्य-विनोद की ही धारा में ही नहीं बहता, बल्कि विषाद और आत्म पीड़ा का भी एक ऐसा प्रवाह गोपियों के अन्तक़रण में गतिशील रहता है, जहाँ इन व्यंग्योक्तियों को काफी बल मिलता है और वे हृदय पर सीधे चोट करती हैं। ऐसे उपहास और व्यंग्य के द्वारा कवि का अभीष्ट कोरा मनोरंजन नहीं है। इस विवेचना से स्पष्ट है कि सूर का वियोग-वर्णन अपनी व्यापकता और प्रभावशालिता में अद्वितीय और बेजोड़ है।

□□□

4. भ्रमरगीत में प्रकृति-वर्णन

हिन्दी-साहित्य में अधिकांश कवियों ने प्रकृति का वर्णन उद्दीपन विभाव की दृष्टि से किया है। संस्कृत वांङ्मय में बाल्मीकि और कालिदास जैसे सहृदय और भावुक कवियों ने प्रकृति की रमणीयता और उसके सूक्ष्म रूपों की गहराई में उतरने का जैसा प्रयत्न किया है, वैसा हिन्दी कवियों में लक्षित नहीं होता।

सूर के भ्रमरगीत में भी अधिकांश स्थल प्रकृति-चित्रण की दृष्टि से उद्दीपन विभाव के ही अन्तर्गत आते हैं। हाँ, रीति परम्परा का अनुसरण करने वाले कवि सेनापति के कुछ छन्द ऐसे अवश्य हैं जो प्रकृति के आलंबनगत चित्रण से सम्बद्ध हैं। उनके ऐसे वर्णन प्रकृति की रमणीयता के साथ ही जीवन की यथार्थता से भी जुड़े हुए हैं।

सूर की कविता में वृन्दावन की नैसर्गिक छटा, यमुना का मनोहर तट, कदम्ब की छाया और कुंजों का आकर्षण एक दिव्यानुभूति में सहृदय जन के मानस को सहज रूप से तन्मय अवश्य कर देते हैं, परन्तु वियोग और संयोग की छाया में पलने वाले ये प्राकृतिक सौन्दर्य सहजता का भावन नहीं करा पाते। ऐसा लगता है कि प्रकृति विरहिणियों की दासी है और उनके आदेश पर अपने सौन्दर्य का परिविस्तार करती है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भी सूर के प्राकृतिक सौन्दर्य-निरीक्षण से संतुष्ट नहीं हैं। उनके अनुसार सूरदास की दृष्टि बाह्य सौन्दर्य-निरूपण में बहुत परिमित थी। इस सम्बन्ध में वे कहते हैं—"बाह्य प्रकृति के सम्बन्ध में सूरदासजी की दृष्टि बहुत परिमित थी। एक तो ब्रज की गोचारण-भूमि के बाहर उन्होंने पैर ही नहीं निकाला; दूसरे उस भूमि का भी पूर्ण चित्र उन्होंने कहीं नहीं खींचा।"

—रसमीमांसा, पृष्ठ 33

ऋतु-वर्णन की दृष्टि से भ्रमरगीत में अधिकांश पद पावस से संबंधित हैं। इसका मूल कारण यह है कि वियोगिनियों को प्रियतम के बिना यह ऋतु बहुत कष्ट देती है। सूर ने पावस के निरूपण में अपनी सहज संवेदनशीलता का परिचय स्थल-स्थल पर दिया है। किन्तु भावना-रंजित पावस-विषयक जिन चित्रों की अवतारणा की गई है, वे प्रकृति की सुषमा से उतने सम्बद्ध नहीं हैं जितने विरहिणी की मानसिक दशा के प्रत्यक्षीकरण में सहायक हैं। अंग्रेजी में प्रकृति-चित्रण की इस पद्धति को संवेदन आरोप (Pathetic Fallacy) की संज्ञा दी गई है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसे अपनी शब्दावली में इस प्रकार कहा है—

अपनी अन्तर्दशा को ऋतु-सुलभ व्यापारों के बीच बिंब-प्रतिबिम्ब रूप में देखना भाव-मग्न अन्तःकरण की एक विशेषता है। इसके वर्णन में प्रस्तुत-अप्रस्तुत का भेद मिट जाता है। ऐसे वर्णन पावस के प्रसंग में सूर ने बहुत अच्छे किये हैं।

इस सम्बन्ध में उन्होंने सूर के अत्यधिक प्रचलित इस पद को उद्धृत किया है—

निसि दिन बरसत नैन हमारे।
सदा रहत पावस रितु हम पै जब तें स्याम सिधारे॥

कभी प्रकृति के व्यापारों को अपनी मानसिक दशा के मेल में रखने का स्तुत्य प्रयास किया गया है। जड़ प्रकृति में सजीव मानवीय गुणों के आरोप के कारण ऐसे प्राकृतिक चित्रों को मानवीकरण की भी संज्ञा दी जा सकती है। तद्विषयक यमुना का एक चित्र लें—

देखियत कालिंदी अति कारी।
कहियो, पथिक ! जाय हरि सों ज्यों भई विरह-जुर-जारी॥
मनो पलिका पर परी धरनि धँसि तरँग तलफ तनु भारी।
तट बारू उपचार-चूर, मनो, स्वेद-प्रवाह पनारी॥
बिगलित कच कुस कास पुलिन मनो पंक जु कज्जल सारी।
भ्रमर मनो मति भ्रमत चहूँ दिसि फिरति है अंग दुखारी॥
निसिदिन चकई व्याज बकत मुख किन मानहुँ अनुहारी।
सूरदास प्रभु जो जमुना-गति सो गति भई हमारी॥

वस्तु व्यंजना या ऊहात्मक प्रवृत्तियों से प्रेरित शृंगारिक कवियों ने प्रकृति के सौन्दर्य-निरूपण के संदर्भ में जैसा खिलवाड़ किया है, वैसा खिलवाड़ सूर ने नहीं किया। किन्तु अपवादस्वरूप कुछ रचनाएँ ऐसी मिली हैं जिनमें हृदय की संवेदना अपना प्रकृत स्वरूप खो बैठी है; यथा—

फूल बिनन नहिं जाउँ सखी री हरि बिनु कैसे बीनौ फूल।
सुन री, सखी ! मोहि रामदोहाई फूल लगत तिरसूल॥
वे जो देखियत राते राते फूलन फूली डार।
हरि बिनु फूल झार से लागत झरि-झरि परत अंगार॥
कैसे कै पनघट जाऊँ सखी री ! डोलौं सरिता तीर।
भरि-भरि जमुना उमड़ि चली है, इन नैनन के नीर॥
इन नैनन के नीर सखी री ! सेज भई धारनाउ।
चाहति हौं याही पै चढ़िकै स्याम-मिलन को जाउँ॥

x x x x

कभी गोपियाँ चन्द्रमा को देखकर अपना आक्रोश व्यक्त करती हैं, क्योंकि वियोग में चन्द्रमा का प्रकाश असह्य हो जाता है। वे अपनी सखी से कहती हैं कि तुम चन्द्रमा को मना क्यों नहीं कर देती; क्यों वह हमारे ऊपर क्रोध कर रहा है—

कोउ माई ! बरजै या चंदहि।
करत है कोप बहुत हम्ह ऊपर कुमुदिनि करत अनंदहि॥
कहाँ कुहू कहँ रबि अरु तमचुर, कहाँ बलाहक कारे।
चलत न चपल रहत रथ थकि करि बिरहिनि के तन जारे॥
निन्दति सैल, उदधि, पन्नग को, सापति कमठ कठोरहि।
देति असीस जरा देवी को, राहु केतु किन जोरहि॥

x x x x

ऐसे वर्णनों में काव्यरूढ़ियों और पौरणिक कथनों का ही रूप खड़ा होता है, प्रकृति के रम्य व्यापार सामने आने से रह जाते हैं। अच्छा हुआ कि सूरदास इस प्रकार के गोरखधंधे में अधिक नहीं फँसे।

उक्ति की रमणीयता यदि किसी मार्मिक प्रसंग से जुड़ जाती है तो उसकी सरसता और सुग्राह्यता के सम्बन्ध में संदेह नहीं किया जा सकता। प्रकृति-वर्णन के सम्बन्ध में सूर ने कुछ अच्छी उक्तियों का सहारा लिया है। ऐसी उक्तियों से सम्बद्ध रूढ़ि व्यापार भी मानवीय संवेदना को उद्‌बुद्ध करने में पूर्ण समर्थ सिद्ध होते हैं। उदाहरण के लिए इस उक्ति को लीजिए इसमें सखी वियोगिनी राधा को यह आभास ही नहीं करा पाती कि पावस ऋतु आ गयी है—

यदि बादल गरजता है तो वह कुशल मति सखी यह कहती है कि सिंह गरज रहा है और यदि बिजली चमकती है तो कहती है कि दावाग्नि पहाड़ों तक पहुँच गयी है, उसी की यह चमक है। क्योंकि हवा उसकी लपटों को इधर पलट कर प्रस्तुत कर रही है। जब मयूर, कोयल और मेढक बोलते हैं तो कहती है कि ग्वालमंडली अपने पालतू पक्षियों को खिला रही है उनके साथ मनोरंजन कर रही है—

बात बूझत यों बहरावति।
सुनहु स्याम ! वै सखी सयानी पावस ऋतु राधहिं न सुनावति॥
घन गरजत तौ कहत कुसलमति गूंजत गुहा सिंह समुझावति।
नहि दामिनि द्रुम-दवा सैल चढ़ि फिर बयारि उलटी झर लावति॥
नाहिं न मोर बकत पिक दादुर, ग्वाल मंडली खगन खिलावति।

x x x x

प्रकृति के इस प्रकार के वर्णन आलंकरिक पद्धति के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं। इस पद में सूर ने अपह्नुति अलंकार का चमत्कार प्रदर्शित किया है, लेकिन उक्ति भाव प्रेरित होने के कारण अत्यन्त अनूठी और हृदयग्राहिणी है। सूर ने पावस-विषयक प्रसंग के अन्तर्गत सांग रूपकों, उत्प्रेक्षा और उपमा का बहुत प्रयोग किया है। ऐसे प्रसंगों में सूर की चित्र विधायिनी कल्पना अधिक सजग और सतर्क रहती है। यद्यपि प्रकृति-चित्रण की यह अलंकारिक शैली बहुत रूढ़ हो चुकी है, परन्तु सत्कवियों के प्रयोग से इसमें कभी-कभी ताजगी और नवीनता की झलक देखने को मिलती है; यथा—वर्षा में चाँदनी पर बादलों के छा जाने और कभी बादलों को हटा कर चाँदनी के निकलने की कितनी मार्मिक और रमणीय उक्तियों को प्रदर्शित करने वाली कल्पना सूर के इस पद में देखने को मिलती है जिसमें रात्रि को एक सर्पिणी से उपमित किया गया है जो डस कर शीघ्रता से पलट जाती है, और पलटने पर उसके नीचे का श्वेत अंग चाँदनी की भाँति दिखाई देने लगता है—

पिया बिनु साँपिनि कारी रात।
कबहुँ जामिनी होत जुन्हैया डसि उलटी ह्वै जात॥

कभी-कभी आकाश में दौड़ लगाने वाले काले-काले बादलों को देखकर गोपियाँ अनुमान करती है कि ये कामदेव के उन्मत्त हाथी हैं जिन्होंने बलपूर्वक अपने बन्धनों को तोड़ डाला है—वे अब इतने उद्दण्ड और शरारती हो गए हैं कि पवन रूपी महावत का भी नियंत्रण स्वीकार नहीं करते—

देखियत चहुँदिसि ते घन घोरे।
मानो मत्त मदन के हथियन बल करि बंधन तोरे॥

इसमें सांगरूपक की अच्छी योजना है।

कभी वे पपीहा को पिय-पिय की रट लगाते देखकर अपनी मानसिक दशा के सर्वथा अनुरूप पाती हैं और सहानुभूति की दृष्टि से कहने लगती हैं—

बहुत दिन जीवौ, पपीहा प्यारे !
बासर रैनि नाँव लै बोलत, भयो बिरह-जुर कारो ॥
आपु दुखित पर दुखित जानि जिय चातक नाम तिहारो ।

x x x x

गोपियाँ पावस काल के जिन बादलों को देखकर भयभीत हो जाती थीं उन्हीं को जब रूप-साम्य के कारण श्रीकृष्ण के सौन्दर्य के तुल्य समझने लगती हैं तो उनकी मधुर स्मृतियाँ आनंद की एक अखण्ड धारा प्रवाहित कर देती हैं—

आज धनस्याम की अनुहारि ।
उनै आये साँवरे ते सजनी ! देखि, रूप की आरि ॥
इन्द्र धनुष मनो नवल बसन छबि दामिनि दसन बिचारि ।

x x x x

गोपियों को श्रीकृष्ण के वियोग में जहाँ मधुबन काटने दौड़ता है और उसकी हरीतिमा और पुष्प अप्रिय प्रतीत होते हैं, वहीं कोकिल की भी मधुर वाणी उन्हें अरुचिकर लगती है। वे कोकिल से कहती हैं कि यहाँ तुम्हारी वाणी कौन सुन रहा है और तुम किसे सुना रही हो ? तू यहाँ से उड़ जा और अपनी मधुर वाणी श्रीकृष्ण को सुना। वे ही सुनेंगे। यहाँ तुम अपनी वाणी द्वारा किसे रिझा रही हो ?

जौ तू नेकहू उड़ि जाहि ।
बिबिध बचन सुनाय बानी यहाँ रिझवत काहि ॥
पतित मुख पिक परुष पसु लौं कहा इतो रिसाहि ।
नाहिनै कोउ सुनत समुझत बिकल बिरहिनि थाहि ॥

x x x x

कहने का तात्पर्य यह है कि सूर ने वियोग और संयोग दोनों ही प्रसंगों में प्रकृति को इतनी दृढ़ता से जोड़ रखा है कि प्रकृति वहाँ से निकल ही नहीं पाती। प्रकृति के जितने उपादान हैं—वे चाहे जड़ हों या चेतन—सभी गोपियों के सुख-दुःख, आशा-आह्लाद को लेकर चलते हैं और उसी में सपिंडित हैं। यदि प्रकृति के उन्मुक्त रूपों की अभिव्यंजना हुई होती तो सूर की सहृदयता और रागात्मकता का मूल्य अपेक्षाकृत बढ़ जाता और वे इस दिशा में सर्वोपरि माने जाते। परन्तु परवर्ती संस्कृत साहित्य में प्रकृति-वर्णन विषयक जिन रूढ़ियों और कृत्रिम रूपों का समावेश हुआ, उनसे हिन्दी के मध्यकालीन कवि भी बच नहीं सके और प्रत्यक्षतः या परोक्षतः उन पर इनका अमिट प्रभाव है। फिर भी सूर ने चाहे उद्दीपन विभाव की दृष्टि से प्रकृति का वर्णन किया हो अथवा आलंकारिक शैली में—वे इस दिशा में अन्यान्य कवियों की तुलना में निश्चय ही एक महान सजग और सिद्धहस्त कवि-कलाकार हैं।

□□□

5. भ्रमरगीत में सूर की कलात्मक दृष्टि

सूर की कलात्मक दृष्टि पर विचार करते हुए किसी अनामधारी सूक्तिकार ने लिखा था—

उत्तम पद कवि गंग को, उपमा में बलवीर।
केसव अर्थ-गँभीर को, सूर तीन गुन धीर॥

इस दोहा का आशय यह है कि सूरदास की रचनाओं में गंग कवि की सुष्ठु पद-योजना (Diction) के गुण, बीरबल जो ब्रह्म नाम से कविता करते थे—की उपामाओं के गुण और केशव के अर्थ-गाम्भीर्य के गुण मिलते हैं। यहाँ यह विचारणीय है कि गंग का नाग तो कवियों और साहित्यरसिकों में चर्चित है, लेकिन बीरबल को कवि रूप में लोग प्रायः नहीं जानते। हाँ, यह अवश्य है कि पुराने संग्रह ग्रन्थों में बीरबल की रचनाएँ 'ब्रह्म' उपमान से मिलती हैं जिनमें कल्पना तत्व और आलंकरिक सौष्ठव की अधिकता है। इसमें सूक्तिकार ने सूर काव्य के बहिरंग पक्ष से सम्बन्धित तीन तत्वों पर विचार किया है—(1) भाषा सौष्ठव, (2) आलंकरिक योजना, (3) अर्थ-गाम्भीर्य अर्थात् दृष्टकूटों की क्लिष्ट कल्पना।

वास्तव में सूर और तुलसी जितने बड़े भावुक, संवेदनशील और गम्भीर भावानुभूतियों के धनी थे उसी कोटि के भाषा, अलंकार, वक्रता, ध्वनि आदि तत्वों के मर्मज्ञ भी थे। कहने का तात्पर्य यह है कि इन दोनों कवियों की वाणी में भाव और कला का समानरूपेण मणि-कांचन संयोग हुआ है। किन्तु जायसी में जहाँ भावानुभूति की प्रधानता और कलात्मक दृष्टि बहुत कुछ क्षीण है, वहीं केशव में भावानुभूति की जगह कलात्मक दृष्टि अधिक उभर कर आयी है।

अब हम सूर-काव्य के बहिरंग पक्ष के एक-एक तत्व के वैशिष्ट्य पर विचार करने का प्रयास करेंगे।

(क) सूर की भाषा—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सूर की भाषा पर विचार करते हुए लिखा है—यदि भाषा को लेकर देखते हैं तो वह ब्रज की चलती बोली होने पर भी एक साहित्यिक भाषा के रूप में मिलती है, जो अन्य प्रान्तों के कुछ प्रचलित शब्दों और प्रत्ययों के साथ ही साथ पुरानी काव्य-भाषा अपभ्रंश के शब्दों को लिये हुए है। सूर की भाषा बिल्कुल बोल-चाल की भाषा नहीं है। शुक्ल जी की सूर विषयक भाषा के संबंध में चार बातें हमारे सामने आती हैं—

(1) सूर की भाषा चलती ब्रजभाषा के साथ साहित्यिक है।

(2) अन्य प्रान्तों के प्रचलित शब्दों और प्रत्ययों का इसमें प्रयोग हुआ है।

(3) पुरानी काव्य भाषा अपभ्रंश के भी शब्द इसमें मिलते हैं।

(4) यह बिल्कुल बोल-चाल की भाषा नहीं है।

जो भी हो, यह तो सूर की भाषा के सामान्य स्वरूप की बात हुई, लेकिन सूर की भाषा और शैली सदैव विषयानुसार बदलती रही है; यथा—गोपी कृष्ण या राधा कृष्ण की संभाषण

शैली की भाषा में बोल-चाल के शब्दों की अधिकता मिलती है। लेकिन कवि जब राधा कृष्ण की रूप माधुरी का वर्णन करता है तो उसकी भाषा बोलचाल की भाषा न रहकर अलंकृत और तत्सम शब्द प्रधान भाषा हो जाती है। इसी प्रकार जब वह कूट शैली की रचना करता है तो उसमें सामान्य और परिष्कृत दोनों प्रकार के शब्दों का प्रयोग करता है, परन्तु भ्रमरगीत जैसे प्रसंगों की अवतारणा करते समय सूर की भाषा प्रायः बिल्कुल बदल जाती है। इस प्रसंग के अन्तर्गत सूर की भाषा के तीन रूप स्पष्ट दिखाई देते हैं—

(1) मुहावरे एवं लोकोक्तिप्रधान भाषा,

(2) व्यंजना बलित वक्रताप्रधान भाषा,

(3) तत्सम शब्दप्रधान अलंकृत भाषा।

सूर की भाषा में मुहावरे और लोकोक्तियों के प्रयोग के कारण जैसी दीप्ति, प्रभावशालिता और मानस पर चोट करने वाली क्षमता मिलती है, वह बहुत से कवियों में विरल है।

मुहावरों एवं लोकोक्तियाँ किसी भी भाषा के प्राणस्वरूप हैं। इनसे भाषा की प्राणवत्ता और गंभीरता प्रायः बढ़ जाती है। सूर लोकजीवन की सहजता और सरलता से पूर्णतया अभिज्ञ थे और खूब जानते थे कि ग्रामीण स्त्रियाँ बात-बात पर चोट करने वाली लोकोक्तियों और सारे कथन को वक्रता प्रदान करने वाले मुहावरों के प्रयोग में नितान्त कुशल होती हैं। अतः इन सब अनुभव-प्रसूत सारी बातों का उपभोग विनियोग भ्रमरगीत जैसे प्रसंग के अन्तर्गत खुलकर किया गया है। सरल ग्राम बालाओं के हृदय से निकली मुहावरे एवं लोकाक्तियों से पूर्ण भाषा का नमूना लें—

(क) को ऐसी ठाली बैठी है तोसो मूड़ ख़पावै।

(ख) मूरी के पातन को केना को मुक्ताहल दैहें।

(ग) कहु षट्पद कैसे खइयत है हाथिन के संग गाड़े।
काकी भूख गई बयार मखि बिना दूध घृत माँड़े॥

(घ) तेरो कह्यो पवन को मुस भो।

(ङ) कत पटपर गोता मारत हौ निरे भूड़ के खेत॥

इस प्रकार के मुहावरों और लोकोक्तियों के प्रयोग में देखा यह गया है कि इसमें ब्रज के प्रचलित और देशज प्रयोग के साथ ही बुंदेलखण्डी, अवधी आदि क्षेत्रों में प्रचलित शब्दावली भी अपनायी गयी है; यथा—किसी वस्तु के बदले में जो वस्तु दी जाती है उसे बुंदेलखण्ड में 'केना' कहा जाता है। यह प्रयोग एक स्थान तक ही सीमित है, परन्तु ब्रजभाषा उस काल में इतनी व्यापक हो चुकी थी कि वह मात्र ब्रज प्रदेश की ही भाषा नहीं रह गयी थी उसकी लहर अन्यत्र भी दिखाई पड़ती थी। इसी से आचार्य भिखारी दास को कहना पड़ा कि "ब्रजभाषा हेतु ब्रजवास ही न अनुमानो, ऐसे-ऐसे कबिन की बानीहू से जानिये"। इसी प्रकार सूर ने भ्रमरगीत में 'दिनाई' शब्द का भी प्रयोग किया है, जिसका अर्थ विष प्रयोग की वस्तु होती है। यह भी बुन्देलखंडी प्रयोग है।

सूर के भ्रमरगीत की भाषा की दूसरी महत्वपूर्ण विशेषता है—व्यंजना वलित शब्दावली का प्रयोग। भ्रमरगीत में स्थल-स्थल पर गोपियों का जो व्यंग्यपूर्ण कथन देखने को मिलता है, उसमें हृदय पर करारी चोट करने वाली प्रभविष्णुता मौजूद रहती है। उद्धव जैसे ज्ञानी भी

गोपियों की ऐसी अकाट्य शब्दावली के आगे ठहर नहीं पाते। सूर ने कथन की ऐसी वक्रता और व्यंजना के ऐसे अनूठे प्रयोग किये हैं जिन्हें देखकर सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि वे भाषा की वास्तविक नाड़ी को पहचानते थे। किस संदर्भ में किस प्रकार की भाषा का प्रयोग किया जाना चाहिए, इससे वे पूर्णतया परिचित थे। उनकी व्यंग्यगर्भित भाषा का यह नमूना लें—

उर में माखन चोर गड़े।
अब कैसेहूँ निकसत नाहीं तिरछे ह्वै जो अड़े।

इसमें प्रयुक्त 'गड़े' शब्द का अर्थ लक्षणा से होगा स्थान बनाना, समा जाना और इस लक्षणा से व्यंजित कवि के कथन का संकेत श्रीकृष्ण के त्रिभंगी रूप की उपासना या उस रूप के प्रति हृदय की आसक्ति से है। जो वस्तु तीन जगह से टेढ़ी है (त्रिभंगी है) वह भला कैसे निकल सकती है ? कभी सूर अपने सरल शब्दों के द्वारा ऐसे व्यंग्य का रूप खड़ा कर देते हैं कि पढ़ने वाला चकित रह जाता है। वह व्यंग्य की गहराई को जब समझता है तो सूर की कला की श्लाघा करने लगता है। एक नमूना लें—

बरु वै कुब्जा भलो कियो।
सुनि सुनि समाचार ऊधो मो कछुक सिरात हियो॥
जाके गुन, गति, नाम, रूप हरि हार्‌यो फिरि न दियो।

यहाँ 'भलो' और 'मो कछुक सिरात हियो' में वाच्यार्थ का तिरस्कार किया गया है; अतः 'भलो और सिरात हियो' में विपरीत लक्षणा और अत्यंत तिरस्कृत वाच्य ध्वनि है। सूर ने ऐसे न जाने कितने वक्रतापूर्ण कथन द्वारा अपनी भाषा के व्यापक स्वरूप का परिचय स्थल-स्थल पर दिया है।

इसी प्रकार सूर सरलता और व्यंजना-व्यापार से निकल कर अपनी अलंकृत और तत्सम शब्द प्रधान भाषा के क्षेत्र में भी किसी से पीछे नहीं रहे। उन्होंने अपनी अपार शब्द-सम्पदा का प्रयोग उचित अवसर पर किया है, इसी से सूर की भाषा अपनी अनूठी छाप लिये हुए है और वह सहज ही सहृदय पाठकों पर अपना सुन्दर प्रभाव डालती है। तत्सम शब्दप्रधान भाषा में कल्पना की चारुता और अभिव्यंजना का कौशल सराहनीय है। यद्यपि सूर की कल्पना-रंजित और अलंकरणप्रधान भाषा रूप-माधुरी में अधिक दिखाई पड़ती है, लेकिन वियोग की मार्मिक और कौशलपूर्ण अभिव्यक्ति में भी सूर ने अपनी अलंकृत भाषा का परिचय दिया है; यथा—

अति मलीन वृषभानुकुमारी
हरि स्रम जल अंतर तनु भीजे ता लालच न धुवावति सारी॥
अधोमुख रहति ऊरध नहिं चितवति ज्यों गथ हारे थकित जुआरी।
छूटे चिहुर, बदन कुम्हिलाने, ज्यों नलिनी हिमकर की मारी॥
हरि सँदेस सुनि सहज मृतक भई, इक बिरहिन दूजे अलिजारी।
सूर स्याम बिनु यों जीवति हैं ब्रज बनिता सब स्याम दुलारी॥

इसमें प्रयुक्त तत्सम, अर्धतत्सम और प्राकृत शब्दों की तालिका इस प्रकार प्रस्तुत की जा सकती है—

(i) तत्सम शब्द—श्रमजल, अंतरतनु, अधोमुख, गथ, बदन, नलिनी, हिमकर, मृतक, अलि,

वनिता, सहज, अति।

(ii) अर्ध तत्सम—ऊरघ, सँदेस, इक।

(iii) प्राकृत-चिहुर (सं० चिकुर)।

सूर की अलंकृत भाषा का एक अन्य उदाहरण इस प्रकार है—

ऊधो ! दीनी प्रीति दिनाई।
बातनि सुदृढ़ करम कपटी के, चले चोर की हाई॥
बिरह बीज बधवार सलिल मानो अधर माधुरी प्याई।
सो है जाय खगी अन्तर्गत, औषधि बल न बसाई।
गरल दान दीनों है नीको याको नहीं उपाय।

x x x x

सूर की भाषा में कृत्रिमता का आग्रह अधिक नहीं है। केवल कूट पदों में श्लेष और यमक के कारण भाषा अधिक जटिल और दुर्बोध हो गयी है, पुनः भ्रमरगीत में श्लेष और यमक की ऐसी भद्दी और अस्वाभाविक प्रवृत्तियाँ नहीं मिलतीं। भ्रमरगीत की भाषा में व्यावहारिक जीवन से गृहीत शब्दों के कारण माधुर्य गुण सहज रूप में प्राप्त होते हैं। पद्माकर और देव की भाँति अनुप्रासिक गोरखधंधे में सूर नहीं फँसे। लगता है नाद सौन्दर्य के प्रति उनका लगाव अधिक नहीं था। हाँ, इनके गीति काव्य में संगीत के लय तत्व का स्वारस्य पदे-पदे मिलता है।

सूर ने ब्रज की माधुरी से रंजित उर्दू-फारसी और पंजाबी आदि शब्दों को भी अपनाया है; यथा—महँगी के अर्थ में प्रयुक्त प्यारी शब्द और खरीदने के अर्थ में 'किनिबों' जैसे भोजपुरी और पाँव के अर्थ में 'गोड़' जैसे अवधी भाषा के शब्दों को भी सहर्ष स्थान दिया है। और फारसी के नायब के अर्थ में 'नेब' शब्द का ग्रहण इनकी भाषा विषयक व्यापार-धारणा का संकेत करता है।

वस्तुतः सूर की काव्य-भाषा और उसकी अपार सम्पदा तथा उसकी काव्य शैलियों के वैविध्य और अनेकरूपता को देखकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को कहना पड़ा था कि सूर काव्य किसी चलने वाली परम्परा का नहीं, किसी चली आती हुई परम्परा का पूर्ण विकास प्रतीत होता है।

(ख) सूर का अर्थ गाम्भीर्य—अर्थ की रमणीयता की प्रशंसा तो प्रायः सर्वथा की जाती है, परन्तु क्लिष्ट और दूरारूढ़ कल्पना के कारण जहाँ अर्थ ग्रहण में दुर्बोधता मिलती है, वहाँ प्रशंसा की जगह ऐसी प्रवृत्तियों की कुत्सा भी की जाती है। केशव के काव्य में अर्थ-गाम्भीर्य इसी रूप में मिलता है और उनके सम्बन्ध में ऐसी उक्ति प्रचलित है 'कवि को देन न चहौ बिदाई, पूछौ केसव की कविताई'। सूर के सम्बन्ध में जो यह कहा जाता है कि 'केसव अर्थ गंभीर' वह बहुत अंशों में सत्य है। शायद अर्थ की गंभीरता और गूढ़ता को दृष्टि में रखकर ही किसी सूक्तिकार ने 'सूर सूर तुलसी ससी' कहा भी था। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इस सूक्ति को ठीक नहीं मानते। उनका कथन है कि किसी यमक अलंकार के लोभी ने सूर को सूर कह दिया, अन्यथा वे सूर की भाँति प्रखरतासम्पन्न कवि नहीं थे। मेरी धारणा है कि आचार्य शुक्ल ने सूर की रचनाओं के उस पक्ष पर विचार नहीं किया जिसमें अर्थ की जटिलता के कारण सामान्य रस प्रवणता के लिए उसकी रचना अग्राह्य हो गयी है। जैसे सूर्य की प्रखरता सबके लिए ग्राह्य नहीं

है उसी प्रकार कूट शैली के पद सामान्य पाठकों के लिए एक जटिल पहेली ही है। इस प्रकार के कूटात्मक पदों में यमक और श्लेष के चमत्कार के कारण कविता अनावश्यक जटिलता के भार से प्रायः दब जाती है; यथा—वियोग विषयक यह पद देखें—

'ऊधो तब तें अब अति नीको।
बायस सब्द अजा की मिलवनि कीन्हें काज अनूठो।

यहाँ दूसरी पंक्ति में कूट का चमत्कार मिलता है। इसका अर्थ यों होगा—बायस शब्द—'का' और अंजा (बकरी) का शब्द 'में'। दोनों को मिलाने से 'कामे' शब्द बना जिसका अर्थ होगा कामदेव ने। चमत्कार और क्लिष्ट कल्पना की ऐसी ही बातों से कविता का सहज अर्थ प्राप्त नहीं हो पाता और वह पहेली बुझौवे के अन्तर्गत आ जाती है। सूर ने सूरसागर में कहीं-कहीं इसी प्रकार की कूटात्मक शैली की रचना प्रस्तुत की है। भ्रमरगीत में भी यत्र-तत्र इस प्रकार की रचना मिली है, परन्तु इन रचनाओं में विशुद्ध कूटात्मक प्रवृत्ति नहीं है। पूरे पद में बीच-बीच में इस शैली का भी निर्वाह किया गया है।

यद्यपि इस प्रकार की शैली में रचित रचनाओं में कवि का पांडित्य मात्र झलकता है, उसकी सहृदयता और सच्ची भावुकता का परिचय नहीं मिलती। फिर भी गोष्ठी रसिक चमत्कार प्रिय पाठकों की रुचि का ध्यान रखते हुए सूर-जैसे कवियों ने भी शब्द क्रीड़ा की ऐसी प्रवृत्ति प्रदर्शित की है।

सूर के पदों में अर्थ गाम्भीर्य दो संदर्भों में लक्षित हुआ है—

(1) रूप चित्रण के अन्तर्गत एवं (2) यमक और श्लेष के अन्तर्गत।

रूप चित्रण में तो दूरारूढ़ कल्पना की दृष्टि अधिक देखने को मिली है, परन्तु जहाँ कवि चमत्कार के विशुद्ध क्षेत्र में प्रवेश करता है वहाँ कूटों से जा टकराता है। ये कूट कभी-कभी सूक्ष्मालंकार के अन्तर्गत और कभी रूढ़ियों पर टिके रूपकातिशयोक्ति-जैसे अलंकारों में दिखाई पड़ते हैं। लेकिन अधिक कठिनाइयाँ वहाँ मिलती हैं जहाँ शब्दों का जमावड़ा मात्र होता है; यथा—श्लेष और यमक में। यमक की दृष्टि से सूर ने 'सारंग' शब्द की बार-बार आवृत्ति द्वारा शब्द-कौशल का विस्तार यथाप्रसंग किया है किन्तु भ्रमरगीत में ऐसा अवसर कम मिला है। फिर भी बादलों में कभी-कभी कौंध जाने वाली विद्युत की भाँति कूट की दीप्ति भी कहीं-कहीं झलक जाती है। एक नमूना लें—

ए सखि आजु की रैनि को दुख कह्यो न कछु मोपै परै।
मन राखन को बेनु लियो कर, मृग थाके उडुपति न चरै॥
वाही प्राननाथ प्यारे बिनु सिव-रिपु-बान नूतन जो जरै।
अति अकुलाय बिरहिनी ब्याकुल भूमि-डसन-रिपु भख न करै॥
अति आतुर ह्वै सिंह लिख्यो कर जेहि भामिनी को करुन टरै।
सूरदास ससि को रथ चलि गयो, पाछे तें, रबि उदय करै॥

अर्थात् हे सखी ! आज की रात्रि का दुःख मुझसे कुछ कहा नहीं जाता। मैंने तो अपने मन को बहलाने के लिए हाथ में वीणा ली, लेकिन उस वीणा की मधुर ध्वनि से मोहित चन्द्रमा के रथ के मृगों के कारण चन्द्रमा ठहर गया—आगे नहीं बढ़ा; इसके कारण रात्रि और बढ़ गयी। उसी प्यारे कृष्ण के बिना शंकर का रिपु कामदेव के नित्य नूतन बातों से जलती रहती हूँ। वह

विरहिणी व्याकुल होकर भूमि पर पड़ी है, लेकिन भूमि पर सोने वालों का शत्रु (भूमि डसन रिपु) सर्प भी आज उसे काटता नहीं (यदि काट लेता तो वह इस दुःख से मुक्त हो जाती)। उसकी सखी ने अत्यंत शीघ्रतापूर्वक एक सिंह का चित्र बनाया जिससे उसकी सखी का दुःख दूर हो जाय। सचमुच उस चित्र को देखकर चन्द्रमा के रथ में जुते मृग डर गये और चंद्रमा का रथ आगे बढ़ गया, इसके अनन्तर सूर्योदय हो गया (अर्थात् रात्रि बीत गयी)।

इसी प्रकार 'नयन नीर सारंग रिपु भीजै दुख से रैनि बिहाय' में प्रयुक्त 'सारंग रिपु' का अर्थ कमल का शत्रु—चन्द्रमा है अर्थात् विरहिणी का चन्द्रमुख प्रियतम के वियोग में आँसुओं से भींग रहा है।

सूर की रचनाओं में इस प्रकार की भद्दी रुचि के कारण प्रसाद गुण खो गया है। शायद सूर्य की इस प्रखरता (अर्थ-काठिन्य और जटिलता) से ऊब कर ही सूक्तिकार को सूर-सूर कहना पड़ा। क्योंकि इस प्रकार की रचना अंग्रेजी में 'Pedantic Style' (पांडित्यपूर्ण शैली) के अन्तर्गत आती है। तुलसी की चन्द्रमा-जैसी शीतलता और मधुरता का स्निग्ध पीयूष सूर के ऐसे पदों में कहाँ है ?

(ग) सूर की आलंकारिक योजना—'उपमा कालिदासस्य' संस्कृत में बहु प्रचलित है और यह उक्ति कालिदास की उपमाओं के सम्बन्ध में ठीक ही है। लेकिन हिंदी में यदि इस उक्ति को पलट कर यों कहा जाय कि 'उपमा सूरदासस्य' तो यह अतिरंजनापूर्ण बात न होगी। वास्तव में जहाँ सांगरूपकों के प्रयोग में गोस्वामी तुलसीदास, श्लेष के प्रयोग में सेनापति, अन्योक्ति के प्रयोग में दीन दयाल गिरि, परिसंख्या के प्रयोग में केशवदास का विशेष उल्लेख किया जाता है वहीं उपमा और उत्प्रेक्षा अलंकारों के प्रयोग में सूरदास की कुशलता की गणना बड़े गौरव के साथ की जाती है।

वस्तुतः सूर ने रूप चित्रण के अन्तर्गत अधिकतर उपमा, उत्प्रेक्षा और सन्देह अलंकारों का प्रयोग किया है और लगता है कि सूर राधा और कृष्ण की रूप माधुरी पर इतना तन्मय है कि वह एक या दो उत्प्रेक्षाओं के प्रयोग से संतुष्ट नहीं हो पाता, बल्कि जब अंग छवि और दीप्ति को रूपायित करने में वह अधिक परेशान हो जाता है तो उसे उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं की झड़ी लगाने में किसी भी प्रकार का संकोच का अनुभव नहीं होता। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी अपने इस कथन के द्वारा इसी बात को दोहराया है—"अंग-शोभा और वेशभूषा आदि के वर्णन में सूर को उपमा देने की झक-सी चढ़ जाती है और वे उपमा पर उपमा, उत्प्रेक्षा पर उत्प्रेक्षा कहते चले जाते हैं।"

अलंकार विधान की दृष्टि से सूर ने साहित्य के प्रसिद्ध उपमानों को प्रयुक्त करने के साथ ही बहुत से स्थलों पर नूतन और हृदयग्राही उपमानों का भी प्रयोग किया है; यथा—श्रीकृष्ण के सौन्दर्य में फँसे नेत्रों में सूर की यह उपमा कितनी ताजी और नवीन है—

'ज्यों दिवाल गीली पर कांकर डारत ही जुगड़े'।

इस प्रकार का अप्रस्तुत विधान सूर की अपार कल्पना शक्ति का बोधक होने के साथ ही परम्परा से सर्वथा मुक्त और लोक जीवन के अनुभवों से सम्बद्ध है। कहना अनुचित न होगा कि सूर ने जहाँ काव्य रूढ़ियों और परम्परा के प्रकृत स्वरूपों से जुड़ने का प्रयास किया है, वहीं उनके उपमान अत्यंत भोड़े और अनुभूत सौन्दर्य चित्रों से सर्वथा अलग दिखाई पड़ते हैं। उदाहरण के लिए कृष्ण के सौन्दर्य-निरूपण में जहाँ सूरदास ज्योतिष में उल्लिखित ग्रहों के रंगों

का उपयोग करने की चेष्टा करते हैं वहीं उनके द्वारा प्रस्तुत चित्र नेत्रों के समक्ष नहीं आ पाते। ऐसी लोकोत्तर कल्पना के पीछे दौड़ लगाने वाले कवि भले ही भूमण्डल पर स्वर्ग लाकर खड़ा कर दें, लेकिन यह स्वर्ग पृथ्वी-निवासियों के किस काम का है ? एक नमूना लें—

दुर दमंकत सुभग स्रवननि जुग जलज डहडहत।
मनहु बासव बलि पठाये जीव कवि कछु कहत॥

इस पद का आशय यह है कि श्रीकृष्ण के कानों में सुंदर स्वर्ण बालियाँ दमक रही हैं और उन बालियों में दो मोती भी हिल-डुल रहे हैं। ये दोनों (स्वर्ण बाली और मोती) इस प्रकार प्रतीत हो रहे हैं मानो इन्द्र एवं बलि द्वारा भेजे हुए वृहस्पति (जीव) और शुक्र (कवि) परस्पर वार्त्ता कर रहे हैं। यहाँ स्वर्ण बाली को वृहस्पति और मुक्ता को शुक्र माना गया है। क्योंकि ज्योतिष में इन दोनों का क्रमशः पीला एवं श्वेत रंग माना गया है। शायद ऐसे उपमानों से चिढ़ कर ही आचार्य शुक्ल ने सूर की कटु आलोचना की है।

आचार्य शुक्ल के अनुसार अलंकार विधान में उपयुक्त उपमान लाने में कल्पना ही काम करती है। जहाँ वस्तु, गुण और क्रिया के पृथक-पृथक साम्य पर ही कवि की दृष्टि रहती हो वहाँ वह उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि का सहारा लेता है। लेकिन कवि-कल्पना जहाँ इनका दामन छोड़ कर व्यापार समष्टि की ओर पहुँचती है निश्चय ही ऐसे स्थल अधिक आकर्षक और सहृदय संवेद्य कहे जाते हैं। इस संदर्भ में भ्रमरगीत का यह पद लिखा जा सकता है—

हमको सपनेहू में सोच।
जा दिन तें बिछुरे नंदनंदन ता दिन ते यह पोच॥
मनो गोपाल आये मेरे घर, हँसि करि भुजा गही।
कहा कहाँ बैरनि भई निंदिया निमिष न और रही॥
ज्यों चकई प्रतिबिंब देखि कैं आनंदी जिय जानि।
सूर पवन मिस निठुर विधाता चपल कियो जल आनि॥

अंतिम दो पंक्तियों में दृष्टान्त और अपह्नुति (पवन मिस) को ऐसे ढंग से प्रयुक्त किया गया है कि वे पूरे कल्पना-चित्र के साथ सहज रूप में जुड़ गये हैं। भ्रमरगीत में प्रयुक्त अलंकारों को हम सुविधानुसार निम्नलिखित वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—

(1) सादृश्यमूलक
(2) विरोधमूलक
(3) शृंखलाबोधमूलक
(4) तर्कन्यायमूलक
(5) वाक्यन्यायमूलक
(6) लोकन्यायमूलक
(7) गूढ़ार्थप्रतीतिमूलक

साद्रश्य मूलक अलंकारों में सूर ने रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा, संदेह आदि का प्रयोग करते समय अपनी सहृदयता का सच्चा परिचय दिया है। इन अलंकारों के प्रयोग में मात्र कल्पना का थोड़ा रूप ही नहीं खड़ा होता, बल्कि कवि की अभीष्ट भाव-व्यंजना सहज रूप में प्रस्तुत होती

है। इस सम्बन्ध में रूपक का एक उदाहरण लें—

जाके बिच राजत मन परबत स्याम सूल अनुरागी।
तापै रतिद्रुम रीति नयनजल सींचत निसि दिन जागी॥
ग्रीषम अलि आए प्रगट्यो ब्रज, कठिन जोग रबि हेरे।
सो मुरझात सूर को राखै मेह नेह बिन हेरे ?

विरोधमूलक अलंकारों में असंगति, विरोधाभास, विषम, विभावना आदि आते हैं। सूर ने ऐसे अलंकारों के प्रयोग द्वारा किसी चामत्कारिक दृष्टि को नहीं उभारा, बल्कि गोपियों की मानसिक अवस्था का भावमय चित्रांकन के उद्देश्य से ऐसे अलंकारों का प्रयोग किया है। इस संदर्भ में विभावना का एक चित्र लें—

बिन पावस पावस ऋतु आई, देखत हौ बिदमान।
अब धौं कहा कियो चाहत हौ, छाँड़हु नीरस ज्ञान॥

शृंखलाबंधमूलक अलंकारों में कारण माला, एकावली और मालादीपक अलंकारों की गणना की जाती है। इसमें एक बात से दूसरी बात को उसी प्रकार जोड़ दिया जाता है जैसे किसी शृंखला की कड़ियाँ। भ्रमरगीत में ढूँढ़ने पर ही कदाचित ऐसे अलंकारों से भेंट हो जाय। चौथे वर्ग को तर्क न्यायमूलक अलंकार कहा जाता है। इसमें कहीं तो उत्पादक कारण और कार्य में कथित वस्तुएँ आती हैं, जैसे हेतु अलंकार में और कहीं ज्ञापक कारण और कार्यरूप में कथित वस्तुएँ आती हैं; यथा—काव्यलिंग अलंकार में। सूर ने भ्रमरगीत में काव्य लिंग का सुंदर प्रयोग किया है—

ऊधो ! अब यह समुझि गई।
नँदनंदन के अंग अंग प्रति उपमा न्याय दई॥
कुंतल कुटिल भँवर भरि भाँवरि मालति भुरै लई।
तजत न गहरु कियो कपटी जब जाकी निरस गई॥

x x x x

इसमें पूर्व कथन की सकारण पुष्टि की गई है। ऐसे अलंकारों के प्रयोग में सूर का मात्र कौशल या चमत्कार ही नहीं प्रकट होता अपितु भाव प्रेरित कथन की वक्रता और वैदग्ध्य का भी पूर्ण परिचय मिलता है। इस प्रकार भंगिमापूर्ण कथन की व्यंजना भ्रमरगीत में न जाने कितनी बार हुई है।

वाक्य न्यायमूलक अलंकारों में यथा संख्य दृष्टान्त, समुच्चय और परिवृत्ति अलंकारों को परिगणित किया जाता है। जहाँ क्रमपूर्वक कथित वस्तुओं का अन्वय उसी क्रम से कथित वस्तुओं के साथ होता है—वहाँ यथासंख्य अलंकार होता है; यथा—

जैसे मीन कमल चातक की ऐसे ही गई बीति।
तलफत, जरत, पुकारत सुन, सठ ! नाहिन है यह रीति॥

मीन, कमल और चातक के प्रेमादर्श से गोपियाँ संतुष्ट नहीं हैं। वे अपनी जिस त्याग निष्ठा को उजागर करना चाहती हैं, उसका यथार्थ चित्र इस पद में बहुत सुंदर रूप में प्रस्तुत हुआ है। इसके अन्तर्गत आने वाले अलंकारों में परिवृत्ति की उक्तिगत रमणीयता अपने आप में कितनी अनूठी

है, इसे इस पद में देखें—

मोहन माँग्यो अपनो रूप।
या ब्रज बसत अंचै तुम बैठी, ता बिनु तहाँ निरूप॥

व्यंजना का यह व्यापार मात्र अलंकार के बंद कठघरे में नहीं रुक सका। निर्गुण का राग अलापने वाले श्रीकृष्ण पर कितना करारा व्यंग्य है। जहाँ लेने-देने की प्रवृत्ति प्रदर्शित की जाती है वहाँ परिवृत्ति अलंकार होता है। यहाँ राधा ने उनके साकार रूप को पी लिया, वहाँ मथुरा में वे बेचारे निराकार हो गये हैं; अतः उन्होंने अपना रूप उद्धव द्वारा मँगवाया है। व्यंग्यार्थ यह है कि राधा अपने ध्यान में जिस कृष्ण के रूप को धारण किये रहती है, उद्धव उसे भी छुड़ाने आये हैं।

लोकन्यायमूलक वर्ग के अन्तर्गत तद्गुण और मीलित जैसे अलंकार की चर्चा की जाती है। इन अलंकारों में रूप, रस, स्पर्श और गंध के आधार पर अंगांगी भाव से कथित वस्तुओं के रूपादि के परिवर्तन का उल्लेख होता है। भ्रमरगीत में तद्गुण अलंकार का यह उदाहरण अपने व्यंग्य की गंभीरता के कारण अत्यंत श्लाघ्य है—

बिलगि जनि मानो ऊधो प्यारे !
वह मथुरा काजर की कोठरि जे आवहिं ते कारे॥
तुम कारे, सुफलक सुत कारे, कारे मधुप भँवारे।
तिनके संग अधिक छवि उपजत कमल नैन मनिआरे॥
मानहु नील माट तें काढ़े लै जमुना ज्यों पखारे।
ता गुन स्याम भई कालिंदी सूर स्याम गुन न्यारे॥

कृष्ण की श्यामता से यमुना भी श्याम हो गयी इसमें तद्गुण के साथ ही व्यंजना भी अपना कमाल दिखा रही है।

गूढ़ार्थ प्रतीतिमूलक वर्ग के अन्तर्गत गूढ़ोक्ति, सूक्ष्म, वक्रोक्ति और अन्योक्ति अलंकारों को अन्तर्भुक्त किया गया है। इसमें किसी गूढ़ बात को लक्षित कराया जाता है। भ्रमरगीत में अन्योक्ति का प्रयोग अधिक हुआ है। उद्धव को भ्रमर की अत्योक्ति द्वारा खूब बनाया गया है; यथा—

मधुकर पीत बदन केहि हेत ?
जनु अन्तर मुख पांडु रोग भयो,
जुवतिन जो दुख देत।

(घ) **सूर का बिम्ब-विधान**—जब कवि अपनी सूक्ष्म अनुभूति, संवेदना एवं भावों को रूपायित या मूर्तिमान कर देता है तो उसकी इस प्रक्रिया को बिम्ब-विधान की संज्ञा दी जाती है। इस बिम्ब की चर्चा पाश्चात्य साहित्य में अधिक हुई है। अंग्रेजी में बिम्ब को 'Image' कहा जाता है। इन बिम्बों के विधान में उपमान के भी सहायक होने का उल्लेख हुआ है, पर ये उपमान सर्वत्र सहायक नहीं होते। इसीलिए हिंदी के प्रसिद्ध आलोचक डॉ० नगेन्द्र ने बिम्ब की परिधि को उपमानों की परिधि से अधिक विस्तृत एवं व्यापक माना है और इस तथ्य को भी स्वीकार किया है कि बिम्ब विधान के अनेक उपकरणों में उपमान एक अत्यंत उपयोगी उपकरण है। (काव्य बिम्ब, पृष्ठ 6)

बिम्ब विधान के अन्तर्गत केवल रूप-चेतना ही उभर कर नहीं आती, बल्कि भावों और ऐंद्रिय संवेदना का भी बिम्ब प्रस्तुत होता है। इसे और भी स्पष्ट करने के लिए यह आवश्यक है कि हम बिम्बों को स्थूल और सूक्ष्म दो भागों में बाँट कर प्रतिपाद्य विषय का विवेचन करें।

वस्तुतः भ्रमरगीत में अधिकांश बिम्बों का सृजन अनुभूतियों और संवेदनात्मक व्यापारों को आधार बना कर हुआ है। हाँ, स्थूल बिम्ब भी कहीं-कहीं अधिक आकर्षक और अनुभूति के मेल में होने के कारण प्रभावशाली प्रमाणित हुए हैं। स्थूल बिम्बों के अन्तर्गत दृश्य या चाक्षुष बिम्बों की योजना में सूर की कल्पना कितनी सजग और सतर्क है, इसे वर्षा विषयक इस बिम्ब में देखें—

पिया बिनु साँपिनि कारी रात।
कबहुँ जामिनी होत जुन्हैया डसि उलटी ह्वै जाति॥

सर्पिणी की पीठ काली और पेट का भाग श्वेत होता है। वह जब किसी को काटती है तो उलट जाती है, जिससे उसके पेट का श्वेत रंग झलकने लगता है। सूर ने चाँदनी पर छाये बादलों के हटने पर जो दृश्य देखा उसे उक्त सर्पिणी के ही बिम्ब के रूप में प्रस्तुत किया। इसे चाक्षुष बिम्ब (Visual Image) कह सकते हैं। इसके साथ ही इसमें गतिबोधक बिम्ब भी है, क्योंकि शीघ्रतापूर्वक चाँदनी पर छाये बादलों के हटने की गति और उस पर शीघ्र पलट जाने वाली सर्पिणी की गति में पूर्ण साम्य तो है ही। किन्तु मनस्तरंगों से प्रेरित कल्पना जब सूक्ष्म ऐन्द्रिय बिम्बों को मूर्त्तमान करती है तो लगता है कि कवि का भाव-जगत और कल्पना-जगत कितना विस्तृत और व्यापक है। इस सम्बन्ध में भ्रमरगीत का यह पद लें—

ऊधो ! औरै कथा कहौ।
तजि जस, ज्ञान सुने तावत तनु, बरु गहि मौन रहौ॥
जाके बिच राजत मन परबत स्याम सूल अनुरागी।
तापै रति द्रुम रीति नयन जल सींचत निसिदिन जागी॥

मन जैसे सूक्ष्म इन्द्रिय के लिए स्थूल पर्वत का बिम्ब और उस पर अंकुरित सूक्ष्म प्रेम के लिए स्थूल वृक्ष का दूसरा बिम्ब और नेत्रों के जल से उसे सींचना जिसमें माली के वृक्ष सिंचन क्रिया का भी संकेत है तीसरा बिम्ब है। इस प्रकार के संयुक्त बिम्बों का विधान सूर की रचनाओं में बहुत हैं। ऐसे ऐंद्रिय बिम्बों से सूर की रचना की महत्ता बढ़ी है और उनके अनुभव प्रसूत ऐसे चित्रों को सर्वत्र आदर मिला है।

सूर ने वियोग के सन्दर्भ में अतीत के जिन स्मृति-चित्रों को उरेहा है, वे चित्र आज भी फीके नहीं पड़े। उनमें वही दीप्ति अब भी मौजूद है। गोपियों ने उद्धव के समक्ष संयोग की सुखद घड़ियों को उभारते समय श्रीकृष्ण के सौन्दर्य, उनकी प्रेम-चेष्टाओं और उनके संग की गई नाना प्रकार की लीलाओं से सम्बन्धित जिन भाव चित्रों को प्रस्तुत किया है, वे अनुभूतिपरक, संवेदनात्मक और हृदय को झकझोर देने वाले हैं। तद्विषयक एक नमूना लें—

मेरे मन इतनी सूल रही।
वै बतियाँ छतियाँ लिखि राखी जे नंदलाल कही॥
एक दिवस मेरे गृह आये, मैं ही मथति दही।
देखि तिन्हैं हौं मान कियो, सो हरि गुसा गही॥

यहाँ कल्पना गोपियों के स्मृति-पटल पर जिन भावात्मक चित्रों को अंकित करती है, वे कितने मर्मस्पर्शी और सजीव हैं। 'वै बतियाँ छतियाँ लिखि राखी' में जहाँ श्रीकृष्ण की मधुर वाणी का नाद बिम्ब (Auditory Image) लक्षित हो रहा है, वहीं 'एक दिवस मेरे गृह आये मैं ही मथति दही' में चाक्षुष या दृश्य बिम्ब (Visual Image) साकार हो उठा है।

पाश्चात्य साहित्य में चित्र-योजना (Imagery) पर काफी विचार किया गया है। वहाँ शेक्सपियर आदि कवियों के सम्बन्ध में इस दृष्टि से बहुविध चिंतन किया गया है। पाश्चात्य साहित्य में ऐसे बिम्बों को दो श्रेणियों में बाँटा गया है—(1) लक्षित चित्र योजना (Direct Imagery) एवं (2) उपलक्षित चित्र योजना (Figurative Imagery)

लक्षित चित्र-योजना को रेखाचित्र की भी अमिधदी जाती है। क्योंकि इनका आधार बाह्य रेखाएँ होती हैं, किन्तु उपलक्षित चित्र-योजना इनसे सर्वथा भिन्न होती है। इन चित्रों को काव्य में महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। क्योंकि इन चित्रों में कवि अपनी भावानुभूतियों को सदृश्य विधान द्वारा सरस, हृदयग्राही और प्रभविष्णु बनाने की पूर्ण चेष्टा करती है।

सूर ने भ्रमरगीत में उपलक्षित चित्र भरे पड़े हैं। गोपियाँ एक स्थल पर श्रीकृष्ण की उस प्रेम-प्रवंचना के प्रति अपनी मानसिक पीड़ा की अभिव्यक्ति जिस सदृश्य विधान के द्वारा करती हैं वह कितना मार्मिक है और कितनी सहजता लिये हुए है—

प्रीति करि दीन्ही गरे छुरी
जैसे बधिक चुगाय कपटकन पाछे करत बुरी ॥
मुरली मधुर चोप करि काँपों मोरचन्द्र ठटवारी।
बंक बिलोकनि लूक लागि बस सकी न तनहि सम्हारी ॥

श्रीकृष्ण की प्रेम प्रवंचना द्वारा गोपियों को जो असह्य पीड़ा हुई है, उसकी समता उस पक्षी से की गयी जिसे बहेलिया कपट के दानों को खिला कर पकड़ लेता है और अन्त में उसके गले में छूरी भोंक देता है।

भ्रमरगीत में ऐसे भी स्थल मिले हैं जिनमें सूर ने अपनी समृद्ध कल्पना शक्ति से प्रस्तुत प्रसंग के मेल में व्यापार समष्टि की सुंदर योजना की है (भ्रमरगीत सार, भूमिका भाग, पृ० 31) इस तरह का एक चित्र जो स्वप्न से सम्बन्धित है, दिया जा रहा है—राधा स्वप्न में श्रीकृष्ण के दर्शन का आनन्द ले रही थी कि इसी बीच उसकी नींद टूट गयी—सारा सुख भंग हो गया। इस पद में बिम्बों का सृजन कितनी गंभीर भावानुभूतियों का परिणाम है, यह बताने की बात नहीं है, स्वतःसिद्ध है। पद देखें—

हमको सपनेहू में सोच।
जा दिन तें बिछुरे नँदनंदन ता दिन तें यह पोच ॥
मनो गोपाल आये मेरे घर, हँसि करि भुजा गही।
ज्यों चकई प्रतिबिम्ब देखि कै आनंदी पिय जानि।
सूर पवन मिस निठुर विधाता चपल कियो जल आनि ॥

इसमें एक ओर जहाँ श्रीकृष्ण मिलन से दृश्य बिम्ब साकार हुआ है वहीं 'हँसि करि भुजा गही' में स्पर्श बिम्ब भी लक्षित हो रहा है। इन बिम्बों को जो व्यापार समष्टि के द्वारा एक भावात्मक चित्रफलक (कैनवस) प्राप्त हुआ है, वह सोने में सुगंध की कहावत को पूर्णतया

चरितार्थ करता है।

भ्रमरगीत में सूर ने वियोगिनी गोपियों की अन्तर्दशाओं के प्रत्यक्षीकरण में इतनी अधिक रुचि ली है कि तद्विषयक उनके भाव-चित्र बड़े अनूठे और अद्भुत बन पड़े हैं।

उदाहरणार्थ मतिभ्रम (Halluciation) का एक पद प्रस्तुत किया जा रहा है—

फिरि फिरि कहा सिखावत बात।
प्रातकाल उठि देखत ऊधो, घर घर माखन खात॥
जाकी बात कहत हौ हमसों सों है हमसों दूरि।
ह्याँ है निकट जसोदानंदन प्रान-सजीवन मूरि॥
बालक संग लए दधि चोरत खात सबावत डोलत।
सूर सीस चौंकत नावहिं अब काहे न मुख बोलत ?॥

श्रीकृष्ण के प्रेम में तन्मय गोपियाँ यही समझती हैं कि श्रीकृष्ण कहीं गये नहीं हैं। वे प्रातः काल उन्हें माखन खाते हुए देखती हैं। वे बालकों को लिए दही चुराते हैं और उसे स्वयं खाते हैं और उन्हें भी खिलाते हुए घूमा करते हैं। जब चोरी में वे पकड़े जाते हैं और उनसे पूछती है कि अब उत्तर क्यों नहीं देते तो वे लज्जित होकर अपना सिर झुका लेते हैं। यह मतिभ्रम बिम्ब का एक सुंदर उदाहरण है। वस्तुतः मतिभ्रम प्रत्यक्ष की ही भाँति एक ऐसा अनुभव है जिसे असत्य होते हुए भी हम सत्य मान बैठते हैं; यथा—राम के बन चले जाने पर भी कौशल्या उन्हें पहले की भाँति जगाने जाती थी, लेकिन जब यह मालूम होता था कि वे तो वन चले गये हैं तो वह अपार दुःख के सागर में निमग्न हो जाती थी। सूर ने इस प्रकार के अनेक मानसिक भावों के बिंबों को रेखांकित करने का श्लाघ्य प्रयत्न किया है।

□□□

सूर और उनका भ्रमरगीत

काव्य एवं व्याख्या खण्ड

भ्रमर गीत-सार

श्रीकृष्ण का वचन उद्धव-प्रति

राग सारंग

पहिले करि परनाम नंद सों समाचार सब दीजो।
और वहाँ वृषभानु गोप सों जाय सकल सुधि लीजो॥
श्रीदामा आदिक सब ग्वालन मेरे हुतो भेंटियो।
सुख-संदेस सुनाय हमारो गोपिन को दुख मेटियो॥
मंत्री इक बन बसत हमारो ताहि मिले सचु पाइयो।
सावधान है मेरे हूतो ताही माथ नवाइयो॥
सुन्दर परम किसोर बयक्रम चंचल नयन बिसाल।
कर मुरली सिर मोर पंख पीताम्बर उर बनमाल॥
जनि डरियो तुम सघन बनन में ब्रजदेवी रखवार।
वृन्दावन सो बसत निरन्तर कबहूँ न होत निनार॥
उद्धव प्रति सब कही स्यामजू अपने मन की प्रीति।
सूरदास किरपा करि पठए यहै सकल ब्रजरीति॥ 1 ॥

शब्दार्थ—मेरे हुतो = मेरी ओर से। मंत्री = यहाँ राधा से अभिप्राय है। सचु = सुख। बयक्रम = अवस्था। नियार = पृथक्, अलग। यहै सकल ब्रजरीति = श्रीकृष्ण ने बताया कि यही सब ब्रज की रीतियाँ (व्यवहार) हैं।

सन्दर्भ—श्रीकृष्ण ब्रजवासियों को छोड़कर मथुरा के राज-वैभव और वहाँ के तड़क-भड़क में थोड़े समय के लिए फँसे अवश्य लेकिन ब्रजवासियों की मधुर स्मृतियाँ रह-रह कर उन्हें कोंचती रहीं। इधर उनके परम मित्र उद्धव अपने ज्ञान-गर्व में चूर हैं और प्रेम और भक्ति की महत्ता को नगण्य समझते हैं। श्रीकृष्ण ब्रजवासियों का समाचार ज्ञात करने के बहाने उद्धव के हृदय में गोपियों की प्रेम-भक्ति को उत्पन्न करना चाहते हैं। अतः उद्धव के ज्ञान-स्फीत व्यक्तित्व को विगलित करने के उद्देश्य से उन्हें ब्रज भेज रहे हैं।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति कृष्ण का कथन) हे उद्धव, तुम ब्रज में पहुँचकर सबसे पहले नन्दजी को प्रणाम करना, क्योंकि वे हमारे पूज्य पिता हैं और पिता के प्रति पूज्य दृष्टि रहनी चाहिए। पुनः बड़ों का सम्मान भारतीय मर्यादा और शिष्टाचार का अभिन्न अंग है। प्रणाम करने के पश्चात् उन्हें यहाँ का सब समाचार बता देना; इसलिए भी यह बताना आवश्यक है कि जब से मैं ब्रजमंडल से यहाँ आया हूँ उन्हें हमारा समाचार नहीं मिला—वे हमारा समाचार जानने के लिए व्याकुल मना हैं। इसके पश्चात् आप बरसाने जाना और वृषभानु गोप की (राधा के पिता) का भी समाचार ज्ञात करना (राधा के कारण वृषभानु से भी कृष्ण का अटूट सम्बन्ध है)। यही

नहीं, सुदामा इत्यादि मित्रों से मेरी ओर से भेंटना। बहुत दिनों से वियुक्त होने के कारण वे सब मेरे बिना दुखी होंगे। इन पंक्तियों में श्रीकृष्ण की अपने मित्रों के प्रति सख्यानुभूति की मार्मिक व्यंजना व्यक्त हुई है। इसके पश्चात् उन्होंने गोपियों के प्रति अपना संदेश प्रेषित करते हुए कहा कि हमारे कुशल-क्षेम का संदेश बताकर उनके कष्ट को दूर करना।

वहाँ जाने पर तुम्हें वन में हमारे एक मंत्री से भेंट होगी और उसे देखने पर तुम्हें आनन्द प्राप्त होगा। और तुम बहुत सजगतापूर्वक उसे हमारी ओर से नमस्कार करना। सजगतापूर्वक इसलिए कह रहा हूँ कि वह मंत्री तुम्हें हमारी वेशभूषा में मिलेगा और तुम्हें एक बार उसे देखने पर भ्रम होगा। अतः भ्रमरहित निश्चल मन से उसे प्रेमाभिवादन करना। वह मंत्री परम सुंदर है। कवि का अभिप्राय यह कि वह परम सुंदरी राधा है जो वियोग में कृष्णमय हो रही है। किशोरावस्था को वह प्राप्त है और उसके विशाल नेत्र अतिशय चंचल हैं। तात्पर्य यह है कि कृष्ण वेश में रहने पर भी वह अपने चंचल नेत्रों और अनुपम सौंदर्य के कारण अपने को छिपा नहीं पाएगी—वह आसानी से पकड़ में आ जाएगी। उसके पीताम्बर, मोरपंख, वक्षस्थल की वनमाला और मुरली के कारण भयभीत मत होना; क्योंकि सघन वन में वनदेवी वहाँ तुम्हारी रक्षा करेगी। वहाँ रक्षिका के रूप में सदैव वनदेवी विद्यमान रहती है। वह वृन्दावन में निरन्तर निवास करती है और वहाँ से कभी पृथक् नहीं हो पाती। व्यंजना यह है कि ब्रह्म की आह्लादिनी शक्ति के रूप में राधा ब्रह्म में तन्मय रहती है और उस बन को छोड़कर अन्यत्र नहीं जाती। इस प्रकार उद्धव से श्रीकृष्ण ने अपने मन की समस्त प्रीति (प्रेम स्वरूप की उदात्तता) का उल्लेख सहज रूप में किया। वास्तव में मित्र से ही अपने मन के सुख-दुख को कहा भी जा सकता है इस कारण श्रीकृष्ण ने अपने मन के सहज प्रेम भाव की व्यंजना उद्धव के समक्ष निस्संकोच भाव से की। सूरदास के शब्दों में उन्होंने कृपापूर्वक इस प्रकार की ब्रजरीतियों (ब्रज में किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए) को समझाकर उद्धव को ब्रज भेज दिया। कृपा करने का आशय यह है कि भगवान की भक्ति और प्रेम भक्त को ईश्वर की कृपा से ही प्राप्त होता है—यहाँ उद्धव का यह परम भाग्य है कि भगवान श्रीकृष्ण उनके शुष्क और ज्ञान-दर्प मंडित मानस में प्रेम और भक्ति का प्रादुर्भाव करना चाहते हैं।

टिप्पणी—

(1) इसमें प्रेममूलक भक्तिभाव की व्यंजना की प्रधानता है।
(2) मंत्री शब्द के प्रयोग द्वारा प्रेम-भाव की गोपन चेष्टा का निरूपण।
(3) वात्सल्य, सख्य और रति भाव की मार्मिक व्यंजना का प्रयास।
(4) कृष्ण के दो रूपों—रस एवं ऐश्वर्य में रस रूप का प्राधान्य।
(5) कर मुरली सिरमोर पंख . . . . . में वस्तु से भ्रांतिमान अलंकार की व्यंजना।
(6) कृष्ण और राधा के अनन्य भाव की अभिव्यक्ति सूर के अन्य पदों में भी हुई है जहाँ राधा कृष्ण के रूप को धारण किए रहती थी—

ब्रज में एक अचंभौ देख्यो।
मोर मुकुट पीताम्बर धारे, तुम गाइनि सँग देखे।

x x x x

(7) हाव की दृष्टि से सातवीं और आठवीं पंक्ति में लीला हाव है।

राग सोरठ

कहियो नंद कठोर भए।
हम दोउ बीरै डारि पर घरै मानो थाती सौंपि गए॥
तनक तनक तैं पालि बड़े किये बहुतै सुख दिखराए।
गोचारन को चलत हमारे पाछै कोसक धाए॥
ये बसुदेव देवकी हमसों कहत आपने जाए।
बहुरि बिधाता जसुमति जू के हमहिं न गोद खिलाए॥
कौन काज यह राज, नगर को सब सुख सो सुख पाए।
सूरदास ब्रज समाधान कर आजु काल्हि हम आए॥ 2 ॥

शब्दार्थ—बीरै = भाई (बलराम और कृष्ण से अभिप्राय है)। डारि पर घरै= दूसरे के घर। (बसुदेव और देवकी के गृह) छोड़ कर। थाती= दूसरे की अमानत। कोसक = एक कोस (दो मील)। धाए = चल पड़ते थे। जाए = पुत्र। हमहिं न गोद खिलाए = यशोदा की गोद में हमें खिलाने का अवसर ब्रह्मा ने नहीं दिया। फिर से भाग्य ने हमें यशोदा की गोद में नहीं खिवाया। यहाँ 'खिलाए' शब्द प्रेरणार्थ क्रिया के रूप में प्रयुक्त है। समाधान = धैर्य, सान्त्वना।

प्रसंग—नन्द के प्रति कृष्ण के उपालम्भ भाव की अभिव्यक्ति के साथ ही इसमें ब्रज की मधुर स्मृतियों की मार्मिक अवतारणा हुई है।

व्याख्या—(कृष्ण उद्धव से कह रहे हैं)। हे उद्धव ! नन्द से जाकर स्पष्टरूपेण कह देना कि हम दोनों भाइयों को दूसरे के घर में (यहाँ वसुदेव और देवकी के आवास से तात्पर्य है) छोड़ कर ऐसे चले आए मानो वे थाती (धरोहर) सौंप कर लौटे हों। तात्पर्य यह है कि वे इतने कठोर हो गये हैं कि हम लोगों के प्रति उनका आत्मीय भाव मानों नष्ट हो गया हो। पहले तो जब हम लोग छोटे-छोटे थे तो उन्होंने बड़े लाड़-प्यार के साथ पाल-पोष कर बड़ा किया और बहुत सुख दिया। उनके वात्सल्य और स्नेह की यही सीमा नहीं थी बल्कि जब हम गोचारण के लिए निकलते थे तो वे हमारे पीछे-पीछे कोसों चल पड़ते थे लेकिन अब तो उनकी निष्ठुरता कही नहीं जा सकती। तात्पर्य यह है कि अब उनके बचपन के वात्सल्य का स्रोत सूख गया। अब तो ये वसुदेव और देवकी मुझे अपना पुत्र बताते हैं। भला, मैं उन्हें क्या जानूँ—मैं तो आपका ही पुत्र कहलाता था। जब मैं पहले और अब की स्थिति का यह वैषम्य देखता हूँ तो मेरी मनोव्यथा अपेक्षाकृत बढ़ जाती है। जब से मैं मथुरा आया हूँ विधाता ने मुझे यशोदा की गोद में खिलवाने का अवसर नहीं प्रदान किया। तात्पर्य यह है कि पुनः यशोदा की गोद में खेलने का सुयोग हमें नहीं मिला। स्पष्ट व्यंजना यह होगी कि माता यशोदा के मधुर प्यार से वे निरन्तर वंचित होते गये। यद्यपि मथुरा में उन्हें सभी प्रकार के राज्य और नगर के सुख प्राप्त हुए, लेकिन ब्रज के उस सहज और स्नेह-सिक्त व्यवहार के समक्ष इस कृत्रिम और अस्वाभाविक सुख से क्या प्रयोजन (लाभ) ?

सूरदास के शब्दों में श्रीकृष्ण पुनः अपनी मानसिक दशा का चित्रांकन करते हुए कह रहे हैं कि हम बहुत शीघ्र (अत्यल्प काल में) आवेंगे। उद्धव जी, तुम नन्द जी को पूरी तरह सान्त्वना दे देना कि अब हम मथुरा में बहुत नहीं रुकेंगे।

टिप्पणी—

(1) इसमें 'स्मृति' एवं 'चिन्ता' संचारी भाव की प्रधानता है।
(2) मानों थाती सौंपि गए में उत्प्रेक्षा अलंकार के साथ रूढ़ि लक्षणा का प्रयोग हुआ है।
(3) तनक-तनक तैं पालि . . . . में वात्सल्य भाव की व्यंजना का उत्कर्ष विचारणीय है।
(4) 'कौन काज' . . . . में नागर संस्कृति की तुलना में ब्रज की ग्राम्य संस्कृति की महत्ता का प्रतिपादन किया गया है। वस्तुतः सूर काव्य का अधिकांश ब्रज की ग्राम्य संस्कृति की चित्रशाला का अन्यतम नमूना है।
(5) 'बहुरि विधाता' . . . . में मातृ प्रेम की सजीव व्यंजना हुई है।
(6) समानान्तर भाव की दृष्टि से रत्नाकर की ये पंक्तियाँ ली जा सकती हैं—

नन्द औ जसोदा के प्रेम-पगे पालन की,
लाड़ भरे लालन की लालच लगावती।

राग विलावल

तबहिं उपँगसुत आय गए।
सखा सखा कछु अन्तर नाहीं, भरि-भरि अंक लए॥
अति सुन्दर तन स्याम सरीखो देखत हरि-पछताने।
ऐसे को वैसी बुधि होती ब्रज पठवैं तब आने॥
या आगे रस-काव्य प्रकासे, जोग वचन प्रगटावे।
सूर ज्ञान दृढ़ याके हिरदय, जुवतिन जोग सिखावे॥ 3 ॥

शब्दार्थ—उपँगसुत = उद्धव जी। भरि-भरि अंक लए = परस्पर छाती से लिपट कर मिले। सरीखे = समान, सदृश। वैसी बुधि होती = आकर्षक शरीर की भाँति यदि प्रेम और भक्ति की बुद्धि (भाव) मिली होती। आने = ले आने के लिए; वैसी बुद्धि ग्रहण करने हेतु। प्रकासे = चर्चा करने पर। याके हिरदय = इसके हृदय में।

सन्दर्भ—गोपियों की स्मृति में तन्मय श्रीकृष्ण उनका समाचार प्राप्त करने के उद्देश्य से किसी को वहाँ भेजना चाहते थे, उसी समय उद्धव जी पहुँच गये। सूर ने इसमें श्रीकृष्ण और उद्धव के व्यक्तित्व की विशेषताओं का बड़ा ही सजीव और यथार्थ चित्रांकन किया है।

व्याख्या—ब्रजवासियों की स्मृति में तन्मय श्रीकृष्ण किसी को ब्रजमंडल भेजना चाहते थे, उसी समय उनके मित्र उद्धव जी आ गये। दोनों मित्रों में कोई अन्तर नहीं है—दोनों निष्कपट भाव से गले लगकर परस्पर मिले और कृष्ण के सदृश उद्धव का शरीर भी अत्यंत सुन्दर अर्थात् वे भी श्यामवर्ण और आकर्षक हैं, लेकिन दोनों में अन्तर की रेखा यदि खींची जा सकती है तो यही कि कृष्ण का हृदय जहाँ गोपियों की प्रेम-भक्ति से परिपूर्ण है, वहीं उद्धव जी का हृदय इससे काफी दूर है—प्रेम और भक्ति को स्पर्श तक नहीं कर सके हैं—इसे देखकर श्रीकृष्ण पश्चाताप करने लगे और वे कहने लगे कि यदि आकर्षक और लावण्यमय शरीर के साथ ही इन्हें प्रेम और भक्तिमय हृदय भी मिला होता तो क्या ही अच्छा होता। अब उत्तम यही होगा कि प्रेम और भक्ति का जो स्रोत इनके मानस में सूख गया है उसे प्राप्त करने के लिए इन्हें ब्रज भेज दिया जाय। वहाँ जाने पर ही इनके आकर्षक शरीर के अनुसार आकर्षक हृदय भी हो जाएगा।

यह तो ऐसा शुष्क मानस प्राणी है कि यदि इसके समक्ष किसी रसात्मक काव्य की चर्चा करते हैं तो यह अपने शुष्क दर्शन और योग-शास्त्र की जटिलताओं का विश्लेषण करने लगता है—दर्शन और योग की गहराई में ही उत्तरोत्तर प्रवेश करने लगता है। इसके हृदय में ज्ञान की ऐसी दृढ़ता है कि यदि इसे गोपियों के पास भेज दिया जाय तो यह उन्हें भी ज्ञान की ही शिक्षा देगा। व्यंजना यह है कि प्रेम और भक्ति के महत्व से अपरिचित उद्धंव को ब्रज भेजना ही उत्तम होगा, जहाँ पहुँचने पर ही इनके ज्ञान विषयक गर्व का पतन अवश्यम्भावी है।

टिप्पणी—

(1) 'सखा-सखा कछु अन्तर नाहीं में प्रगाढ़ मैत्री भाव की सुंदर व्यंजना हुई है।
(2) इसमें गोपियों की भक्ति और उनके उदात्त प्रेम स्वरूप की मधुर अभिव्यक्ति हुई है।
(3) मध्यकाल में ज्ञान और भक्तिमार्ग के अनुयायियों में कितना मतभेद था, इसकी स्पष्ट झलक इस रचना से मिल जाती है।
(4) ज्ञान की दार्शनिक पृष्ठभूमि और भक्ति की भावात्मक एवं प्रेममूलक पृष्ठभूमि का संकेत भ्रमरगीत का अभीष्ट कथ्य है।

राग विलावल

हरि गोकुल की प्रीति चलाई।
सुनहु उपँगसुत मोहिं न बिसरत ब्रजवासी सुखदाई॥
यह चित होत जाउँ मैं अबहीं, यहाँ नहीं मन लागत।
गोप सुग्वाल गाय बन चारत अति दुख पायो त्यागत॥
कहँ माखन-चोरी ? कहँ जसुमति 'पूत जेंव' करि प्रेम।
सूर स्याम के बचन सहित सुनि व्यापत आपन नेम॥ 4 ॥

शब्दार्थ—प्रीति चलाई = ब्रजवासियों के प्रेम की चर्चा की। पूत जेंव = हे पुत्र, भोजन करो। सहित = प्रेमपूर्वक। व्यापत आपन नेम = उद्धव जी अपने योग के विधि-विधान और नियमों में ही डूब रहे हैं।

सन्दर्भ—ब्रज-स्मृति में तन्मय श्रीकृष्ण ने उद्धव जी के आने पर गोकुलवासियों के प्रेम की सरस चर्चा चला दी। उद्धव जी पर उनके प्रेम-प्रसंग का थोड़ा भी प्रभाव नहीं पड़ा और वे अपने ज्ञान और योग-शास्त्र की बातों में ही डूबे रहे।

व्याख्या—अपने मित्र ज्ञानी उद्धव के आने पर श्रीकृष्ण ने ब्रजवासियों की प्रीति का प्रसंग छेड़ दिया। इसी क्रम में उन्होंने कहा, हे उद्धव जी, मुझे सुख देने वाले वे समस्त ब्रजवासी भूलते नहीं जिन्होंने अतीत में हमारे जीवन में प्रेम और सहृदयता की धारा प्रवाहित की। अब तो यही मन में आता है कि मैं वहाँ इसी समय चला जाऊँ, क्योंकि उनके बिना हमारा मन यहाँ नहीं लगता। ब्रजमंडल में रहते समय मैं उन गोप-ग्वालों के साथ वन में गाय चराने जाया करता था और मुझे वन्य-जीवन की ऐसी मधुर अनुभूति से परम सुख मिलता था तब इसी से उन ग्वाल-गोपों का साथ छोड़ते समय मुझे अपार पीड़ा हुई थी। अब तो ऐसा सुख स्वप्न हो गया। अब माखनचोरी का आनन्द यहाँ कहाँ ? और वह सुख भी यहाँ कहाँ प्राप्त है जब यशोदा जी

बड़े प्रेम और वात्सल्य भाव के साथ कहा करती थीं कि 'हे पुत्र भोजन कर लो।' श्रीकृष्ण की ऐसी मधुर और प्रेमयुक्त वाणी को सुनकर भी उद्धव के मन पर इसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा और वे सूर के शब्दों में अपने योग और ज्ञान की विविध रीतियों और विधि-विधान में ही डूबे रहे।

टिप्पणी—

(1) इस प्रकार के भाव का एक अन्य पद भी सूर सागर में मिला है, यथा

ऊधो मोहिं ब्रज बिसरत नाहीं।
हंससुता की सुन्दर कगरी और द्रुमन की छाँहीं।

x x x x

(2) कहँ माखन चोरी कह जसुमति 'पूतजेंव' में बाल्यावस्था की मधुर स्मृति और मातृ प्रेम की व्यंजना का एक सजीव चित्र है।

(3) इसमें परिस्थितियों की विषमता की मार्मिक अवतारणा हुई है।

(4) गोचारण लीला की सहज भावानुभूति भी इस पद में ध्वनित है।

(5) ऐसे भाव के कई चित्र रत्नाकर जी के उद्धवशतक में भी विद्यमान है—

ऊधौ ब्रजवासिनि दिवैया सुखरासिनि को नित प्रति हमकौं बुलावन को आवती।

राग रामकली

जदुपति लख्यो तेहि मुसकात।
कहत हम मन रही जोई सोइ भई यह बात॥
बचन परगट करन लागे प्रेम-कथा चलाय।
सुनहु उद्धव मोहिं ब्रज की सुधि नहीं बिसराय॥
रैनि सोचत, चलत, जागत लगत नहिं मन आन।
नंद जसुमति नारि नर, ब्रज जहाँ मेरो प्रान॥
कहत हरि-सुनि उपँगसुत, यह कहत हौं रसरीति।
सूर चित तें टरति नाहीं राधिका की प्रीति॥ 5 ॥

शब्दार्थ—लगत नहिं मन आन = मन अन्य विषयों में नहीं लगता। सुनि = सुनो। रसरीति = प्रेमरीति।

सन्दर्भ—उद्धव जी ने इस पद में श्रीकृष्ण के हृदय में जो गोपियों और ब्रजवासियों के प्रेम की धारा बह रही थी उसकी खिल्ली उड़ायी है। जब श्रीकृष्ण ब्रज के प्रति अपना अनन्य अनुराग व्यक्त करने लगे तो इसे सुनकर उद्धव जी मुस्कराने लगे। उनकी मुस्कराहट को श्रीकृष्ण ने भाँप लिया।

व्याख्या—श्रीकृष्ण ने देखा कि उनकी बातों पर उद्धव जी मुस्करा रहे हैं—इस मुस्कराहट में वास्तविक व्यंजना यह है कि श्रीकृष्ण पारब्रह्म होकर भी ब्रजवासियों के झूठे और लौकिक प्रेम में विह्वल हो रहे हैं। उद्धव की बातों पर विचार करते हुए श्रीकृष्ण ने मन ही मन यह कहा कि जो मैं सोच रहा था वही बात आज सत्य हो गयी, अर्थात् सोच यह रहा था कि ब्रजवासियों के प्रेम-प्रसंग को तो प्रस्तुत कर रहा हूँ, किन्तु इसका प्रभाव इस नीरस और ज्ञानी पुरुष पर कुछ

भी नहीं पड़ेगा। पुनः वाणी द्वारा वे प्रेम की चर्चा करते हुए अपनी मनःस्थिति को व्यक्त करने लगे और कहने लगे, 'हे उद्धव मुझे ब्रज की बातें भूलती नहीं और इनके कारण रात में सोते समय (सुप्तावस्था में) चलते समय और जागृत अवस्था में मेरा मन अन्य विषयों में नहीं लगता। वस्तुतः मेरा प्राण तो वहीं रहता है जहाँ नंद जी, यशोदा जी और ब्रज के नर-नारी रहते हैं—दूसरे शब्दों में मेरे मन में इनके प्रेम के अतिरिक्त अन्य विषयों में किसी भी प्रकार की रुझान या रुचि नहीं रहती मात्र इन्हीं में तन्मय रहता हूँ। इसके अनन्तर वे कहने लगे, हे उद्धव, मन लगाकर सुनो मैं तुमसे रस रीति (प्रेमतत्व) की चर्चा कर रहा हूँ—सूरदास के शब्दों में वह रसरीति यह है कि मेरे चित से राधिका का प्रेम किसी भी प्रकार से दूर नहीं हो रहा है—मैं उस प्रेम को भूलना चाहता हूँ, किन्तु वह कदापि भूलता नहीं (आशय यह है कि अन्यों के प्रेम को भले ही कुछ क्षणों को भूल जाऊँ लेकिन प्रेम-मूर्ति और ब्रह्म की आह्लादिनी शक्ति राधा को कैसे भुलाया जा सकता है)।

टिप्पणी—

(1) इसमें वात्सल्यमूलक रति के साथ ही अन्तिम पंक्ति में दाम्पत्य रति की सुंदर अभिव्यक्ति हुई है।
(2) स्मृति संचारी की प्रधानता है।
(3) 'मुस्कात' में विशिष्ट व्यंजना का प्रयोग।
(4) रस रीति में प्रेमतत्व की महिमा का संकेत है।

राग सारंग

सखा ! सुनो मेरी इक बात।
वह लतागन संग गोपिन सुधि करत पछितात ॥
कहाँ वह वृषभानु तनया परम सुंदर गात।
सुरति आए रासरस की अधिक जिय अकुलात।
सदा हित यह रहत नाहीं सकल मिथ्या-जात।
सूर प्रभु यह सुनौ मोसों एक ही सों नात ॥ 6 ॥

शब्दार्थ—परम सुंदर गात = अतिशय सुंदर शरीर वाली (सुंदरी)। सुरति आए = स्मरण होने पर। रास रस = रास का आनन्द। हित = प्रेम (यह प्रेम क्षणभंगुर है)। सकल मिथ्या जात = सभी चीजें भ्रमजनित हैं। एक ही सों नात = एक मात्र पारब्रह्म से ही सच्चा नाता होता है (यह कथन कृष्ण-प्रति उद्धव का है)।

संदर्भ—इसमें उद्धव जी ने श्रीकृष्ण द्वारा कथित ब्रजवासियों की प्रेम महिमा का खण्डन किया है और यह स्पष्ट रूपेण घोषित किया है कि एक मात्र पारब्रह्म का ही सच्चा सम्बन्ध होता है, अन्य सभी चीजें भ्रम से उत्पन्न हैं।

व्याख्या—(श्रीकृष्ण का उद्धव-प्रति कथन) हे मित्र, मेरी एक बात सुनिये, (एक बात से आशय यह है कि अनर्गल और झूठी बातों को छोड़कर एक तथ्य की बात बतायी जा रही है—वह तथ्य है प्रेमोत्कर्ष का स्वरूप।) जब मैं कुंज की लताओं और उन लताओं में गोपियों के संग की गयी सरस क्रीड़ा का स्मरण करता हूँ तो पछताना पड़ता है—यद्यपि मथुरा में सभी

भौतिक सुख उपलब्ध हैं, परन्तु गोपियों के साथ क्रीड़ा करने में जो सुख मिलता था वह यहाँ कहाँ—इस अभाव को याद करके पश्चाताप करना पड़ता है। अब यहाँ उस सुंदरी राधा का दर्शन कहाँ और जब रासमण्डल की याद आती है—जिसमें राधा और गोपियों के साथ नृत्य में भाव-विभोर हो जाता था तो मेरा मन अति व्याकुल हो जाता है। श्रीकृष्ण की इस व्याकुलता भरी बातों को सुनकर उद्धव ने कहा—हे कृष्ण, यह लौकिक प्रेम सदैव नहीं रहता, यह क्षणभंगुर और असत्य है—और ये सब मिथ्या (भ्रम) जनित है। तात्पर्य यह है कि संसार से सम्बन्धित सभी बातें झूठी और भ्रमात्मक हैं। हे प्रभु, मुझसे यह सत्य-सत्य जान लो कि एक मात्र ब्रह्म का नाता सच्चा है, शेष मिथ्या है (जगन्मिथ्या)।

टिप्पणी—

(1) इसमें कृष्ण की वियोग-विह्वलता का सच्चा और मार्मिक चित्र अंकित हुआ है।

(2) संचारी भाव की दृष्टि से इसमें चिन्ता, विषाद और स्मृति संचारियों का प्रयोग हुआ है।

(3) अन्तिम पंक्ति में शंकर के अद्वैत दर्शन की झलक है जिसमें कहा गया है 'जगन्मिथ्या'।

राग टोड़ी

उद्धव यह मन निस्चय जानो।
मन क्रम बच मैं तुम्हें पठावत ब्रज को तुरत पठानो ॥
पूरन ब्रह्म, सकल अबिनासी ताके तुम हौ ज्ञाता।
रेख, न रूप, जाति, कुल नाहीं जाके नहिं पितु माता ॥
यह मत दै गोपिन कहँ आवहु बिरह-नदी में भासति।
सूर तुरत यह जाय कहौ तुम ब्रह्म बिना नहिं आसति ॥ 7 ॥

शब्दार्थ—तुरति पठानो = शीघ्र प्रस्थान करो। भासति = डूब रही हैं। विरह नदी = विरह रूपी नदी में। आसति = आसक्ति, मुक्ति।

सन्दर्भ—श्रीकृष्ण उद्धव जी को ब्रज भेज रहे हैं। इस भेजने से दो प्रयोजनों की सिद्धि होगी—(1) उद्धव के ज्ञान-गर्व का पतन, (2) ब्रजवासियों को जो वियोग में जल रहे हैं आश्वासन एवं धैर्य मिलेगा।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति श्रीकृष्ण का कथन) हे उद्धव, तुम अपने मन में यह निश्चय जान लो कि मैं तुम्हें सच्चे मन से (मनसा-वाचा-कर्मणा) ब्रजमंडल भेज रहा हूँ। ब्रजमंडल भेजने का अभिप्राय यह है कि बहुत समय से ब्रजवासियों का समाचार नहीं मिला है और उनका ठीक-ठीक समाचार लाने में तुम्हारे समान मैं किसी अन्य को उपयुक्त नहीं समझता। अतः तुम निस्संकोच ब्रज के लिए शीघ्र प्रस्थान कर दो। पुनः तुम तो पूर्ण, अखण्ड एवं अविनाशी ब्रह्म के ज्ञाता (मर्मज्ञ) हो—ब्रह्म ज्ञान के पूर्ण पंडित हो और ऐसे ब्रह्म के बारे में जानते हो जो मातृ-पितृविहीन है और रूप रेखा (आकाररहित) जाति-गोत्र से सर्वथा मुक्त है अर्थात् वह ब्रह्म जो निराकार सूक्ष्म, निरुपाधि और गुणातीत है। ऐसे ब्रह्म का मर्म तुम गोपियों को भी समझा आओ जो बिचारी वियोगरूपी नदी में डूब रही हैं—अर्थात् जो वियोग की पीड़ा में दिवा रात्रि डूबी रहती हैं—वियोग के कष्ट से उत्तरोत्तर क्षीण होती जा रही हैं। सूर के शब्दों में उद्धव-प्रति श्रीकृष्ण का

कथन है—हे उद्धव, इस कार्य के लिए तुम तुरन्त जाओ और उन्हें बतला देना कि बिना निर्गुण ब्रह्मोपासना के सांसारिक मुक्ति संभव नहीं अर्थात् ब्रह्मज्ञान से ही मोक्ष (आवागमन से छुटकारा) संभव है—प्रेम और भक्ति से नहीं।

टिप्पणी—

(1) 'विरह नदी में भासति' में निरंग रूपक और 'यह मत गोपिन दै आवहु' में पर्यायोक्ति अलंकार है। इसके साथ ही इसमें व्यंग्य गर्भित उक्ति की प्रधानता है।

(2) इसमें तत्कालीन सगुण और निर्गुणोपासना विषयक द्वंद्व का भी संकेत है।

(3) गोपियों के वियोग से संतप्त श्रीकृष्ण के व्यथित हृदय की मार्मिक व्यंजना भी हुई है।

राग नट

उद्धव बेगि ही ब्रज जाहु।
सुरति सँदेस सुनाय मेटो बल्लभिन को दाहु॥
काम पावक तूलमय तन बिरह-स्वास समीर।
भसम नाहिंन होन पावत, लोचनन के नीर॥
अजौं लौं यहि भाँति ह्वैहै, कछुक सजग सरीर।
इते पर बिनु समाधाने, क्यों धरै तिय धीर॥
कहौं कहा बनाय तुमसों सखा साधु प्रबीन ?
सूर सुमति बिचारिए क्यों जियैं जल बिनु मीन॥ 8 ॥

शब्दार्थ—सुरति = प्रेम । बल्लभिन = बल्लभी (प्यारी)—यहाँ गोपियों से अभिप्राय है। दाहु = संताप, पीड़ा। काम पावक = कामाग्नि। तूलमय = रुई सदृश (अत्यंत कोमल)। लोचनन के नीर = आँसू। अजौं लौं = आज तक। सजग सरीर = जीवित शरीर। इते पर = इतने पर भी। समाधाने = धैर्य, आश्वासन। तिय = गोपियों से अभिप्राय है।

सन्दर्भ—गोपियों के प्रेम में व्यथित श्रीकृष्ण उद्धव से शीघ्र ब्रज प्रस्थान करने को कह रहे हैं इसके साथ ही इस पद में गोपियों की वियोगावस्था का एक मार्मिक स्मृति बिम्ब प्रस्तुत किया गया है।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति श्रीकृष्ण का कथन) हे उद्धव, तुम शीघ्र ही ब्रज के लिए प्रस्थान करो और प्रेम संदेश सुनाकर गोपियों के वियोग-जनित पीड़ा को दूर करो—शीघ्र प्रस्थान करने का आशय यह है कि अब गोपियाँ श्रीकृष्ण के वियोग-कष्ट को और अधिक बर्दाश्त नहीं कर सकतीं। प्रेम संदेश सुनने पर गोपियों की वियोग-ज्वाला का शमन निश्चय ही हो जाएगा। पुनः कृष्ण गोपियों की वियोगावस्था का कथन करते हुए कह रहे हैं कि उनका शरीर रुई के समान अत्यंत कोमल है, अतः कामाग्नि से वह शीघ्र भस्म हो सकता है और वियोग के स्वांस पवन से तो यह कामाग्नि अधिक प्रज्ज्वलित हो सकती है, किन्तु नेत्रों के जल (अश्रु) के कारण यह भस्म नहीं हो पा रहा है। मेरा अनुमान है कि अभी तक गोपियों का शरीर इसी अवस्था में कुछ जीवित (सुरक्षित) होगा और ऐसी दारुण दशा में भी यदि उन्हें किसी भी प्रकार का आश्वासन नहीं मिलेगा तो वे गोपियाँ कैसे धैर्य धारण कर सकेंगी ? हे उद्धव, तुमसे मैं बहुत बनाकर उनके

सम्बन्ध में अधिक क्या कहूँ। उनकी मार्मिक दशा का वर्णन वाणी द्वारा संभव नहीं, वह तो प्रत्यक्ष देखने पर ही ज्ञात हो सकती है। पुनः तुम तो सज्जन और प्रवीण हो, व्यंजना यह है कि तुम्हें बहुत समझाने की आवश्यकता नहीं है तुम तो अनुभवी और समझदार हो—तुम्हारे लिए इतना संकेत ही काफी है। हे ज्ञानी उद्धव, भला विचार करो कि क्या पानी के बिना भी मछली जीवित रह सकती है अर्थात् गोपियाँ उन मछलियों के समान हैं जो मेरे प्रेम-जल के क्षीण होने पर कदापि जीवित नहीं रह सकतीं ?

टिप्पणी—

(1) काम पावक . . . . . बिरह स्वास समीर में सांगरूपक अलंकार, सारोपा लक्षणा
(2) 'क्यों धरै तिय धीर' में काकु वक्रोक्ति अलंकार।
(3) अश्रु, विषाद और चिन्ता संचारीभाव की प्रधानता है।
(4) 'प्रवीन' में चतुर और तत्वदर्शी की स्पष्ट व्यंजना है।
(5) वियोग शृंगार का यह एक मार्मिक चित्र है।

राग सारंग

पथिक ! सँदेसो कहियो जाय।
आवैंगे हम दोनों भैया, मैया जनि अकुलाय॥
याको बिलगु बहुत हम मान्यो जो कहि पठयो धाय।
कहँ लौं कीर्ति मानिए तुम्हरी बड़ो कियो पय प्याय॥
कहियो जाय नंद बाबा सों, अरु गहि पकर्‌यो पाय।
दोऊ दुखी होन नहिं पावहिं धूमरि धौरी गाय॥
यद्यपि मथुरा विभव बहुत है तुम बिन कछु न सुहाय।
सूरदास ब्रजवासी लोगनि भेंटत हृदय जुड़ाय॥ 9॥

शब्दार्थ—बिलगु = बुरा। धाय = नौकरानी, दूध पिलाने वाली। पय प्याय = दूध पिलाकर। धूमरि = धुएँ के रंग का (श्यामवर्ण)। धौरी = (सं० धवल) उज्ज्वल। जुड़ाय = प्रसन्न होना।

सन्दर्भ—श्रीकृष्ण किसी पथिक से गोपियों के पास अपना संदेश भेज रहे हैं। 'पथिक' शब्द उद्धव के लिए भी हो सकता है। इस संदेश-प्रेषण में श्रीकृष्ण ने अपने मानस की उस प्रतिक्रिया को व्यक्त किया है जिसमें माता यशोदा ने देवकी के पास इस प्रकार का संदेश दिया था कि 'हौं तो धाय तिहारे सुत की मया करत ही रहियो।'

व्याख्या—(ब्रजमण्डल जाने के लिए प्रस्तुत उद्धव के प्रति श्रीकृष्ण का संदेश) हे पथिक, तुम हमारा यह संदेश ब्रज जाकर कह देना कि हम दोनों भाई (बलराम और मैं) शीघ्र आएँगे और माता यशोदा घबराएँ नहीं (श्रीकृष्ण के लिए माता का हृदय व्याकुल था अतः उन्होंने यह संदेश इस आशय से दिया है कि वे दोनों भाई शीघ्र उनका दर्शन करेंगे और उनकी घबराहट को दूर करेंगे)। तुम यह भी कह देना कि देवकी के पास तुमने जो संदेश भेजा है उसमें अपने को 'धाय' माना है। हमें तुम्हारे धाय के प्रयोग से महान कष्ट हुआ है। व्यंजना यह है कि धाय जैसे नगण्य शब्द के प्रयोग से हमें बहुत बुरा लगा है। आप तो परम पूज्या माता हैं और धाय तो नौकरानी

और सेविका का बोधक है दोनों में महान् अन्तर है। हम तो तुम्हारे उपकार के भार से दबे हुए हैं। तुम्हारे यश का वर्णन कहाँ तक करें, तुमने तो दूध पिलाकर हमें इतना बड़ा किया है। भला, जिसने दूध पिलाकर बच्चा से हमें तरुण बनाया है उसके उपकार को कैसे भूल सकते हैं ?

हे उद्धव, तुम नंद बाबा के पाँव पकड़.कर हमारी ओर से कहना कि हमारी दोनों गाएँ श्याम और उज्ज्वल—दुखी न होने पाएँ—उन्हें किसी भी प्रकार का कष्ट न हो। यद्यपि मथुरा में ऐश्वर्य और वैभव की कमी नहीं है (यहाँ राजकीय वैभव से घिरा हूँ)। किन्तु तुम्हारे बिना वास्तविक सुख नहीं मिलता। कुछ भी अच्छा नहीं लगता। हमारा हृदय तो ब्रजवासियों को भेंटने पर ही शीतल हो पाता है (वास्तविक आनन्द की प्राप्ति होती है) कहने का तात्पर्य यह है कि उन ब्रजवासियों से मिलने पर ही हृदय की पीड़ा और दुख की ज्वाला दूर होगी।

टिप्पणी—

(1) मातृ-प्रेम की उत्कृष्ट व्यंजना की प्रधानता है।
(2) छठवीं पंक्ति में पशु-प्रेम के कारण श्रीकृष्ण के हृदय की विशालता व्यक्त हुई है।
(3) ग्राम्य जीवन की सहजता के प्रति श्रीकृष्ण के हृदय में सच्चा अनुराग है, इसकी व्यंजना सातवीं पंक्ति में हुई है।
(4) धाय शब्द का प्रयोग कृष्ण के लिए असह्य है।
(5) 'नन्द के पाँव पकड़ने' में कृष्ण के दैन्य और पिता नन्द के प्रति पूज्य भावना का संकेत मिलता है।
(6) अन्तिम पंक्ति में प्रयुक्त 'जुड़ात' में शब्द रूढ़ि लक्षणा है।

राग सारंग

नीके रहियो जसुमति मैया।
आवैंगे दिन चार पाँच में हम हलधर दोउ भैया॥
जा दिन तें हम तुमते बिछुरे काहु न कह्यो 'कन्हैया'।
कबहूँ प्रात न कियो कलेवा, साँझ न पीन्ही घैया॥
बंसी बेनु सँभारि राखियो और अबेर सबेरो।
मति लै जाय चुराय राधिका कछुक खिलौनो मेरो॥
कहियो जाय नंदबाबा सों निपट निठुर जिय कीन्हो।
सूर स्याम पहुँचाय मधुपुरी बहुरि सँदेस न लीन्हो॥ 10 ॥

शब्दार्थ—नीके = निश्चिन्त, आनन्दपूर्वक। दिन चार-पाँच में = शीघ्र। घैया = धारोष्ण दूध (थन से सीधी छूटती हुई दूध की धारा)। बेनु = वंशी। अबेर सबेरो = देर या जल्दी। पीन्ही = पिया। मति = कहीं ऐसा न हो। निपट = बिल्कुल। मधुपुरी = मथुरा। सँदेस = खोज-खबर।

संदर्भ—इसमें श्रीकृष्ण ने मुख्यतया अपनी माता के प्रति संदेश प्रेषित किया है और पिता की निष्ठुरता का भी संकेत किया है।

व्याख्या—(यशोदा प्रति कृष्ण का संदेश) श्रीकृष्ण का उद्धव से कथन है—हे उद्धव तुम माता यशोदा से जाकर कह देना कि तुम कुशलपूर्वक (निश्चिन्त) रहो, हम दोनों भाई चार-पाँच

दिन में (अति शीघ्र) आ जाएँगे। हाँ, यह अवश्य है कि जिस दिन से तुमसे अलग हुए हैं (ब्रजमण्डल छोड़कर मथुरा आए हैं) किसी ने हमें 'कन्हैया' कह कर नहीं पुकारा अर्थात् मथुरा आने पर 'कन्हैया' जैसा वात्सल्य भरा शब्द पुनः सुनने को नहीं मिला। यही नहीं, तुम जिस प्रकार प्रातःकाल होते ही कलेवा देती थी उस तरह यहाँ कभी कलेवा (मक्खन और रोटी का भोजन) नहीं किया। वास्तव में यह परिस्थितियों की विषमता ही है कि कलेवा का सुख यहाँ न मिल सका। प्रातःकाल के भोजन की यह दशा थी और सन्ध्या समय जो हमें धारोष्ण दूध-पान करने का अवसर ब्रज में मिलता था, वह भी यहाँ नहीं मिला। हे माता, मेरी बंशी ब्रेणु को सँभाल कर रखना, क्योंकि वह मुझे अतिशय प्रिय है और कहीं ऐसा न हो कि किसी समय मौका पाकर मेरे कुछ खिलौनों को राधिका चुरा ले जाय। कुछ खिलौनों से आशय यह है कि वैसे तो मेरे सभी खिलौने अच्छे और मुझे प्रिय हैं किन्तु कुछ विशिष्ट-खिलौने ऐसे हैं जो मुझे सबसे अधिक प्रिय हैं। पुनः नन्द की निष्ठुरता का संकेत करते हुए श्रीकृष्ण का कथन है कि हे उद्धव, नन्द बाबा से जाकर कह देना कि तुमने तो अपने हृदय को अतिशय निष्ठुर बना लिया (तुम तो सर्वथा निष्ठुर हो गये), क्योंकि सूर के शब्दों में जब से मुझे मथुरा पहुँचा कर लौटे हैं कभी फिर से मेरी खोज-खबर नहीं ली। यह तुम्हारी निष्ठुरता का ज्वलन्त प्रमाण है।

टिप्पणी—

(1) इसमें गोपियों की प्रेम-व्यंजना के साथ ही कृष्ण के सहज प्रेम के उदात्त स्वरूप की मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है। श्रीकृष्ण मथुरा के राजा हो जाने पर भी अपनी बाल-स्मृतियों से जुड़े हुए हैं। खिलौनों और वंशी को वे तरुण हो जाने पर भी भूल नहीं सके हैं। वस्तुतः सूरदास का हृदय कृष्ण की बाल-लीला और उनकी सहज चपलता के चित्रण में जितना रमता था, उतना अन्य विषयों में नहीं।

(2) 'मति लै जाय चुराय राधिका' में माधुर्यभाव की सहज झलक देखी जा सकती है।

(3) पाँचवीं पंक्ति में सूर ने बंशी और वेणु का प्रयोग एक ही अर्थ में किया है। इसे कुछ लोगों ने पुनरुक्ति दोष माना है। मेरी समझ में यह युग्मक प्रयोग है और इसे बहुत से कवियों ने ग्रहण किया है। यथा—बैहर बतास लौं उसास अधिकाने में—रत्नाकर।

(4) अबेर-सबेर मुहावरे के रूप में प्रयुक्त है।

(5) 'काहू न कह्यो कन्हैया' में वात्सल्य भाव की उत्कृष्ट व्यंजना हुई है।

(6) स्मृति संचारी के माध्यम से भाव-बिम्बों को सूर ने बड़ी कुशलता के साथ उरेहा है।

राग कल्याण

उद्धव मन अभिलाष बढ़ायो।
जदुपति जोग जानि जिय साँचों नयन अकास चढ़ायो॥
नारिन पै मोको पठवत हौ कहत सिखावन जोग।
मन ही मन अब करत प्रसंसा है मिथ्या सुख-भोग॥
आयुस मानि लियो सिर ऊपर प्रभु-आज्ञा परमान।
सूरदास प्रभु पठवत गोकुल मैं क्यों कहौं कि आन॥ 11 ॥

शब्दार्थ—अभिलाष बढ़ायो = आनन्दोल्लास में झूमने लगे। जोग = योग-मार्ग, नयन

अकास चढ़ायो = नेत्रों को आकाश की ओर घुमाया—ऊपर की ओर देखने लगे। परमान = प्रमाण। आन = अन्य बातें।

सन्दर्भ—श्रीकृष्ण की बातों को सुनकर उद्धव ज्ञान-गर्व से फूल उठे और ब्रज जाने के लिए प्रस्तुत हो गये।

व्याख्या—श्रीकृष्ण के प्रेम-भाव को जानकर उद्धव जी अपने मन में अनेक आनंद की अभिलाषाएँ बढ़ाने लगे। तात्पर्य यह है कि परोक्ष रूप में अपने ज्ञान की महिमा को जानकर वे बहुत ही प्रसन्न हुए। अब श्रीकृष्ण के द्वारा प्रतिपादित योग-मार्ग को ही मन में सच्चा समझकर वे आकाश की ओर देखने लगे (आकाश की ओर देखने से उनकी आनन्द और गर्व मुद्रा का संकेत मिलता है) तात्पर्य यह है कि उद्धव को यह आभास हो गया कि हमारा यह ज्ञान-मार्ग ही सच्चा है इसी से श्रीकृष्ण हमें गोपियों को योग की बातें सिखाने के लिए ब्रजमण्डल भेज रहे हैं। और वे इस बात की मन ही मन प्रशंसा करने लगे कि श्रीकृष्ण ने भी स्वतः संसार के सुख-भोग को मिथ्या मान लिया। उद्धव जी यह सोच कर श्रीकृष्ण की आज्ञा को शिरोधार्य कर लिया। चूँकि श्रीकृष्ण उनके सखा और स्वामी दोनों ही थे अतः स्वामी की आज्ञा को प्रमाण मान लिया। सूरदास के शब्दों में उद्धव का कथन है कि स्वामी श्रीकृष्ण यदि मुझे जान-बूझकर ब्रज भेजना चाहते हैं तो मैं उनकी बातों का खण्डन करके दूसरी बातें क्यों करूँ आशय यह है कि उद्धव ने यही समझा कि श्रीकृष्ण ज्ञान मार्ग के पोषक हैं और उन्हें ज्ञान का अधिकारी समझकर ही गोपियों के पास भेजना चाहते हैं।

टिप्पणी—

(1) 'नयन अकास चढ़ायो' में जहाँ मुहावरे का बोध होता है, वहीं सूर की चित्रात्मक शैली का भी आभास होता है।

(2) उद्धव-प्रति श्रीकृष्ण की व्यंग्यगर्भित शब्दावली का प्रयोग।

(3) तत्कालीन प्रेम-मार्ग की तुलना में ज्ञान मार्गियों द्वारा ज्ञानमार्ग की महत्ता का संकेत।

(4) द्वितीय पंक्ति में 'ज' वर्ण की क्रमशः आवृत्ति के कारण छेकानुप्रास है और 'नयन अकास चढ़ायो' में सम्बन्धातिशयोक्ति अलंकार है।

उद्धव के प्रति कुब्जा के वाक्य

राग सारंग

सुनियो एक सँदेसो ऊधो तुम गोकुल को जात।
ता पाछे तुम कहियो उनसे एक हमारी बात॥
माता-पिता को हेत जानि कै कान्ह मधुपुरी आए।
नाहिन स्याम तिहारे प्रीतम, ना जसुदा के जाए॥
समुझौ बूझौ अपने मन में तुम जो कहा भली कीन्ही।
कहँ बालक, तुम मत्त ग्वालिनी सबै आप-बस कीन्ही॥
और जसोदा माखन-काजै बहुतक त्रास दिखाई।
तुमहिं सबै मिलि दाँवरि दीन्ही रंच दया नहिं आई॥

अरु वृषभानु सुता जो कीन्ही सो तुम सब जिय जानो।
याही लाज तजी ब्रज मोहन अब काहे दुख मानो ॥
सूरदास यह सुनि सुनि बातें स्याम रहे सिर नाई।
इत कुब्जा उत प्रेम ग्वालिनी कहत न कछु बनि आई ॥ 12 ॥

शब्दार्थ—हेत = प्रेम। जाए = पुत्र। मधुपुरी = मथुरा। मत्त = मस्त। त्रास = भय, दुख। दाँवरि दीन्हीं = रस्सी से बाँधा। रंच = थोड़ा। नाई = झुकाए हुए।

प्रसंग—जब कुब्जा ने यह सुना कि उद्धव कृष्ण के कहने पर गोपियों को संदेश देने के लिए ब्रजमण्डल जा रहे हैं, तो उसने उद्धव को अपने महल में बुला लिया और कहा कि कृष्ण के सन्देश के बाद मेरा भी एक सन्देश दे देना।

व्याख्या—(कुब्जा का उद्धव से कथन) हे उद्धव, तुम तो गोकुल जा रहे हो, अतः एक संदेश मेरा भी लेते जाओ। जब तुम कृष्ण का सन्देश गोपियों को दे देना तब उनसे एक हमारी बात भी कह देना। उनसे यह कहना कि माता-पिता (देवकी और वसुदेव से अभिप्राय है) के प्रेम को जानकर ही श्रीकृष्ण मथुरा आये थे। तुम्हें जानना चाहिए कि श्रीकृष्ण न तो तुम्हारे प्रियतम हैं और न वे यशोदा के पुत्र ही हैं। यदि ऐसा तुम समझती हो तो यह तुम्हारा भ्रम है। जरा, तुम अपने मन में समझो और विचार करो कि तुमने श्रीकृष्ण के साथ क्या भला (अच्छाई) किया है ? (कौन-सा अच्छा व्यवहार किया है) कहाँ तुम वयप्राप्त मस्त अहीरिनी और कहाँ वे 'श्रीकृष्ण'। अबोध बालक, फिर भी तुमने उन्हें अपने वश में कर लिया था (तुम्हें इस प्रकार का अनुचित सम्बन्ध नहीं स्थापित करना चाहिए था)। यही नहीं, माता यशोदा ने तुच्छ मक्खन के लिए श्रीकृष्ण को बहुत कष्ट दिया और तुम सब गोपियों ने मिलकर उन्हें बाँधने के लिए रस्सी लाकर दी (उन्हें कष्ट देने में तुम्हारा भी बहुत बड़ा हाथ था)। जरा, विचार करो, तुम्हें ऐसा करने में थोड़ी भी दया नहीं आयी। छोटे बच्चे के प्रति दया प्रदर्शित करने के बजाय तुमने उन्हें रस्सी से बँधवाया। इसके साथ ही राधा ने उनके साथ जो व्यवहार किया उसे तुम अच्छी तरह जानती हो। तात्पर्य यह है कि राधा ने भी मानिनी के रूप में श्रीकृष्ण को काफी परेशान किया, मान करने पर जल्दी मानती नहीं थी। ये ही सब कारण थे जिससे लज्जित होकर श्रीकृष्ण ने ब्रज मण्डल को त्याग दिया। अब ब्रज त्याग देने पर तुम सब दुखित क्यों होती हो ? तात्पर्य यह है कि तुमने यदि उनके साथ इस प्रकार का व्यवहार न किया होता तो श्रीकृष्ण ब्रजमण्डल छोड़कर यहाँ क्यों आते ? कुब्जा के इस प्रकार उपालम्भ की बातें सुन-सुन कर श्रीकृष्ण ने अपना मस्तक झुका लिया और दुविधा में पड़ गये। श्रीकृष्ण की मानसिक स्थिति ऐसी विचित्र हो गयी कि उनसे कुछ कहते न बना, क्योंकि इधर कुब्जा का प्रेम था उधर गोपियों का प्रेमाकर्षण। वास्तव में यह उनकी असमंजस की स्थिति थी।

टिप्पणी—

(1) इसमें कुब्जा के असूया संचारी भाव की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है।

(2) श्रीकृष्ण के अन्तर्द्वन्द्व (internal conflict) का इसमें अच्छा संकेत है।

(3) कुब्जा का यह प्रसंग कथा के अनुक्रम को जोड़ नहीं पाता। इसके पूर्वापर पदों को जोड़ देने से कथा के अनुक्रम में व्यवधान न उत्पन्न होता। 'भ्रमरगीत सार' में ऐसे कुछ पदों को छोड़ देने से इस प्रकार के पद कुछ अस्वाभाविक से लगते हैं।

(4) ब्रजवासियों के प्रति कुब्जा का यह उपालम्भ काफी तीक्ष्णता लिए हुए है।

उद्धव का ब्रज में आना

राग मलार

कोऊ आवत है तन स्याम।
वैसेइ पट, वैसिय रथ-बैठनि, वैसिय है उर दाम॥
जैसी हुति उठि तैसिय दौरीं छाँड़ि सकल गृह-काम।
रोम पुलक, गद्‌गद भई तिहि छन सोचि अंग अभिराम॥
इतनी कहत आय गए उधौ, रहीं ठगी तिहि ठाम।
सूरदास प्रभु ह्याँ क्यों आवैं बँधे कुब्जा रस स्याम॥ 13 ॥

शब्दार्थ—दाम = माला। जैसी हुति = जिस मुद्रा में थी। तिहि ठाम = उसी स्थान पर। रस = प्रेम। तन स्याम = श्याम शरीर वाला। बैठनि = बैठने का ढंग। वैसिये = उसी प्रकार रोम-पुलक = रोमांच होना। अभिराम = सुंदर। पट = यहाँ पीताम्बर से तात्पर्य है।

सन्दर्भ—उद्धव को दूर से आते हुए देखकर गोपियों को ऐसा लगा मानो श्रीकृष्ण ही यहाँ पधार रहे हैं। लेकिन जब समीप से देखा तो प्रतीत हुआ कि ये कृष्ण नहीं हैं, उद्धव हैं। उद्धव को देखने पर उन्हें बहुत बड़ी निराशा हुई।

व्याख्या—कोई गोपी किसी गोपी से कह रही है—हे सखी, श्याम वर्ण का (श्याम शरीर वाला) कोई इधर आ रहा है (ऐसा लगता है कि श्रीकृष्ण पधार रहे हैं)। क्योंकि उसी तरह का इसका पीताम्बर है और रथ पर बैठने का ढंग भी उसी तरह का है। तात्पर्य यह है कि जब श्रीकृष्ण अक्रूर के साथ रथ पर बैठ कर मथुरा गये थे तो इसी मुद्रा में वे रथ पर बैठे हुए थे। और क्या देखती हूँ कि उनकी छाती पर वैजयन्ती की माला भी उसी तरह की है अर्थात् कृष्ण की भाँति ये माला भी धारण किए हुए हैं। गोपियाँ उस व्यक्ति को देखकर जिस अवस्था (मुद्रा) में थीं, उसी अवस्था में अपने घर के सब काम-काज को छोड़ कर दौड़ पड़ीं। और उस व्यक्ति (उद्धव) के सुन्दर अंग को श्रीकृष्ण जैसा विचार कर (स्मरण करके) रोमांचित एवं गद्‌गद हो गयीं (हर्षातिरेक में डूब गयीं)। उद्धव को जब वे सब दूर से देखकर यही कह रही थीं कि श्रीकृष्ण पधार रहे हैं तो उसी बीच इतना कहते ही उद्धव जी आ गये। श्रीकृष्ण के स्थान पर उद्धव को देखकर गोपियों को इतनी अधिक निराशा हुई और उनका विषाद इतना बढ़ गया कि वे जड़वत जहाँ थीं उसी स्थान पर ठगी जैसी रह गयीं। और यही सोचने लगीं कि भला कुब्जा के प्रेम-पाश में बँधे श्रीकृष्ण यहाँ क्यों आने लगे ? निराशा की यह झलक सूर के कई पदों में दृष्टिगत होती है।

टिप्पणी—

(1) प्रथम एवं द्वितीय पंक्ति में भ्रांतिमान अलंकार है।
(2) तीसरी पंक्ति में हड़बड़ी का बहुत स्वाभाविक गत्यात्मक (Dynamic) चित्र अंकित किया गया है। इसके साथ इसमें औत्सुक्य संचारीभाव है।
(3) चौथी पंक्ति में हर्ष, रोमांच और स्मृति संचारीभाव की प्रधानता है।
(4) पाँचवीं पंक्ति में जड़ता संचारी भाव है।
(5) छठवीं पंक्ति में असूया संचारी भाव है।

उद्धव का ब्रज में दिखाई पड़ना

राग मलार

है कोई वैसीई अनुहारि।
मधुबन तें इत आवत, सखि री ! चितौ तु नयन निहारि ॥
माथे मुकुट, मनोहर कुण्डल, पीत बसन रुचिकारि।
रथ पर बैठि कहत सारथि सों ब्रज तन बाँह पसारि ॥
जानति नाहिंन पहिचानति हौं मनु बीते जुग चारि।
सूरदास स्वामी के बिछुरे जैसे मीन बिनु बारि ॥ 14 ॥

शब्दार्थ—अनुहारि = समान आकृति, बनावट। मधुबन = मथुरा। चितौ = देख। नयन निहारि = भर नेत्रों से। पीत बसन = पीताम्बर। रुचिकारी = रुचि, सुंदर। सारथि = रथ चलाने वाला। ब्रज तन = ब्रज की ओर। बाँह पसारि = हाथ फैलाकर। बारि = जल।

सन्दर्भ—रथारूढ़ मथुरा से आते हुए उद्धव को दूर से देखकर गोपियाँ अनुमान करती हैं कि मानों श्रीकृष्ण ही चले आ रहे हैं।

व्याख्या—(सखी का सखी-प्रति कथन) हे सखी, कोई उसी आकृति (बनावट का प्रतीत हो रहा है अर्थात् जैसी आकृति श्रीकृष्ण की थी ठीक उसी आकृति (बनावट) का यह भी है। यह मथुरा से इधर ही आ रहा है। उसे भर नेत्रों से ध्यानपूर्वक देखो। उसके मस्तक पर मुकुट, कानों में सुन्दर कुण्डल है और वह अपने शरीर पर सुन्दर पीताम्बर धारण किए हुए है। वह रथ पर बैठकर ब्रज की ओर अपने हाथ फैलाकर अपने सारथी से कुछ कह रहा है व्यंजना यह है कि वह हमी लोगों की चर्चा कर रहा है। हे सखी, यद्यपि मैं उसे जानती नहीं, परन्तु वह कुछ परिचित-सा लगता है और ऐसा लगता है कि इसे देखे चार युग (बहुत समय) बीत गये (इसी से आकृति को देखकर ही परिचित लगता है, परन्तु यह कौन है इसको विस्तृत रूप में नहीं जानती)। सूरदास के शब्दों में अपने स्वामी श्रीकृष्ण से बिछुड़ जाने पर गोपियाँ उसी प्रकार व्याकुलमना हैं जैसे जल के बिना मछली।

टिप्पणी—

(1) इसमें भ्रांतिमान और स्मरण अलंकार की प्रधानता है।
(2) स्मृति बिम्ब का यह एक सुन्दर उदाहरण है।
(3) 'मनु बीते जुग चारि', में उत्प्रेक्षा 'जैसे मीन बिनु वारि' में दृष्टान्त अलंकार है।
(4) वितर्क संचारीभाव की प्रधानता है।
(5) रथ पर बैठि . . . . . बाँह पसारि में चाक्षुष बिम्ब और अनुभाव विधान का सुन्दर चित्रण हुआ है।
(6) 'माथे मुकुट, मनोहर कुंडल . . . . . रुचिकर' द्वारा उद्धव की शारीरिक वेशभूषा और अलंकृति का एक मनोरम चित्र प्रस्तुत किया गया है।
(7) कुछ लोगों ने 'रुचिकारि' शब्द को कारी रुचि करके श्याम वर्ण अर्थ दिया है।

राग सोरठ

देखो नंदद्वार रथ ठाढ़ो।
बहुरि सखि सुफलकसुत आयो पर्‌यो सँदेह उर गाढ़ो॥
प्रान हमारे तबहिं गयो लै अब केहि कारन आयो।
जानति हौं अनुमान सखी री ! कृपा करन उठि धायो॥
इतने अंतर आय उपँगसुत तेहि छन दरसन दीन्हो।
तब पहिचानि सखा हरिजू को परम सुचित तन कीन्हो॥
तब परनाम कियो अति रुचि सों और सबहिं कर जोरे।
सुनियत रहे तैसई देखे परम चतुर मति-भोरे॥
तुम्हरो दरसन पाय आपनो जन्म सफल करि जान्यो।
सूर ऊधौ सों मिलत भयो सुख ज्यों झख पायो पान्यो॥ 15 ॥

शब्दार्थ—बहुरि = पुनः। सुफलकसुत = अक्रूर। गाढ़ो = अतिशय। इतने अंतर = इसी बीच। उपँगसुत = उद्धव। सुचित = स्वस्थ। परनाम = प्रणाम। अति रुचि सों = प्रेमपूर्वक। चतुर मति भोरे = चतुर बुद्धि वाले और भोले। झख = मछली। पान्यो = पानी।

सन्दर्भ—उद्धव जी का रथ जब नंद के द्वार पर पहुँचा तो गोपियों को यह संदेह हुआ कि कहीं पुनः अक्रूर जी न आ गये हों, क्योंकि एक बार वे कंस के कहने पर ब्रजमण्डल आये थे और अपने साथ कृष्ण और बलराम को रथ पर बैठा कर मथुरा ले गये।

व्याख्या—(गोपियों का परस्पर कथन) हे सखी, देखो तो नन्द के दरवाजे पर एक रथ खड़ा है, लगता है पुनः अक्रूर जी आ गये हैं, क्योंकि वे पहले भी एक बार आए थे और कृष्ण और बलराम को अपने रथ पर बैठा कर ले गये थे।

आज मेरे मन में इस प्रकार का बहुत बड़ा संदेह उत्पन्न हो गया है। उस समय तो वे हमारे प्राण ले गये (प्राण स्वरूप श्रीकृष्ण और बलराम को हमसे छीन कर हमें निष्प्राण बना गये।) और किस लिए आए हैं—अब हमारे पास क्या बचा है जो उसे लेने को पुनः पधारे हैं ? हे सखी, मैं अनुभव कर रही हूँ कि शायद वे मेरे ऊपर इस बार कृपा करने को दौड़ पड़े हैं (व्यंग्यार्थ यह है कि वे अब पुनः हमें चोट पहुँचाने के लिए यहाँ तक आए हैं), इतना परस्पर गोपियाँ सोच रही थीं कि उसी बीच तत्क्षण उद्धव ने आकर गोपियों को दर्शन दिया और गोपियाँ श्रीकृष्ण के मित्र उद्धव को पहचान कर मन और शरीर दोनों से प्रसन्न हुई। भारतीय मर्यादा और शिष्टाचार के अनुरूप गोपियों ने उन्हें प्रणाम किया और प्रेमपूर्वक सबों ने अपने हाथ जोड़े (हाथ जोड़कर उनका सत्कार किया)। और कहने लगीं, जैसा हम लोग आपके सम्बन्ध में सुनती रहीं, वैसा ही आपको बुद्धि में कुशल और हृदय से भोले-भाले रूप में देखा। तुम्हारे दर्शन पा कर हम लोग धन्य हो गयीं और अपने जन्म को सार्थक और सफल समझा। सफल इसलिए समझती हैं कि आप हमारे प्रियतम श्रीकृष्ण के मित्र हैं; सम्बन्ध भावना के कारण जो सुख उन्हें देखने पर मिलता था वही सुख आपको देखकर मिला। सूरदास के शब्दों में उद्धव से मिलकर गोपियों को उसी प्रकार का सुख मिला जैसे पानी के बिना संतप्त मछलियाँ पानी पाकर सुखी हो जाती हैं। कृष्ण के वियोग-ज्वाला में संतप्त गोपियों को उद्धव को देखने पर अपार सुख मिला (श्रीकृष्ण के मिलने की एक बलवती आशा मानस में उत्पन्न हुई)।

टिप्पणी—

(1) दूसरी पंक्ति में शंका संचारी भाव।
(2) 'कृपा करन उठि धाए में' अत्यन्त तिरस्कृत वाक्य ध्वनि।
(3) सातवीं पंक्ति में भारतीय मर्यादा के अनुसार उद्धव का सत्कार किया गया है।
(4) नवीं पंक्ति में सम्बन्ध भावना का निर्वाह किया गया है।
(5) ज्यों झख पायों पान्यों में उपमालंकार है।
(6) 'पान्यों' शब्द का प्रयोग चिन्त्य है। तुकाग्रह के कारण सूर ने पानी का पान्यों कर दिया।

राग सोरठ

कहौ कहाँ तें आए हौ।
जानति हौं अनुमान मनो तुम जादवनाथ पठाए हौ॥
वैसोई बरन, बसन पुनि वैसेइ, तन भूषन सजिल्याए हौ।
सरबसु लै तब संग सिधारे अब का पर पहिराए हौ॥
सुनहु, मधुप ! एकै मन सबको सो तो वहाँ लै छाए हौ।
मधुबन की मानिनी मनोहर तहँहि जाहु जहँ भाए हौ॥
अब यह कौन सयानप ? ब्रज पर का कारन उठि धाए हौ।
सूर जहाँ लौं स्यामगात हैं जानि भले करि पाए हौ॥ 16 ॥

शब्दार्थ—जादवनाथ = श्रीकृष्ण। बरन = वर्ण, रंग। भूषन सजि ल्याए हौ = भूषणों से सज्जित हो। का पर पहिराए हौ = किसे ले जाने के लिए भेजे गये हो। मधुप = भ्रमर (यहाँ उद्धव के लिए यह संबोधित है)। मधुबन = मथुरा। मानिनी मनोहर = कुब्जा के प्रति संकेत। सयानप = चतुराई। स्यामगात = श्याम शरीर वाले। जानि भले करि पाए हौ = अच्छी तरह समझ लिए गये हो। जहाँ लौं = जहाँ तक, जितने।

प्रसंग—इसमें गोपियों ने अपनी व्यंग्यगर्भित वाणी द्वारा यह व्यक्त किया है कि उद्धवजी कहाँ से आए हैं और यहाँ आने का उनका प्रयोजन क्या है ?

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, यह तो बताइए कि आप कहाँ से पधारे हैं ? हमें तो ऐसा लगता है कि तुम्हें यादवनाथ ने मानो यहाँ भेजा है। तुम्हारा वर्ण और वस्त्र (पीताम्बर) भी वैसा ही है जैसा की कृष्ण का है और तुम अपने शरीर पर आभूषण भी उन्हीं की भाँति सज्जित किए हुए हो (पहने हो)। आशय यह है कि इसी रूप-रंगवाले श्रीकृष्ण ने एक बार हम लोगों को धोखा दिया था। शायद उसी वेश में हमें दुबारा ठगने के लिए उन्होंने तुम्हें भेजा है। श्रीकृष्ण तो इसके पूर्व हमारा सब कुछ लेकर चले गये अब किसे ले जाने के लिए तुम भेजे गये हो—तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्ण हम सब के मन को तो पहले ही ले बैठे अब बचा ही क्या है जो दुबारा लेने के लिए तुम्हें भेजा है। हे भ्रमर, सच बात तो यह है कि हमारे पास तो एक ही मन था, उसे लेकर वे मथुरा छा गये (वहीं विराजमान हो गये) अब दूसरा मन हमारे पास कहाँ है ? अब ऐसी स्थिति में यहाँ तुम्हारा प्रयोजन सिद्ध न होगा, अतः उत्तम यही होगा कि तुम मथुरा की उन मानिनी मनोहर सुंदरियों के पास जाओ जिन्हें तुम प्रिय हो (यहाँ 'मानिनी मनोहर' कुब्जा के प्रति स्पष्ट व्यंग्य है)। अब तुम्हारी यह कौन-सी चतुराई है—कौन सी यह

बुद्धिमानी है कि तुम ब्रज में दौड़े चले आए। भला, ब्रज में आने का तुम्हारा कारण क्या है ? सूर के शब्दों में गोपियों का कथन है कि हे उद्धव, हम तो जितने श्याम शरीर वाले हैं सब को भली भाँति जानती हैं अर्थात् तुम धोखे में न रहो कि हम तुम्हारे स्वभाव से अनभिज्ञ हैं। सत्य तो यह है कि श्याम शरीर वाले अक्रूर, कृष्ण और तुम सभी धोखेबाज और प्रवंचक हैं।—तुम जैसे लोग विश्वसनीय नहीं हैं।

टिप्पणी—

(1) 'कापर पहिराए हो, मुहावरे के रूप में एक विशेष प्रयोग।

(2) 'एकैमन सबको' इस भाव का पद अन्यत्र भी मिला है यथा—

ऊधौ मन न भए दस-बीस।
एक हुतो सो गयो स्याम पै, को आराधै ईस॥

उर्दू में भी किसी कवि ने कहा है—

'काश दो दिल होता इश्क में,
एक रख़ता पास अपने, एक देता इश्क में।

(3) 'एक मन' से गोपियों की अटल प्रेम भक्ति का संकेत मिलता है। यह पातिव्रत धर्म की एक सशक्त व्यंजना है।

(4) 'मधुबन की मानिनी मनोहर' में विशेषतया कुब्जा के प्रति वस्तु से वस्तु रूप में व्यंग्य है और इसमें असूया संचारी की झलक मिलती है।

(5) 'जहाँ लौ स्याम गात' में कृष्ण अक्रूर और उद्धव तीनों श्याम वर्ण वालों के प्रति करारी व्यंग्योक्ति प्रस्तुत की गयी है। उद्धव को भ्रमर के रूप में संबोधित करके व्यंग्य को और अधिक उभारा गया है।

(6) 'मधुबन की मानिनी मनोहर' में पर्यायोक्ति अलंकार है—यहाँ अन्य उक्ति से कुब्जा की खबर ली गयी है।

राग नट

ऊधो को उपदेश सुनौ किन कान दै ?
सुन्दर स्याम सुजान पठायो मान दै॥ ध्रुव॥
कोउ आयो उत तायँ जितै नँदसुवन सिधारे।
वहै बेनु-धुनि होय मनो आए नँद प्यारे॥
धाईं सब गल गाजि कै ऊधो देखे जाय।
लै आईं ब्रजनाथ पै हो, आनँद उर न समाय॥
अरघ आरती, तिलक, दूब, दधि माथे दीन्ही।
कंचन-कलस भराय आनि परिकरमा कीन्ही॥
गोप-भीर आँगन भई मिलि बैठे जादवजात।
जलझारी आगे धरी, हो, बूझति हरि-कुसलात॥
कुसल छेम बसुदेव, कुसल देवी कुबजाऊ।
कुसल-छेम अक्रूर, कुसल नीके बलदाऊ॥

पूछि कुसल गोपाल की, रहीं सकल गहि पाय।
प्रेम-मगन ऊधौ भए, हो, देखत ब्रज के भाय॥
मन मन ऊधो कहै यह न बूझिय गोपालहि।
ब्रज के हेतु बिसारि जोग सिखत ब्रजबालहि॥
पाती बाँचि न आवई रहे नयन जल पूरि।
देखि प्रेम गोपीन को, हो, ज्ञान-गरब गयो दूरि॥
तब इत उत बहराय नीर नयनन में सोख्यो।
ठानी कथा प्रबोध बोलि सब गुरू समोख्यो॥
जो ब्रत मुनिवर ध्यावहीं पर पावहिं नहिं पार।
सो ब्रत सीखो गोपिका, हो, छाँड़ि विषय-विस्तार॥
सुनि ऊधो के बचन रहीं नीचे करि तारे।
मनो सुधा सों सींचि आनि विष ज्वाला जारे॥
हम अबला कह जानहीं जोग जुगुति की रीति।
नँदनंदन ब्रत छाँड़ि कै, हो, को लिखि पूजै भीति ?
अबिगत, अगह, अपार, आदि, अवगत है सोई।
आदि निरंजन नाम ताहि रंजै सब कोई॥
नैन नासिका-अग्र है तहाँ ब्रह्म को बास।
अबिनासी बिनसै नहीं, हो, सहज ज्योति परकास॥
घर लागै औघूरि कहे मन कहा बँधावै ?
अपनो घर परिहरे कहो को घरहि बतावै ?
मूरख जादवजात हैं हमहिं सिखावत जोग।
हमको भूलो कहत हैं, हो, हम भूली किधौं लोग ?
गोपिहु तें भयो अंध ताहि दुहुँ लोचन ऐसे !
ज्ञान नैन जो अंध ताहि सूझै धौं कैसे ?
बूझै निगम बोलाइ कै, कहै बेद समुझाय।
आदि अंत जाके नहीं, हो, कौन पिता को माय ?
चरन नहीं भुज नहीं, कहौ, ऊखल किन बाँधो ?
नैन नासिका मुख नहीं, चोरि दधि कौने खाँधो ?
कौन खिलायो गोद में, किन कहे तोतरे बैन ?
ऊधौ ताको न्याव है, हो, जाहि न सूझै नैन॥
हम बूझति सतभाव न्याव तुम्हरे मुख साँचो।
प्रेम-नेम रसकथा कहौ कंचन की काँचो॥
जो कोउ पावै सीस दै ताको कीजै नेम।
मधुप हमारी सौं कहो, हो, जोग भलो किधौं प्रेम॥
प्रेम प्रेम से होय प्रेम से पारहि जैए।
प्रेम बँध्यो संसार, प्रेम परमारथ पैए॥
एकै निहचै प्रेम को जीवन-मुक्ति रसाल।

साँचो निहचै प्रेम को, हो, जो मिलिहैं नँदलाल ॥
सुनि गोपिन को प्रेम नेम ऊधो को भूल्यो।
गावत गुन-गोपाल फिरत कुंजन में फूल्यो ॥
छन गोपिन के पग धरै, धन्य तिहारे नेम।
धाय-धाय द्रुम भेंटही, हो, ऊधो छाके प्रेम ॥
धनि गोपी, धनि गोप, धन्य सुरभी बनचारी।
धन्य, धन्य ! सो भूमि जहाँ बिहरे बनवारी ॥
उपदेसन आयो हुतो, मोहि भयो उपदेस।
ऊधो जदुपति पै गए, हो, किए गोप को बेस ॥
भूल्यो, जदुपति नाम, कहत गोपाल गोसाईं।
एक बार ब्रज जाहु देहु गोपिन दिखराई ॥
गोकुल को सुख छाँड़ि कै, कहाँ बसे हौ आय।
कृपावन्त हरि जानि कै, हो, ऊधो पकरे पाय ॥
देखत ब्रज को प्रेम नेम कछु नाहिन भावै।
उमड्यो नयननि नीर बात कछु कहत न आवै ॥
सूर स्याम भूतल गिरे, रहे नयन जल छाय।
पोंछि पीतपट सों कह्यो, 'आए जोग सिखाय' ? ॥ 17 ॥

शब्दार्थ—किन = क्यों नहीं। उततायँ = वहाँ से। गलगाजि कै = आनंदित होकर (यह ब्रजभाषा का एक मुहावरा है) जादवजात = उद्धव। जलझारी = जल-पात्र। ब्रजराज = नन्द जी। बूझति = पूछती हैं। भाय = भाव ; प्रेम। बूझिय = समझ में आना ; उचित। हेतु = प्रेम। बहराय = बहलाकर। सोख्यो = सुखा लिया। प्रबोध = समझाना, उपदेश देना। समोख्यो = सहेज कर कहा। तारे = पुतली, आँखें। भीति = दीवाल। अविगत = शाश्वत, अज्ञेय। बोलि = बुलाकर। गुरु = गुरु की भाँति। अगह = पकड़ में न आने वाला। आदि अवगत = सर्वप्रथम ज्ञात। रंजै = शोभित होते हैं। नासिका अग्र = नाक का अग्रभाग। घर लागै = ठिकाने लगता है। औघूरि = घूमकर। परिहरै = त्यागकर। किधौं = अथवा। निगम = शास्त्र। खाँधो = खाया (तुक के कारण विकृत प्रयोग)। काँचो = काँच, शीशा। सीस दै = प्राण देकर। सौं = सौगन्ध। परमारथ = स्वर्ग, मोक्ष। निहचै = निश्चय। रसाल = रसमय। नेम = नियम, योग। फूल्यो = प्रसन्न हुए, मग्न हो गये। छाके = मस्त। सुरभी = गाय। बनचारी = जंगल में चरने वाली।

संदर्भ—इस बड़ी रचना में सूर ने कथात्मक शैली के अन्तर्गत संक्षिप्ततः भ्रमरगीत की पूरी बातें बता दी हैं। कथा का वर्णित सारांश यों है—

(1) प्रारम्भ में प्रेम और योग विषयक विवाद को लेकर उद्धव और गोपी संवाद।
(2) गोपियों के प्रेम और भक्ति की विजय और उद्धव की पराजय।
(3) प्रेम-मग्न उद्धव का मथुरा लौटना।
(4) उद्धव द्वारा कृष्ण के समक्ष गोपियों की भक्ति और प्रेम की महत्ता का गुण-गान।
(5) कृष्ण का उद्धव से व्यंग्य गर्भित शैली में यह पूछना कि क्या वे गोपियों को योग सिखा आए ?

व्याख्या—(उद्धव के आगमन पर सभी गोपियाँ शोर मचाती हुई उनके पास पहुँच गयीं और ऐसे शोर गुल में उद्धव जी अपना जो ज्ञान आलापते थे वह सुनाई नहीं पड़ता था। इस पर क़िसी गोपी ने कहा कि) हे सखियो, उद्धव जी जो कुछ कह रहे हैं, उसे ध्यानपूर्वक क्यों नहीं सुनती ? क्या तुम्हें मालूम नहीं है कि इन्हें श्यामसुंदर ने बहुत सम्मानपूर्वक यहाँ भेजा है। अरे, ये तो वहाँ से यहाँ आए हैं जिधर हमारे श्रीकृष्ण गये थे। बंशी की आवाज भी उसी तरह हो रही है, जैसे श्रीकृष्ण किया करते थे। ऐसा लगता है मानो प्रियतम श्रीकृष्ण आ गये हों। उसकी बातों को सुनकर सभी गोपियाँ आनन्दोन्मत्त होकर उधर की ओर दौड़ पड़ीं और जाकर देखा कि उद्धव जी आ गये हैं। वे सब उद्धव जी को नन्द जी के पास ले आयीं और उन्हें देखकर वे सब फूली नहीं समातीं। उन सबों ने उद्धव को अर्घ्य दिया, उनकी आरती उतारी और मस्तक पर दूब और दही का टीका लगाया। यही नहीं, स्वर्ण-घट को जल से भर करके उनकी परिक्रमा की (उनके चारों तरफ घूमीं)। उद्धव के आगमन का समाचार मिलते ही नंद के आँगन में गोपों की बहुत बड़ी भीड़ हो गयी। गोपों के आने पर उद्धव जी सबसे भेंटते थे और भेंट कर बैठ गये। गोपियों ने उद्धव के समक्ष जल-पात्र रख दिया और उनसे कृष्ण का समाचार (कुशल-क्षेम) पूछने लगीं। वे सब वसुदेव, कुब्जादेवी, अक्रूर, बलराम और श्रीकृष्ण का सम्यक् रूपेण कुशल-क्षेम पूछकर उद्धव जी के चरणों को पकड़कर बैठ गयीं। गोपियों की ऐसी प्रेम-विह्वलता और ब्रजवासियों के ऐसे भाव को देखकर उद्धव जी प्रेम-मग्न हो गये (क्योंकि उन्हें ऐसी आशा नहीं थी कि ब्रजवासियों का प्रेम इस कोटि का होगा)। वे मन ही मन कहने लगे कि श्रीकृष्ण की यह बात समझ में नहीं आती कि वे ब्रज-प्रेम को भुलाकर ब्रज-बालाओं को योग की शिक्षा देना चाहते हैं। उद्धव से पत्री पढ़ते नहीं बन रहा है, क्योंकि उनके नेत्र आँसुओं से भर गये हैं (नेत्रों में आँसू आ जाने के कारण पत्री पढ़ने में रुकावट उत्पन्न होती है)। गोपियों की प्रेम-दशा देख कर (उनकी अटल भक्ति और प्रेम के समक्ष) उनके ज्ञान का गर्व नष्ट हो गया। उन्होंने किसी प्रकार इधर-उधर की बातों द्वारा अपने को बहलाया और अपने नेत्रों के आँसुओं को सुखाया। इसके पश्चात् सब को बुलाकर गुरु की भाँति सहेज रखे ज्ञान के उपदेश को बताना आरम्भ किया। उद्धव ने कहा, हे गोपियो, तुम सब विषय वासना के प्रपंच को त्याग कर उस व्रत का (परब्रह्म के चिन्तन) का पालन करो (उस व्रत को सीखो) जिसे श्रेष्ठ मुनिगण सदैव मनन किया करते हैं। और जिसका (जिस ब्रह्म का) पार वे नहीं पाते। उद्धव की ऐसी बातों को सुनकर गोपियों की पुतलियाँ नीचे हो गयीं (उन सबों ने अपनी आँखों को झुका लिया)। उनकी मनोदशा ऐसी लता के समान हो गई जिसे पहले अमृत से सींच कर पुनः विष की ज्वाला से दग्ध कर दिया गया हो (तात्पर्य यह है कि उद्धव ने पहले तो मीठी-मीठी बातें कीं और ऐसी सुधोपम वाणी) द्वारा उन्हें शीतल किया अब ऐसी कटुताभरी वाणी (ज्ञानोपदेश की ऐसी बातों) से उनके मानस को सन्तप्त कर दिया। गोपियों ने उद्धव का उत्तर देते हुए कहा कि हम सब अबला (सामान्य स्त्रियाँ) हैं और योग की युक्तियों को क्या जानें (योगशास्त्र की गम्भीर बातों को क्या समझें ?)। भला, श्रीकृष्ण के व्रत (उनकी प्रेमोवासना) को छोड़कर कौन दीवाल पर चित्र बनाकर उसकी पूजा करे (हम सब तो कृष्ण के रूप की उपासिका हैं, आपके निर्गुण ब्रह्म की कौन उपासना करे ?)। हे उद्धव, तुम्हारा ब्रह्म तो अज्ञेय, अग्राह्य, अपार आदि रूपों में सर्वप्रथम जाना गया है। और जिसका नाम तो आदि निरंजन (मायारहित) है, पर उसे सब प्रसन्न करने की चेष्टा करते हैं दूसरे शब्दों में जो सुख और दुख के विकारों से रहित है उसे कैसे प्रसन्न किया जाय ? इस ब्रह्म का स्थान तो नेत्र और नाक के अग्रभाग में है अर्थात् जो त्रिकुटी में रहता है। यह तो

अविनाशी है और इसका कभी नाश नहीं होता। यह सहज ज्योति (ब्रह्म प्रकाश) रूप है। भला, हम लोगों का मन वहाँ कैसे टिक सकता है। वह तो घूमकर अपने ठिकाने लगता है अर्थात् बलात् यदि इसे ब्रह्मोपासना की ओर लगाते हैं तो यह घूम-फिरकर श्रीकृष्ण के प्रेम में ही तन्मय हो जाता है। इस भटकाव की स्थिति में इस मन का अन्यत्र जाना संभव नहीं है। भला, कोई अपना घर छोड़कर दूसरों को अपना घर कहाँ बतावै ? भाव यह है कि श्रीकृष्णोपासना को त्यागकर अपना सच्चा उपास्य किसे कहे ? अतः उसकी दशा तो उस गृह-विहीन की भाँति हो जाएगी जो इधर-उधर भटकेगा। उद्धवजी तो मूर्ख हैं जो हमें योग की शिक्षा देते हैं। वे हमें भूली (भ्रमित) बताते हैं अर्थात् अज्ञानी समझते हैं, परन्तु हमें तो ऐसा लगता है कि लोग ही भूले हैं—हम नहीं भ्रमित हैं। हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि उद्धव के इस प्रकार दोनों ही नेत्र गोपियों से भी अधिक अंधे हो गये हैं। (उन्हें इन दोनों नेत्रों से सुझाई नहीं पड़ता)। ठीक ही है, जो ज्ञान नेत्र से अंधे हैं—जिनकी बाह्य आँखों के साथ ही हृदय की भी आँखें फूट चुकी हैं, उन्हें कैसे दिखाई पड़ेगा (जिनके चारों नेत्र फूट गये हैं, उन्हें क्या ज्ञात होगा ?)। ये तो शास्त्रोक्त बातों को समझाते हैं (शास्त्र का प्रमाण देते हैं) और समझाकर वेदों की बातें हमसे कहते हैं (वेदों का साक्ष्य मानते हैं), लेकिन हम इनसे पूछती हैं कि जिस ब्रह्म के आदि और अन्त का पता नहीं है, उसके माता-पिता कौन हैं ? भला, यह तो बताओ कि जिसके चरण और मुख नहीं है उसे ऊखली में किसने बाँधा (बिना चरण के वह कैसे बाँधा गया) और नेत्र, नासिका तथा मुखविहीन उसने कैसे दही चुराकर खाया। अर्थात् हमारे कृष्ण ने साकार रूप में ही सभी लीलाएँ कीं, वह निराकार नहीं है। यही नहीं, उन्हें किसने गोद में खिलाया और किसने तुतली वाणी का प्रयोग किया दूसरे शब्दों में यदि वह निराकार है तो उन्हें यशोदा ने अपनी गोद में कैसे खिलाया और उन्होंने अपनी तुतली वाणी में कैसे नंद-यशोदा आदि को रिझाया ? हे उद्धव, ये बातें तो उसके लिए उचित (न्याव) प्रतीत होंगी, जिसे नेत्रों से दिखाई नहीं पड़ता अर्थात् जो अज्ञानी एवं जड़ हैं। लेकिन हम तो सहज भाव से पूछती हैं और इसका सच्चा न्याय तो तुम्हारे मुख से है। इसकी सच्चाई का निरूपण तो तुम्हारे ऊपर छोड़ा गया है अर्थात् तुम इसका क्या न्याय करते हो ? हमारा कथन यह है कि हमने प्रेम (प्रेम कथा) और तुम्हारे नियम (योग) में कौन स्वर्ण (अधिक कीमती—महार्घ) है और कौन काँच (नगण्य) है ? अरे, योग तथा नियम की साधना तो उसके लिए करनी चाहिए जिसे सिर देकर भी प्राप्त किया जा सके अर्थात् कठिन साधना से जो मिल सके, लेकिन तुम्हारे निर्गुण ब्रह्म की बात ही भिन्न है, उसे सिर देकर भी प्राप्त नहीं किया जा सकता। पुनः गोपियाँ उद्धव से पूछती हैं, हे उद्धव, तुम्हारी कसम है, यह बताएँ कि योग और प्रेम में कौन उत्तम है (किसकी साधना सहज साध्य है ?)। वास्तव में प्रेम तो प्रेम से होता है अर्थात् प्रेम-मार्ग के अवलम्ब से प्रेम की प्राप्ति होती है और प्रेम-मार्ग से ही भवसागर से पार लगा जा सकता है। देखा जाय तो सारा जगत प्रेम के बंधन में बँधा है (यहाँ सब प्रेम का नाता है) और प्रेम से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। निश्चय ही एक मात्र प्रेम से ही रसमय जीवन का मोक्ष प्राप्त होता है (मोक्ष सदृश आनन्दमय जीवन की प्राप्ति होती है) सच्चा और अटल प्रेम से ही नन्दलाल की प्राप्ति भी होगी। गोपियों की ऐसी अटल भक्ति और प्रेम को जानकर उद्धव को अपना नियम (योग-मार्ग) भूल गया और वे श्रीकृष्ण के गुणों को गाते हुए कुंजों में आनन्दमग्न घूमने लगे। वे क्षण में गोपियों के चरण पकड़ते और कहते कि हे गोपियो, तुम्हारा यह प्रेम धन्य है, तुम महान हो, और कभी प्रेमोन्मत्त होकर दौड़-दौड़ कर ब्रजमंडल के वृक्षों को भेंटने लगते (यहाँ कृष्ण के सम्बन्ध भाव से वे वृक्षों कोआलिंगित करते थे)। और कहते गोपी

धन्य हैं, गोप धन्य हैं, और बन में चरने वाली ये गायें धन्य हैं और वह ब्रजभूमि भी धन्य (महान्) है जहाँ श्रीकृष्ण विचरण करते रहे। मैं तो यहाँ गोपियों को ज्ञान का उपदेश देने आया था, किन्तु इसके विपरीत आज गोपियों के प्रेम का उपदेश मुझे मिला। अर्थात् मैं ज्ञानोन्माद में भ्रमित था, लेकिन गोपियों के सच्चे मार्ग से मुझे शान्ति मिली। इस प्रकार उद्धव जी गोप-वेश में श्रीकृष्ण के पास मथुरा गये और वहाँ वे श्रीकृष्ण के यदुपति नाम को भूल गये तथा उन्हें 'गोपाल गोसाईं' कहने लगे। वे श्रीकृष्ण से कहने लगे आप एक बार पुनः ब्रज जाकर गोपियों को दर्शन दें। तुम भला, गोकुल के ऐसे सुख को छोड़कर यहाँ कहाँ आकर बस गये। इतना कहकर श्रीकृष्ण को भक्तवत्सल जानकर उनके चरणों को उद्धव जी ने पकड़ लिया (वे मन ही मन में अपने ज्ञान-गर्व से अतिशय लज्जित हुए) उद्धव को अब ब्रज-प्रेम को देखते हुए अपनी योग-साधना अच्छी नहीं लगती। वे प्रेम में इतने गद्गद हो गये कि उनके नेत्रों में प्रेमाश्रु भर गया और उनसे कुछ कहते न बना (उनकी वाणी रुक गयी) वे प्रेम-विह्वल अवस्था में श्रीकृष्ण के समक्ष पृथ्वी पर गिर पड़े। श्रीकृष्ण ने अपने पीताम्बर से उनके नेत्रों के प्रेमाश्रुओं को पोंछा और व्यंग्य-गर्भित वाणी में कहा, 'गोपियों को योग सिखा आए ?'

टिप्पणी—

(1) इसमें प्रबन्धात्मक शैली में प्रस्तुत भ्रमरगीत का कथात्मक स्वारस्य प्रशंसनीय है।
(2) योग-मार्ग की तुलना में भक्ति और प्रेम-व्यंजना के माहात्म्य का सहज संकेत है।
(3) हर्ष, जड़ता जैसे संचारी भावों की प्रधानता है।
(4) ब्रजभूमि, गोप, गोपिकाओं के मध्य प्रेम-सम्बन्ध का मार्मिक निरूपण किया गया है।

राग धनाश्री

हमसों कहत कौन की बातें ?
सुनि ऊधो ! हम समुझत नाहीं फिरि पूछति हैं तातें॥
को नृप भयो कंस किन मार्यो को बसुद्यौ-सुत आहि।
यहाँ हमारे परम मनोहर जीजतु है मुख चाहि॥
दिन प्रति जात सहज गोचारन गोप सखा लै संग।
बासरगत रजनीमुख आवत करत नयन गति पंग॥
को व्यापक पूरन अविनासी, को बिधि-बेद-अपार ?
सूर बृथा बकवाद करत हौ या ब्रज नंदकुमार॥ 18 ॥

शब्दार्थ—तातें = इसलिए। बसुद्यौ-सुत = वसुदेव के पुत्र। आहि = है। जीजतु है = जीवित रहती है। चाहि = देखकर। बासरगत = दिन समाप्त होने पर। रजनीमुख = सन्ध्या समय। पंग = स्तब्ध।

सन्दर्भ—इसमें गोपियाँ उद्धव को बेवकूफ बना रही हैं। वे जान-बूझकर उनसे पूछती हैं और कहती हैं कि जिनकी चर्चा तुम यहाँ कर रहे हो, वे कौन हैं ?

व्याख्या—हे उद्धव, तुम हमसे किनकी बात कर रहे हो ? हम तो जानती नहीं कि तुम क्या कह रहे हो—हमारी समझ में तुम्हारी बातें नहीं आ रही हैं, इसलिए हम तुमसे पुनः पूछ रही हैं कि मथुरा में कौन राजा हुआ और किसने कंस को मारा अर्थात् तुम जो यह बता रहे हो कि

श्रीकृष्ण मथुरा के राजा थे और उन्होंने कंस का वध किया, यह हमारे लिए भ्रमोत्पादक है। यह भी नहीं जानती कि वसुदेव का पुत्र कौन है। क्योंकि हमारे यहाँ तो श्रीकृष्ण विराजमान हैं और हम ऐसे मनोहर श्रीकृष्ण के मुख को नित्य-प्रति देखकर जीती हैं उनका यह रूप हमें प्राणों से भी अधिक प्रिय है—वे आज भी नित्य अपने गोपमित्रों के साथ सहजभाव से बन में गाय चराने जाया करते हैं और दिन के समाप्त होने पर वे सन्ध्या समय बन से लौटते हैं और हमारे नेत्रों को स्तब्ध कर देते हैं—श्रीकृष्ण की ऐसी मुद्रा को देखकर स्तब्ध हो जाते हैं (उन्हें हम सब अपलक देखती रह जाती हैं)। हमारी समझ में नहीं आता कि कौन व्यापक, पूर्ण और अविनाशी (ब्रह्म) है और कौन ब्रह्मा और वेद के लिए अपार है (कौन ऐसा है जिसका पार ब्रह्मा और वेद भी नहीं पाते ?) सूर के शब्दों में गोपियों का कथन है कि तुम व्यर्थ ही बकवास (व्यर्थ की बातें) कर रहे हो। अरे, इस ब्रज में तो नित्य नन्दकुमार का दर्शन होता है अर्थात् तुम जिस कृष्ण की चर्चा कर रहे हो, वे कोई और हैं, क्योंकि हमारे श्रीकृष्ण तो यहाँ सदैव विराजमान हैं।

टिप्पणी—

(1) इसमें निर्गुण ब्रह्म का व्यंग्यगर्भित शैली में उपहास किया गया है।

(2) सूर की वाग्विदग्धता का यह एक ज्वलन्त उदाहरण है।

(3) यहाँ गोपियों ने श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य रूप की तुलना में ब्रज के सहज और माधुर्य रूप को वरण किया है। यही रूप गोपियों को काम्य है और इसी रूप की वे उपासिका भी हैं।

(4) 'पंगु' के स्थान पर कवि ने तुकाग्रह के कारण यहाँ 'पंग' जैसे विकृत शब्द का प्रयोग किया है।

(5) गोपियों के मानस में नित्य प्रति रमनेवाले श्रीकृष्ण मथुरा में नहीं हैं। आज भी यहाँ उन्हें सन्ध्या समय लौटकर दर्शन-लाभ देते हैं।

(6) कविवर पद्माकर ने भी इसी भाव का एक छन्द प्रस्तुत किया है—

नैननि बसे हैं अंग-अंग हुलसे हैं रोम
रोम निरसे हैं निकसे हैं को कहत हैं।
ऊधो वे गोविन्द कोऊ और मथुरा में यहाँ
मेरे तो गोविन्द मो हि मोही में रहत हैं॥

राग सारंग

तू अलि ! कासों कहत बनाय ?
बिनु समुझे हम फिरि बूझति हैं एक बार कहौ गाय॥
किन पै गवन कीन्हों सकटनि चढ़ि सुफलकसुत के संग।
किन वै रजक लुटाइ बिबिध पट पहिरे अपने अंग ?
किन हति चाप निदरि गज मार्यो किन वै मल्ल मथि जाने ?
उग्रसेन बसुदेव देवकी किन वे निगड़ हठि भाने ?
तू काकी है करत प्रसंसा, कौने घोष पठायो ?
किन मातुल बधि लयो जगत जस कौन मधुपुरी छायो ?

माथे मोर मुकुट बनगुंजा, मुख मुरली-धुनि बाजै।
सूरदास जसोदानंदन गोकुल कह न बिराजै ॥ 19 ॥

शब्दार्थ—अलि = भ्रमर (उद्धव के लिए प्रयुक्त)। सकटनि = रथ; गाड़ी। सुफलक सुत = अक्रूर। रजक = कंस का धोबी। हति = तोड़ा। चाप = धनुष। निदरि = निरादर करके। गज = कुबलयापीड़ हाथी जिसे श्रीकृष्ण ने मारा था। मल्ल = मुष्टिक और चाणूर नामक पहलवान। मथि जाने = पछाड़ना, मारना। उग्रसेन = मथुरा के राजा और कंस के पिता। निगड़ = शृंखला। भाने = तोड़ा। घोष = अहीरों की बस्ती। मातुल = मामा (कंस के लिए प्रयुक्त)। मधुपुरी = मथुरा। कह = बताओ।

प्रसंग—प्रस्तुत पद में गोपियों ने व्यंग्य-गर्भित वाणी में उद्धव का उपहास किया है। उद्धव जी निर्गुण ब्रह्म की उपासना पर बल दे रहे हैं। गोपियों के लिए उपासना की यह पद्धति सर्वथा अमान्य है। वे श्रीकृष्ण के अतिरिक्त किसी को नहीं जानतीं।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे भ्रमर, (उद्धव से अभिप्राय है) तुम किससे बना-बनाकर कह रहे हो—हम तो इसे समझ नहीं रही हैं। अतः हम फिर तुमसे पूछ रही हैं कि आप अपने ब्रह्म की महिमा एक बार गाकर (उसका गुणानुवाद करके) हमें बताओ (यहाँ गाने की व्यंजना भ्रमर की गुनगुनाहट से है)। हमें तुम यह तो बताओ कि अक्रूर के साथ रथ पर बैठकर मथुरा की ओर किसने प्रस्थान किया और वे कौन थे जिन्होंने मथुरा में धोबी के वस्त्रों को लुटाकर अपने शरीर पर राजसी वस्त्रों को धारण किया। किसने कंस के सुरक्षित धनुष को तोड़ा और कंस के कुबलयापीड़ नामक हाथी का निरादर करके मारा (ऐसे बलशाली हाथी के दाँतों को तोड़कर उसका बध किया)। यही नहीं, किसने मुष्टिक और चाणूर नाम के पहलवानों को मारा ? भला, यह तो बताओ किसने उग्रसेन कंस के पिता, वसुदेव और देवकी की बेड़ियाँ हठपूर्वक तोड़ीं ? तुम किसकी प्रशंसा कर रहे हो और अहीरों की इस बस्ती में तुम्हें किसने भेजा है ? किसने अपने मामा (कंस) का वध करके संसार में यश प्राप्त किया और किसकी प्रभुता और धाक सारे मथुरा में छायी है—कौन मथुरा में बहुचर्चित है ? यहाँ तो (गोकुल में) मस्तक पर मयूर-मुकुट और गले में बन की गुंजा की माला धारण किए हुए मुख से मुरली की ध्वनि निकालते हुए बताओ तो क्या श्रीकृष्ण चन्द्र (यशोदानंदन) विराजमान नहीं हैं ? तात्पर्य यह है कि ब्रज में तो सर्वत्र जन-जन में श्रीकृष्ण का रूप छाया हुआ है, फिर आप इस निर्गुण का संदेश किसके लिए लाए हैं और इसे कौन ग्रहण करेगा ?

टिप्पणी—

(1) उद्धव के उपहास का यह बड़ा ही यथार्थ और सजीव चित्र है।

(2) इसमें गोपियों की श्रीकृष्ण के प्रति अनन्य निष्ठा और प्रेम की सशक्त अभिव्यक्ति हुई है।

(3) समस्त पद में तीन अन्तर्कथाओं का संकेत है—

(क) श्रीकृष्ण ने कंस के धोबी को मारकर उसके समस्त वस्त्रों को लुटा दिया था और किसी जुलाहे ने उन्हें राजसी वस्त्रों से विभूषित किया था और सुदामा नामक माली ने उन्हें पुष्पमालायें भेंट की थीं।

(ख) इसके अतिरिक्त श्रीकृष्ण ने कंस के सुरक्षित धनुष को तोड़ डाला और धनु शाला के प्रहरियों का बध कर दिया।

(ग) ऐसे समय श्रीकृष्ण और बलराम ने मुष्टिक, चाणूर और कुबलयापीड़ नामक हाथ
को भी मारा था।

राग सारंग

हम तो नंदघोष की वासी।
नाम गोपाल, जाति कुल गोपहि, गोप-गोपाल-उपासी॥
गिरवरधारी गोधनचारी, बृन्दाबन-अभिलासी।
राजा नंद जसोदा रानी, जलधि नदी जमुना सी॥
प्रान हमारे परम मनोहर कमलनयन सुखरासी।
सूरदास प्रभु कहौं कहाँ लौं अष्ट महासिधि दासी॥ 20 ॥

शब्दार्थ—नंदघोष = नंदगाँव (गोकुल)। गोधनचारी = गायों को चराने वाले
अभिलासी = प्रेमी। जलधि = समुद्र।

सन्दर्भ—गोपियाँ नंदगाँव की निवासिनी होने में गर्व का अनुभव करती हैं। चूँकि श्रीकृष्ण ने इसी गाँव में गोपियों के साथ नाना प्रकार की लीलाएँ रचीं। इसी से यहाँ गोपियाँ अष्ट सिद्धियों से बढ़कर आनन्द का अनुभव करती हैं।

व्याख्या—गोपियों का कथन है कि हम सब का यह परम सौभाग्य है कि हम नन्दगाँव (गोकुल) की निवासिनी हैं। हमारा नाम गोपाल (गायों को पालनेवाली) हमारी जाति और कुल भी गोप (अहीर) है। गोप होने के कारण गोपाल (श्रीकृष्ण) की उपासिका हैं। हमारे कृष्ण तो गोवर्धन पर्वत उठाने वाले, गायों को चराने वाले और वृन्दावन के प्रेमी हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि हमारे संकट में ये गोवर्धन पर्वत उठाकर हमारी रक्षा करते हैं—और गायों को चराकर हम लोगों में पशु प्रेम उत्पन्न करते हैं। यही नहीं, वे वृन्दावन की प्राकृतिक सुषमा के प्रेमी हैं (उनमें मातृ-भूमि के प्रति अनन्य अनुराग भी है)। हमारे राजा तो नन्द और रानी यशोदा जी हैं यहाँ प्रवाहित होने वाली यमुना तो हमारे लिए समुद्र के समान है। हमारे प्राण तो अत्यंत सौन्दर्यशाली कमल नेत्र, आनन्दराशि श्रीकृष्ण हैं कहाँ तक कहें उनके सुख के समक्ष आठों सिद्धियाँ भी दासी हैं (आठों सिद्धियों का सुख भी कृष्ण के सुख के समक्ष नगण्य है)।

टिप्पणी—

(1) इसमें सम्बन्ध-भावना का निरूपण किया गया है।
(2) 'प्रान हमारे मनोहर...सुखरासी' में सारोपा लक्षणा का प्रयोग हुआ है।
(3) द्वितीय पंक्ति में 'ग' वर्ण की आवृत्ति के कारण अनुप्रास अलंकार है।
(4) अष्ट महासिद्धियाँ इस प्रकार कही गयी हैं—अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति प्राकाम्य, ईशत्व तथा वशित्व।

राग केदार

गोकुल सबै गोपाल उदासी।
जोग-अंग साधत जे ऊधो ते सब बसत ईसपुर कासी॥

जद्यपि हरि हम तजि अनाथ करि तदपि रहति चरननि रसरासी।
अपनी सीतलताहि न छाँड़त यद्यपि है ससि राहु-गरासी॥
का अपराध जोग लिखि पठवत प्रेम भजन तजि करत उदासी।
सूरदास ऐसी को बिरहिन माँगति मुक्ति तजे गुनरासी॥ 21 ॥

शब्दार्थ—जोग अंग = अष्टांग योग। ईसपुर = शंकर की नगरी। रस-रासी = आनन्द में पगी हुई। गरासी = ग्रस्त। गुनरासी = गुण-राशि (श्रीकृष्ण); सूत्र-राशि। मुक्ति = मोक्ष का आनंद; मोती। उपासी = उपासक।

सन्दर्भ—इसमें गोपियों ने स्पष्ट शब्दों में उद्धव से कहा कि गोकुल में कोई ऐसा नहीं है जो अष्टांग योग का साधक हो। यहाँ तो सभी गोपाल के उपासक हैं।

व्याख्या—(गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि) हे उद्धव, गोकुल के जितने लोग हैं सब कृष्णोपासक हैं (समस्त गोकुल कृष्ण-प्रेम में तन्मय है)। आप तो हम लोगों को अष्टयोग की शिक्षा दे रहे हैं। अरे, अष्टांग योग की साधना करने वाले तो शंकर की नगरी काशी में निवास करते हैं तात्पर्य यह है कि गोकुल तो कृष्ण की उपासना का केन्द्र स्थल है—यहाँ निर्गुणोपासना को लोग जानते ही नहीं—इसकी उपयुक्त स्थली शंकरपुरी काशी है जहाँ बड़े-बड़े योगी मिलते हैं। यद्यपि श्रीकृष्ण ने हमें त्याग कर अनाथ कर दिया (उनके त्यागने से हम सभी अनाथ हो गयीं—जीवन में बड़ी निराशा उत्पन्न हुई, फिर भी मन को धैर्य देकर प्रेम-राशि श्रीकृष्ण के चरणों के आनन्द में डूबी रहती हैं—एक मात्र शरण श्रीकृष्ण का चरण ही है। वस्तुतः जैसे राहु-ग्रस्त होने पर भी चन्द्रमा अपनी शीतलता के गुणों को नहीं त्यागता, ठीक उसी प्रकार इतने संकटों से ग्रस्त होकर भी हम सब कृष्ण के प्रति अपना स्नेह नहीं छोड़ पा रही हैं। यह स्नेह-सूत्र जन्मतः उनसे जुड़ा है। हमें यह नहीं मालूम होता कि किस अपराध से वे हमें अपने पुत्रों में योग का संदेश लिख कर निरन्तर भिजवाया करते हैं और प्रेम-भजन छोड़कर हमें वैराग्य की ओर लगा रहे हैं। यह जानकर आश्चर्य होता है कि वे प्रेम करने के बजाय हमें विरक्त होने की शिक्षा दे रहे हैं। भला, ऐसी कौन विरहिणी होगी जो गुण-राशि (गुणज्ञ) श्रीकृष्ण को छोड़कर मोक्ष की कामना करती हो—श्रीकृष्ण के सहज आनन्द को त्याग कर मोक्षानन्द की याचना करती हो—इसका चमत्कारिक अर्थ यों होगा—ऐसी कौन विरहिणी होगी जो सूत्रों को त्याग कर मात्र मोती की याचना करे। वास्तव में जैसे सूत्रों में पिरोये जाने पर ही मुक्ता की शोभा बढ़ती है—उसी प्रकार मोक्ष को आनन्द की वास्तविक सार्थकता की गुण-राशि श्रीकृष्ण के प्रेमोपासक होने में है)।

टिप्पणी—

(1) अष्टांग योग इस प्रकार बताया गया है—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।
(2) 'रासी'-शब्द तुकाग्रह के कारण अपने विकृत रूप में प्रयुक्त हुआ है। वास्तव में होना चाहिए था 'रस-रसी'। रसी का अर्थ डूबना या पगना होता है।
(3) 'ससि राहु गरासी' में उदाहरण अलंकार है और अंतिम पंक्ति में प्रयुक्त 'मुक्ति' और 'गुन-रासी' में श्लेष अलंकार की झलक मिलती है। 'ऐसी को विरहिन' में काकुवक्रोक्ति की प्रधानता है।
(4) पूरे पद में प्रेमतत्व और योग के वैषम्य का निरूपण है।

(5) 'मुक्ति' शब्द का चमत्कार रत्नाकर ने भी अपने एक छंद में प्रस्तुत किया है—

मुक्ति मुक्ता को मोल-माल ही कहा है,
जोपै मोहन लला पै मन मानिक ही वारि चुकी।

राग धनाश्री

जीवन मुँहचाही को नीको।
दरस परस दिन रात करति है कान्ह पियारे पी को॥
नयनन मूँदि-मूँदि किन देखौ बँध्यो ज्ञान पोथी को।
आछे सुन्दर स्याम मनोहर और जगत सब फीको॥
सुनौ जोग को का लै कीजै जहाँ ज्यान ही जी को ?
खाटी मही नहीं रुचि मानै सूर खबैया घी को॥ 22 ॥

शब्दार्थ—मुँहचाही = चहेती, प्रिय (कुब्जा से अभिप्राय है)। नीको = अच्छा है। परस = श्रीकृष्ण के शरीर का स्पर्श। किन देखौ = भले ही देखो। बँध्यो ज्ञान पोथी को = पुस्तकों का बँधा (सीमित) ज्ञान। ज्यान = हानि (फारसी शब्द का प्रयोग)। मही = मट्ठा। नहीं रुचि मानै = अच्छा नहीं लगता।

सन्दर्भ—इसमें गोपियों ने 'असूया' संचारी के अन्तर्गत कुब्जा के प्रति व्यंग्य-गर्भित शैली में अपना ईर्ष्या भाव व्यक्त किया है।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, सच पूछिये तो जीवन श्रीकृष्ण की चहेती (कुब्जा) का धन्य है जो दिवारात (सदैव) प्रियतम श्रीकृष्ण के शरीर का वह स्पर्श और दर्शन किया करती है (हम लोग तो इन दोनों सुखों से वंचित है)। आप भले ही पोथियों में आबद्ध ज्ञान के आधार पर आँख मूँद कर ब्रह्म का साक्षात्कार करने का यत्न करें लेकिन यह संभव नहीं—प्रत्यक्ष अनुभूति और पोथी-ज्ञान की अनुभूति में महदन्तर है। हमारे लिए तो यहाँ श्रीकृष्ण के सुन्दर मनोहर रूप (सौन्दर्य) के समक्ष संसार का समस्त सुख फीका (नीरस) प्रतीत होता है। हम सब आपके योग को लेकर क्या करें (योग साधना से हमारी क्या सिद्धि होगी) जहाँ प्राणों की हानि होती है अर्थात् जिसकी साधना में प्राणों को कष्ट होता है। दूसरे शब्दों में प्राणों से प्रिय श्रीकृष्ण जिस योग साधना से वियुक्त हो जाते हैं उस योग के साधने से क्या लाभ ? हमें तो आपका योग उसी प्रकार अच्छा नहीं लगता जैसे घी को खाने वाले व्यक्ति को मट्ठा अच्छा नहीं लगता। दूसरे शब्दों में जिसने श्रीकृष्ण के सौन्दर्य-रस का सदैव पान किया हो, उसे भला, योग की ये नीरस बातें कैसे रुचिकर हो सकती हैं।

टिप्पणी—

(1) इस पद में असूया संचारी भाव की प्रधानता है।
(2) 'ज्यान' शब्द फारसी भाषा का है और सूर ने इसे ब्रजभाषा की प्रकृति के अनुसार सहज रूप में प्रयुक्त करने की चेष्टा की है। रीति कवियों में देव और भिखारीदास के छन्दों में भी यह शब्द इसी अर्थ में देखने को मिलता है।
(3) अंतिम पंक्ति में लोकोक्ति अलंकार का प्रयोग हुआ है।
(4) पाँचवीं पंक्ति में 'ज' की आवृति के कारण छेकानुप्रास है।

(5) 'बंध्यो ज्ञान पोथी को' के सम्बन्ध में कबीर का यह कथन कितना सार्थक है
'पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ पंडित भया न कोय'।

राग काफी

आयो घोष बड़ो व्योपारी।
लादि खेप गुन ज्ञान-जोग की ब्रज में आन उतारी॥
फाटक दै कर हाटक माँगत भोरै निपट जु धारी।
धुरही तें खोटो खायो है लये फिरत सिर भारी॥
इनके कहे कौन डहकावै ऐसी कौन अजानी ?
अपनो दूध छाँड़ि को पीवै खार कूप को पानी॥
ऊधो जाहु सबार यहाँ तें बेगि गहरु जनि लावौ।
मुँहमाँग्यो पैहो सूरज प्रभु साहुहि आनि दिखावौ॥ 23 ॥

शब्दार्थ—घोष = अहीरों की बस्ती, गोकुल। खेप = माल का बोझ। फाटक = फटकन, भूसी। हाटक = सोना। भोरै = भोला-भाला; गँवार। निपट = सर्वथा, बिल्कुल। धारी = समझकर, धारणा बना कर। धुरही = शुरू से ही। खोटो खायो = नुकसान हुआ है। डहकावै = ठगाए, सौदे में धोखा खाना। अजानी = अज्ञानी। खारकूप = खारा कुआँ। सबार = शीघ्र। बेगि = शीघ्र। गहरु = देरी, विलम्ब। जनि लावौ = मत लगाओ। मुँह माँग्यो = मनचाहा, इच्छित (एक मुहावरा)। साहुहि = महाजन को (श्रीकृष्ण से अभिप्राय है)। आनि = लेकर।

सन्दर्भ—इसमें उद्धव का गोपियों ने व्यंग्य-गर्भित शैली में उपहास किया है। यहाँ उद्धव को ज्ञान-सौदा का विक्रय करने वाले एक व्यापारी के रूप में वर्णित किया गया है।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव के सम्बन्ध में परस्पर कह रही हैं—देखो सखियो, अहीरों की इस बस्ती में एक बहुत बड़ा व्यापारो आया है (विपरीत लक्षण से बड़ा व्यापारी की व्यंजना यह है कि यह एक अज्ञानी और जड़ व्यक्ति है जो हम सब अबलाओं को ज्ञान की शिक्षा देना चाहता है) इस व्यापारी ने अपने ज्ञान और योग के माल का भारी बोझ लादे सीधे ब्रज में आकर उतारा। तात्पर्य यह है कि अपनी ज्ञान-गुरुता का महत्व सीधे हम अबलाओं के मध्य बताया। यह हम ब्रजवासियों को सर्वथा भोला-भाला जान कर फटकन (निस्सार निर्गुण ब्रह्म का ज्ञान) देकर हमसे महार्घ स्वर्ण (कृष्ण की भक्ति और प्रेम) को माँग रहा है—श्रीकृष्ण की भक्ति के स्थान पर हमें निर्गुण ब्रह्म का ज्ञान ग्रहण करने का आग्रह कर रहा है। इसके माल को किसी ने खरीदा नहीं और आरम्भ से ही इसे घाटा उठाना पड़ा है। अब ऐसे माल (ज्ञान) के भारी बोझ को अपने सिर पर लिए घूम रहा है ज्ञान की गुरुता से यह दबा जा रहा है, लेकिन इसके ज्ञान को कोई पूछने वाला नहीं है। भला, ऐसे खोटे माल को इसके कहने पर खरीदकर कौन अज्ञानी अपने को ठगवाए ? (कौन ऐसा है जो इसके बहकावे में आ जाय) ! ऐसा भी क्या कोई मूर्ख होगा जो अपने घर का मधुर दुग्ध छोड़ कर खारे कुएँ का जल पिएगा। अर्थात् कौन भगवान कृष्ण की मधुर उपासना को त्याग कर निर्गुण ब्रह्म की उपासना की ओर उन्मुख होगा ? हे उद्धव, यदि तुम अपना माल बेचना चाहते हो तो यहाँ से शीघ्र ही चले जाओ और देरी मत करो, और उस महाजन (श्रीकृष्ण) को लेकर हमें दिखाओ, जिसने यह माल देकर तुम्हें भेजा है। तुम्हें इसके बदले

मुँहमागा दाम मिलेगा। तात्पर्य यह है कि यदि तुम निर्गुण ब्रह्म की उपासना की ओर हमें लगाना चाहते हो तो पहले हम लोगों को श्रीकृष्ण का दर्शन कराओ जो बहुत समय से हमसे बिछुड़े हैं, उसके पश्चात् हम तुम्हारे ज्ञान को स्वीकार करेंगी।

टिप्पणी—

(1) उद्धव में व्यापारी के समस्त गुणों के आरोप के कारण इसमें सांगरूपक अलंकार है। 'खार कूप को पानी' में दृष्टान्त अलंकार।
(2) 'धुरही ते खोटो खायो है' रूढ़ि लक्षणा का प्रयोग।
(3) 'फाटक दैकर हाटक माँगत' परिवृत्ति अलंकार।
(4) लोकोक्ति और मुहावरों का चमत्कार द्रष्टव्य है।
(5) तीखे व्यंग्य का यह एक उत्कृष्ट नमूना है।

राग काफी

जोग ठगौरी ब्रज न बिकैहै।
यह ब्योपार तिहारो ऊधो ! ऐसोई फिरि जैहै॥
जापै लै आए हौ मधुकर ताके उर न समैहै।
दाख छाँड़ि कै कटुक निबौरी को अपने मुख खैहै ?
मूरी के पातन के केना को मुक्ताहल दैहै।
सूरदास प्रभु गुनहि छाँड़ि कै को निर्गुण निरबैहै ?॥ 24॥

शब्दार्थ—ठगौरी = ठगपने का सौदा। फिरिजैहै = लौट जायगा (यहाँ इसकी खपत न होगी) जापै = जिसके पास। दाख = द्राक्ष (अंगूर)। कटुक निबौरी = कडुवा नीम का फल। मूरी = मूली। केना = बदले में (विनिमय में) दी जाने वाली वस्तु (बुंदेलखंडी प्रयोग)। मुक्ताहल = मोती। निरबैहै = निर्वाह करेगा।

सन्दर्भ—गोपियाँ उद्धव के ज्ञान के प्रति कटाक्ष करती हुई कह रही हैं कि उनका यह ज्ञान यहाँ कोई भी ग्रहण करने वाला नहीं है।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, आपका यह ठगपने का सौदा योग यहाँ नहीं बिकेगा अर्थात् तुम्हारे निर्गुण ज्ञान की अग्राह्यता को हम सब समझ रही हैं (इसे ग्रहण करना हमारी क्षमता के बाहर है) वस्तुतः तुम अपनी योग-साधना के उपदेश द्वारा हमें ठगना चाहते हो। समझ लो कि तुम्हारा यह सौदा ज्यों का त्यों वापस चला जाएगा (यहाँ इसकी खपत न हो सकेगी) हे भ्रमर, तुम जिसके पास इसे ले आए हो (जिस आशा से यहाँ इसे ले आए हो) वह उसके हृदय में नहीं समा सकेगा (उसे वह सहज रूप में ग्रहण नहीं कर सकता—उसको पचाने की शक्ति उसमें नहीं है)। भला कोई अंगूर को छोड़कर अपने मुख में नीम का कड़वा फल ग्रहण करेगा। तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्ण के मधुर रूप को त्याग कर ऐसा कौन मूर्ख है जो निर्गुण ब्रह्म की कड़वाहट (उसकी अग्राह्यता) को स्वीकार करेगा ? ऐसा कौन मूर्ख है जो मूली के पत्तों के बदले में (निस्सार निर्गुण ज्ञान के एवज में) मुक्ता (श्रीकृष्ण की महार्घ भक्ति) को भेंट करेगा ? सूर के शब्दों में गोपियों का कथन है कि भगवान के सगुण रूप को छोड़ कर कौन निर्गुण (गुणहीन, बिना किसी गुण के ब्रह्म का निर्वाह (उपासना) करेगा (भला जिसमें कोई गुण

ही नहीं है, वह गुणवान को छोड़ कर उसे क्यों ग्रहण करेगा)।

टिप्पणी—

(1) 'जोग ठगोरी' में रूपक अलंकार है। यह व्यापार में रूपकातिशयोक्ति है।
(2) दाख छांड़ि कै..खैहै में अन्योक्ति अलंकार है।
(3) 'मूरी के पातन को केना..दैहै' में तुल्योगिता अलंकार तथा वस्तु व्यंग्य होने के कारण इसमें वस्तु से तुल्योगिता अलंकार की ध्वनि है।
(4) 'केना' ठेठ बुन्देलखण्डी शब्द है। इसके प्रयोग द्वारा स्पष्ट व्यंजित है कि सूर ब्रजभाषा की समृद्धि के लिए कैसे-कैसे ठेठ शब्दों का प्रयोग कर सकते थे।
(5) इसमें ग्रामीण मुहावरे और शब्दावलियों के द्वारा अभीष्ट कथन की बड़ी तीखी और चोट करने वाली व्यंजना हुई है।
(6) गुनहि..निर्गुन में श्लेष की भी झलक है।

राग नट

आए जोग सिखावन पाँड़े।
परमारथी पुराननि लादे ज्यों बनजारे टाँड़े ॥
हमरी गति पति कमलनयन की जोग सिखैं ते राँड़े।
कहौ मधुप, कैसे समायँगे एक म्यान दो खाँड़े ॥
कहु षटपद, कैसे खैयतु है हाथिन के सँग गाँड़े।
काकी भूख गई बयारि भखि बिना दूध घृत माँड़े ॥
काहे को झाला लै मिलवत, कौन चोर तुम डाँड़े।
सूरदास तीनों नहिं उपजत धनिया धान कुम्हाँड़े ॥ 25 ॥

शब्दार्थ—पाँड़े = पंडित, विद्वान। परमारथी = परमार्थ की शिक्षा देने वाले, अध्यात्मिक ज्ञान के उपदेशक। पुराननि = अठारहों पुराण। बनजारे = घूम-घूम कर माल बेचने वाला व्यापारी। टाँड़ा = सौदा, व्यापार का माल। गति = शरण। पति = मर्यादा, प्रतिष्ठा। कमलनयन = श्रीकृष्ण। राँड़े = जिसके कोई न हो, एकाकी। खाँड़े = तलवार। षटपद = भ्रमर (यहाँ उद्धव से अभिप्राय है)। गाँड़े = गन्ने या चारे का कटा हुआ टुकड़ा। कैसे खैयतु..गाँड़े = हाथी के साथ गाँड़े कैसे खाया जा सकता है (कहावत—देखादेखी अनहोनी बात करना)। काकी = किसकी। बयारिभखि = हवा खाकर। माँड़े = मीठी रोटी। झाला मिलाना = बकवाद (झल्ल) करना। डाँड़े = दण्डित किया।

सन्दर्भ—इसमें गोपियों ने उद्धव के ज्ञान की खिल्ली उड़ाई है। गोपियों के अनुसार उद्धव जी मात्र ज्ञान के भार को ढोते फिर रहे हैं। उन्हें व्यावहारिक जीवन का अनुभव नहीं है।

व्याख्या—(उद्धव के प्रति गोपियों का व्यंग्य कथन) गोपियाँ परस्पर कह रही हैं, हे सखी, देखो तो योगशास्त्र सिखाने के लिए पण्डित जी आ गये (यहाँ पाँड़े विपरीत लक्षणा से मूर्ख का बोधक है) ये परमार्थी (ब्रह्म ज्ञान के शिक्षक) पुराणों के ज्ञान को इस प्रकार लादे हुए हैं जैसे बनजारे (घूम-घूम कर व्यापार करने वाला) बैलों पर सौदा (व्यापार का माल) लादे घूमते फिरते हैं। किन्तु हमारे लिए तो प्रियतम श्रीकृष्ण ही शरण हैं (वे ही एक मात्र हमारी शरण हैं) और उन्हीं

से हमारी प्रतिष्ठा तथा मर्यादा है (हमारी मर्यादा और प्रतिष्ठा की रक्षा करने वाले एक मात्र वे ही हैं)। योग तो वे ही सीखेंगी जो राँड़ हैं (जो विधवा के रूप में अनाथ हैं और एकाकी जीवन बिता रही हैं)। पुनः उद्धव को सम्बोधित करके कहने लगी—भला, हे भ्रमर, यह तो बताओ कि एक म्यान में दो तलवारें कैसे आ सकती हैं (अर्थात् जहाँ हमारे हृदय में श्रीकृष्ण निवास करते हैं, वहाँ निर्गुण ब्रह्म को हम कैसे स्थान दे सकती हैं)। हे भ्रमर (उद्धव) कहो तो, हाथियों के साथ गन्ने के टुकड़े कैसे खाया जा सकता है ? (देखादेखी असंभव बात कैसे पूरी की जा सकती है ?) हमें यह तो बताओ कि बिना दूध, घृत और मीठी रोटी खाए मात्र हवा भक्षण करने से (प्राणायाम करने से) किसकी भूख मिट सकती है ? (उसी प्रकार क्या योग और प्राणायाम आदि क्रियाओं से हमें श्रीकृष्ण-दर्शन का सच्चा सुख मिल सकता है ?) अतः तुम व्यर्थ में बकवाद क्यों कर रहे हो और हमने ऐसा कौन-सा अपराध किया है जिसके लिए तुमने हमें अपनी कठोर और नीरस बातों से दण्डित किया—ऐसी बातें सुना कर हमारे मानस को पीड़ित किया। सूरदास के शब्दों में गोपियों का कथन है कि हे उद्धव, तुम्हें जानना चाहिए कि धनिया, धान और कुष्माण्ड ये तीनों एक ही साथ (एक ही मौसम में) नहीं उत्पन्न होते—कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार धान वर्षा में होता है, धनिया जाड़े में और कुष्माण्ड गर्मी में उसी प्रकार निर्गुणोपासना और सगुणोपासना एक साथ नहीं हो सकती।

टिप्पणी—

(1) 'पाँड़े' में विपरीत लक्षणा का प्रयोग हुआ है। यहाँ इसका वास्तविक अर्थ अज्ञानी है।

(2) 'एक म्यान में दो खांड़े' हाथिन के संग गाँड़े और सूरदास तीनों ...... कुम्हाँड़े में लोकोक्ति अलंकार का प्रयोग हुआ है।

(3) 'मुहावरे और लोकोक्तियों के कारण यह पद सूर की व्यंजना वलित शब्दावली का एक उत्कृष्ट नमूना है।

(4) रहीम ने भी इसी भाव का एक दोहा लिखा है।

प्रीतम छवि नैननि बसी पर छवि कहाँ समाय।
भरी सराय रहीम लखि पथिक आपु फिरि जाय॥

(5) चौथी और पाँचवीं पंक्ति में काकुवक्रोक्ति अलंकार है।

राग विलावल

ए अलि ! कहा जोग में नीको ?
तजि रसरीति नंदनंदन की सिखत निर्गुन फीको॥
देखत सुनत नाहि कछु स्रवननि, ज्योति ज्योति करि ध्यावत।
सुन्दर स्याम दयालु कृपानिधि कैसे हौ बिसरावत ?
सुनि रसाल मुरली-सुर की धुनि सोइ कौतुक रस भावै।
अपनी भुजा ग्रीव पर मेलैं गोपिन के सुख फूलैं॥
लोक कानि कुल को भ्रम प्रभु मिलि-मिलि कै घर बन खेली।
अब तुम सूर खवावन आए जोग जहर की बेली॥ 26 ॥

शब्दार्थ—नीको = अच्छाई। रसरीति = प्रेमतत्व। फीको = नीरस, निस्सार। ज्योति = ब्रह्म ज्योति। रसाल = आनन्दमय। कौतुक-रस = उनकी लीला का आनन्द। भावै = अच्छा लगता है। मेलैं = रखते थे, डालते थे। ग्रीव = गर्दन। फूलैं = आनंदित होते थे। लोककानि = लोक की मर्यादा। कुल को भ्रम = प्रतिष्ठा। खेली = खेल डाला, कुछ नहीं समझा। जहर की बेली = जहर की बूटी; जहर की लता से उत्पन्न फल।

संदर्भ—गोपियाँ उद्धव से पूछ रही हैं कि योग-शास्त्र में क्या खूबी है, जिसके तुम बहुत बड़े प्रशंसक हो। इसके अतिरिक्त श्रीकृष्ण के अतीत के उन चित्रों की मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है जिनसे गोपियाँ और श्रीकृष्ण दोनों को परम सुख मिलता था।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे भ्रमर, यह तो बताओ, श्रीकृष्ण के प्रेमतत्व को त्याग कर जो तुम हमें निर्गुण ब्रह्म का नीरस ज्ञान सिखा रहे हो उसमें क्या अच्छाई है (उसमें ऐसा कौन-सा आकर्षण है जिसे हम लोग ग्रहण करेंगे)। भला, जिसके रूप को न आँखों से देखते हो और न कानों से उसकी वाणी सुनते हो, केवल ज्योति-ज्योति कह कर उसका व्यर्थ में ध्यान लगाते हो (क्या यह ब्रह्म ज्योति दिखाई भी पड़ती है ?)। आश्चर्य है कि ब्रह्म की उस ज्योति के लिए तुम कैसे दयालु, कृपा के सागर श्रीकृष्ण को भुला रहे हो ? (हम सब तुम्हारे कहने पर श्रीकृष्ण के ऐसे सुन्दर रूप को कैसे भूल सकती हैं, तुम भले ही भूल जाओ)। हम लोग तो उनकी रसमय मुरली की ध्वनि सुन कर उनकी ऐसी आनन्दमय क्रीड़ा में भूल जाती थी (उनकी उस मुद्रा और आनन्दमय लीला में तन्मय हो जाया करती थीं)। हमें स्मरण है कि प्रेम-मग्न श्रीकृष्ण कभी हम लोगों के कंठ पर अपनी भुजा डाल देते थे और आनंदित हो उठते थे। हम गोपियों ने भी उनके प्रेम में उनसे कभी घर में मिलकर कभी बन में मिलकर लोक की मर्यादा और कुल की प्रतिष्ठा को खेल डाला (इसकी कभी परवाह नहीं की, दूसरे शब्दों में श्रीकृष्ण के प्रेम में लोक और कुल की प्रतिष्ठा को कुछ नहीं समझा)। सूर के शब्दों में गोपियाँ कह रही हैं, लेकिन हे उद्धव, अब हम क्या देख रही हैं कि तुम श्रीकृष्ण प्रेम की जगह विष की लता से उत्पन्न फल को खिलाने के लिए आ गए हो—तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्ण रूपी मधुर फल न देकर तुम योग साधना जनित कटु विषैले फल से हमारे जीवन को विषाक्त करना चाहते हो।

टिप्पणी—

(1) श्रीकृष्ण के अतीत-जीवन के एक मधुर चित्र का संकेत।

(2) 'स्मृति' संचारी भाव की प्रधानता।

(3) पाँचवीं पंक्ति में कायिक अनुभाव का सहज चित्रण।

(4) सातवीं पंक्ति में प्रेम लक्षणा भक्ति की सुंदर व्यंजना हुई है।

(5) 'जोग जहर की बेली' में रूपकालंकार।

(6) 'बेली' में फल का अध्यवसान होने के कारण न्यूनपदत्व दोष है; क्योंकि विष बेली नहीं खायी जा सकती—विष फल ही खाया जा सकता है।

राग मलार

हमरे कौन जोग व्रत साधै ?
मृगत्वच, भस्म अधारि, जटा को को इतनौ अवराधै ?

जाकी कहूँ थाह नहिं पैए अगम, अपार, अगाधै।
गिरिधर लाल छबीले मुख पर इते बाँध को बाँधै ?
आसन पवन विभूति मृगछाला ध्याननि को अवराधै ?
सूरदास मानिक परिहरि कै राख गाँठि को बाँधै ? ॥ 27 ॥

शब्दार्थ—हमरे = हमारे यहाँ (इस ब्रजमण्डल में)। मृगत्वच = मृगछाला। भस्म = राख। अधारी = साधुओं की बाँह के नीचे लगाने की लकड़ी। को = के लिए; कौन। अगाधै = अगाध, अथाह। मुख पर = सामने, प्रत्यक्ष (होते हुए)। अवराधै = अनुसरण करना, पालन करना। बाँध बाँधना = आडम्बर करना। पवन = हवा (प्राणायाम से तात्पर्य है)। विभूति = राख। अवराधै = उपासना करना, पूजा करना। परिहरि कै = त्यागकर, छोड़कर। मानिक = माणिक्य (श्रीकृष्ण की भक्ति)। राख गाँठि को बाँधै = गाँठ में मिट्टी कौन बाँधै—निर्गुणोपासना जैसी नगण्य वस्तु का कौन अनुसरण करे ?

सन्दर्भ—उद्धव के समक्ष गोपियाँ निर्गुणोपासना को निरर्थक सिद्ध कर रही हैं। गोपियों के अनुसार श्रीकृष्ण भक्ति की तुलना में योगादि क्रियाओं का अनुसरण अनुपयुक्त है।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का व्यंग्य गर्भित शैली में कथन) हे उद्धव, हमारे यहाँ आप के योग की साधना कौन करे अर्थात् यहाँ ऐसा कोई नहीं है जो इसे ग्रहण कर सके। कौन मृगछाला, राख, अधारी (हाथ को सहारा देने वाली लकड़ी) और जटा आदि धारण करने के लिए इतना प्रपंच करे (कौन योगियों के इस वेश को धारण करे ?)। भला, जिस ब्रह्म की गहराई का पता नहीं लगता, और जो अगम्य, अपार तथा अगाध है उसके लिए गिरधर श्याम सुन्दर के सामने (उनके होते हुए) कौन इतना आडम्बर करे ? कौन आसन, प्राणायाम, भस्म तथा मृगछाला आदि को ग्रहण करे और ध्यान में उस निर्गुण ब्रह्म की अवराधना करे ? सूरदास के शब्दों में गोपियों का कथन है कि हे उद्धव, क्या कोई ऐसा भी मूर्ख होगा जो माणिक्य को फेंक कर अपनी गाँठ में राख बाँधना चाहेगा ? तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्ण की महार्घ भक्ति रूपी माणिक्य को त्यागकर अपनी गाँठ में राख बाँधेगा।

टिप्पणी—

(1) काकुवक्रोक्ति अलंकार की प्रधानता।
(2) 'इते बाँध को बाँधे' में मुहावरे का प्रयोग हुआ है।
(3) योग मार्ग की क्लिष्टता और भक्ति मार्ग की सहजता का वर्णन।
(4) 'मानिक' और राख में अन्योक्ति का चमत्कार है।
(5) 'गाँठ बाँधना' भी एक मुहावरा है जिसके कारण समस्त पदावली एक विशिष्ट व्यंजना से संवलित हो गयी है।

राग धनाश्री

हम तो दुहूँ भाँति फल पायो।
जो ब्रजनाथ मिलैं तो नीको, नातरु जग जस गायो॥
कहँ वै गोकुल की गोपी सब बरनहीन लघुजाती।
कहँ वै कमला के स्वामी सँग मिल बैठीं इक पाँती॥

निगमध्यान मुनिज्ञान अगोचर, ते भए घोषनिवासी।
ता ऊपर अब साँच कहो धौं मुक्ति कौन की दासी ?
जोग-कथा, पा लागों ऊधो, ना कहु बारंबार।
सूर स्याम तजि और भजै जो ताकी जननी छार ॥ 28 ॥

शब्दार्थ—नातरु = नहीं तो। वरनहीन = हीनवर्ण। लघुजाती = छोटी जाति की। इक पाँती = एक ही पंगति में (उन्हीं के साथ)। कमला के स्वामी = विष्णु। निगम = वेद। घोष निवासी = गोकुल के निवासी। ता ऊपर = इससे बढ़कर। पा लागों = पैर पड़ती हूँ, विनती करती हूँ। छार = भस्म, राख (यहाँ धिक्कार से प्रयोजन है)।

सन्दर्भ—इस पद में 'आत्म समाधान' का एक सच्चा चित्र प्रस्तुत किया गया है, क्योंकि गोपियों को दोनों ही प्रकार से संतोष है—यदि इस जीवन में श्रीकृष्ण का दर्शन सुलभ हो जाता है तो अति उत्तम है और यदि नहीं होता तो उन्हें इस बात का संतोष है कि मरने के बाद संसार उनके यश का गुणानुवाद तो करेगा ही कि कहाँ नगण्य गोपियाँ और कहाँ लक्ष्मीपति श्रीकृष्ण जिनके साथ वे मिलकर बैठती थीं।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, हमें तो दोनों ही प्रकार से श्रीकृष्ण से प्रेम करने का फल मिला—यदि इस जीवन में उनका दर्शन हमें मिल जाता है तो अच्छा है (जीवन सफल है) और यदि ब्रजनाथ का दर्शन नहीं होता तो संसार हम लोगों का यशोगान तो करेगा ही कि नगण्य गोपियों से श्रीकृष्ण ने सच्चा प्रेम किया। सोचिए तो, कहाँ हम सब गोकुल की रहनेवाली हीनवर्ण लघु जाति की गोपियाँ (अहीरिनी) और कहाँ वे लक्ष्मीपति जिनके साथ समान रूपेण एक साथ मिलकर बैठीं (उन्होंने हम लोगों के साथ इस सम्बन्ध में किसी प्रकार का भेद-भाव प्रदर्शित नहीं किया—यही उनकी महानता है)। सच पूछिए तो श्रीकृष्ण और हमारी क्या समानता थी, फिर भी उन्होंने समानता का भाव रखा जिन्हें वेद ध्यान करते हैं (मनन करते हैं) और जो ज्ञानियों-मुनियों के लिए भी अगोचर (अगम्य) है, वही हम लोगों को प्रेम में गोकुल निवासी बने—हम अहीरों की बस्ती में निवास करते रहे (भगवान होकर भी हम सबों के साथ सामान्य प्राणी की भाँति सदैव व्यवहार करते रहे), इससे भी बढ़कर आप सच्ची बात हमें यह बताएँ कि जिस मुक्ति की रट आप बारंबार लगाया करते हैं, वह किसकी दासी है—दूसरे शब्दों में वह भी तो हमारे श्रीकृष्ण की दासी ही है। (श्रीकृष्ण सुख के समक्ष मुक्ति का आनन्द नगण्य है)। अतः तुमसे पैर पकड़ कर कहती हूँ कि तुम योग की कथा हमसे बार-बार मत कहो—क्योंकि हम लोगों को इससे अपार कष्ट होता है। सूर के शब्दों में गोपियों का कथन है कि जो श्रीकृष्ण को छोड़कर अन्य की उपासना करते हैं उनकी माता को धिक्कार है (प्रेम स्वरूप श्रीकृष्ण के प्रति सच्ची भक्ति निष्ठा का जो निर्वाह नहीं करते और अन्य देवी-देवताओं की उपासना करते हैं उनकी माता ने ऐसी संतानों को व्यर्थ ही जन्म दिया)।

टिप्पणी—

(1) आत्म-समाधान वृत्ति का यह एक उत्कृष्ट नमूना है।

(2) तीसरी पंक्ति से यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि वर्ण-व्यवस्था अपने चरम शिखर पर थी और अहीर जैसी जातियों को हीनवर्ण और नगण्य माना जाता था। सूर द्वारा वर्णित तत्कालीन समाज का यह एक यथार्थ चित्र है।

(3) इसकी चौथी पंक्ति में श्रीकृष्ण के विष्णु अवतार का स्पष्ट संकेत है।

(4) 'पालागो' में गोपियों के अनुनय और दैन्य भाव की अभिव्यक्ति हुई है।
(5) अंतिम पंक्ति में लोकोक्ति अलंकार है।
(6) श्रीकृष्ण के प्रति अनन्य भक्ति और निष्ठा की यह प्रवृत्ति गोपियों के आत्म-समर्पण की वृत्ति को उजागर करती है।

राग कान्हरो

पूरनता इन नयन न पूरी।
तुम जो कहत स्रवननि सुनि समुझत, ये याही दुख मरति बिसूरी ।।
हरि अंतर्यामी सब जानत बुद्धि विचारत बचन समूरी।
वै रस रूप रतन सागर निधि क्यों मनि पाय खवावत धूरी ।।
रहु रे कुटिल, चपल, मधु लंपट, कितव सँदेस कहत कटु कूरी।
कहँ मुनिध्यान कहाँ ब्रजयुवती ! कैसे जात कुलिस करि चूरी ।।
देखु प्रगट सरिता, सागर, सर, सीतल सुभग सम रुचि रूरी।
सूर स्वातिजल बसै जिय चातक चित लागत सब झूरी ।। 29 ।।

शब्दार्थ—पूरनता = ब्रह्म की पूर्णता की बात। न पूरी = जँचती नहीं, समाती नहीं। बिसूरी = व्याकुल होकर। समूरी = पूर्णरूपेण, जड़ से। रस रूप = आनन्द स्वरूप। रत्न सागर निधि = बहुत बड़े रत्नों के सागर हैं—श्रीकृष्ण जो अलौकिक सौन्दर्य से परिपूर्ण हैं। धूरी = धूल। मधु-लंपट = मकरन्द के लोभी। कुलिस = वज्र। चूरी = चूर्ण करना। रुचि रूरी = सुरुचिपूर्ण। सुभग = सुंदर। कितव = धूर्त, छली। कूरी = क्रूर, निष्ठुर। झूरी = शुष्क, नीरस।

सन्दर्भ—इसमें गोपियों ने उद्धव के प्रति भ्रमर के माध्यम से अपना आक्रोश व्यक्त किया है। जब उद्धव ने ब्रह्म की पूर्णता का विश्लेषण करना आरम्भ किया तो गोपियाँ उनके ऐसे कथन से नाराज हो गयीं और उद्धव को फटकारने लगीं।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, आपके ब्रह्म की पूर्णता की बात (ब्रह्म पूर्ण है, अखण्ड है आदि की चर्चा) हमारे इन नेत्रों में समा नहीं पाती (उन्हें नहीं जँचती)। यद्यपि तुम जो भी ब्रह्म-विषयक बात करते हो उसे हमारे कान सुनते हैं, लेकिन इन बातों से हमारे नेत्रों को संतोष नहीं होता—वे व्याकुल होकर मरने लगते हैं (उन्हें इन बातों से असह्य पीड़ा होती है)। उन्हें ऐसी शंका भी है कि कहीं ऐसा न हो कि हम सब तुम्हारे फेर में पड़ कर श्रीकृष्ण को त्याग दें। त्यागने पर नेत्रों को सुख कैसे मिल सकता है क्योंकि श्रीकृष्ण ने तो वहीं अपना स्थान बनाया है—वे गोपियों के नेत्रों में समाये रहते हैं। भगवान अन्तर्यामी है सब जानते हैं और इसे हम सब बुद्धि से पूर्णरूपेण विचार करती हैं तथा इस बात को ठीक समझती हैं, लेकिन उन आनन्दस्वरूप रत्नों के महासागर अत्यंत सौन्दर्यशाली श्रीकृष्ण जैसी महार्घ मणि को प्राप्त कर लेने पर आप हमें धूल क्यों फँका रहे हैं ? (निर्गुण ब्रह्म की नीरसता का पाठ क्यों पढ़ाते हैं—अर्थात् जहाँ आनन्दस्वरूप चिन्तामणि श्रीकृष्ण हैं वहाँ ब्रह्म चिन्तन की नीरसता से कैसे सुख मिल सकता है ?) इतना कहते-कहते गोपियों का आक्रोश बढ़ गया और वे भ्रमर के माध्यम से अतिशय अनावृत रूप में उद्धव से कहने लगीं—रे कुटिल, चंचल मकरन्द लोभी, कपटी एवं क्रूर भ्रमर ठहर जा (ज्यादा मत बोल) तू क्यों ऐसे कटु संदेश द्वारा हम सब को पीड़ित कर रहा

है। क्या तुम नहीं जानते कि कहाँ मुनियों जैसी गंभीर साधना और कहाँ सरल अबोध ब्रज की युवतियाँ कितना अन्तर है—इन्हें ब्रह्म ज्ञान की शिक्षा देना क्या उचित है ? भला, व्रज को कैसे टुकड़े-टुकड़े किया जा सकता है ? (जैसे वज्र को पीसना असंभव है उसी प्रकार इन अबोध गोपियों को ब्रह्म-साधना में प्रवृत्त करना)। तुम प्रत्यक्ष रूप में क्यों नहीं देखते कि एक ओर संसार में नदी, समुद्र और तालाब का सुंदर स्वादिष्ट और सुरुचिपूर्ण जल भरा हुआ है, लेकिन चातक के चित में तो एक मात्र स्वाती का ही जल बसता है, उसे अन्य जल तो सर्वथा नीरस और अपेय प्रतीत होता है (ठीक यही हमारी मानसिक दशा है—हमें श्रीकृष्ण प्रेम के अतिरिक्त सभी चीज़ें अनाकर्षक प्रतीत होती हैं)।

टिप्पणी—

(1) छठीं पंक्ति में निदर्शना अलंकार है।

(2) सातवीं और आठवीं पंक्तियों में चातक के आदर्श प्रेम का निरूपण है—इस सम्बन्ध में तुलसीदास का भी कथन है—

मान राखिबो मांगिबो पिय सों सहज सनेहु।
तुलसी तीनों तब फबै जब चातक मत लेहु॥

(3) दूसरी पंक्ति (तुम ...... स्रवननि सुनि समुझत ...... और सातवी पंक्ति देखु प्रगट सरिता सागर सर सीतल सुभग स्वाद रुचि रूरी) में छेकानुप्रास अलंकार है।

(4) 'क्यों मनि पाय खवावत धूरी' में लोकोक्ति अलंकार है।

राग धनाश्री

हमतें हरि कबहूँ न उदास।
राति खवाय पिवाय अधररस क्यों बिसरत सो ब्रज को बास॥
तुमसों प्रेम कथा को कहिबो मनहुँ काटिबो घास।
बहिरो तान-स्वाद कहँ जानै, गूँगो-बात-मिठास॥
सुनु री सखी, बहुरि फिर ऐहैं वे सुख बिविध बिलास।
सूरदास ऊधो अब हमको भयो तेरहों मास॥ 30 ॥

शब्दार्थ—काटिबो घास = व्यर्थ में सिर खपाना। अधररस = अधरामृत। बहुरि = पुनः। तेरहों मास = अवधि बीत जाना।

सन्दर्भ—इसमें यह बताया गया है कि गोपियों ने श्रीकृष्ण को अपने व्यवहार से कभी असंतुष्ट नहीं किया। उन्हें यह दृढ़ विश्वास है कि उन्होंने श्रीकृष्ण को जितना सुख पहुँचाया उसे वे कभी भूल नहीं सकते।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, श्रीकृष्ण हमसे कभी भी दुखी नहीं थे (हमने उन्हें कभी दुख नहीं दिया) और श्रीकृष्ण अपने उस ब्रज-वास को कैसे भूल सकते हैं—जब हम सब उन्हें रात में अच्छी-अच्छी वस्तुएँ खिलाती थीं और अपने अधरामृत पान से संतुष्ट कर देती थीं। अब तुमसे अपनी उन बीती घड़ियों की प्रेम-कथा का उल्लेख करना घास काटने के समान है (व्यर्थ में सिर खपाना है)। तुमसे अपनी बात यदि कहूँ तो उसी तरह लगेगा (प्रतीत होगा) जैसे बहरे व्यक्ति के समक्ष संगीत की बात करना। भला, बहरा संगीत के आनन्द को

क्या जानेगा और गूँगा वाणी के माधुर्य का स्वाद कैसे बता सकता है ? इतना कहते-कहते कोई गोपी अपनी सखी से कहने लगी—हे सखी, सुनो, तुमने जिन सुखों और नाना प्रकार के विलासों का उपभोग श्रीकृष्ण के साथ किया है, वे सुख और वे विलास की घड़ियाँ फिर देखने को मिलेगीं ? सूरदास का कथन है कि गोपी पुनः उद्धव की ओर उन्मुख होकर कहने लगी, हे उद्धव, अब तो हमारी अवधि बीत चुकी है (अवधि से ज्यादा हो चुका है) अतः अब श्रीकृष्ण का मिलन अवश्यमेव होगा और हम सबकी संकट की घड़ियाँ शीघ्र दूर होंगी।

टिप्पणी—

(1) दूसरी पंक्ति में स्मृति संचारी भाव है।
(2) 'घास काटिबो' एक मुहावरा है।
(3) 'बहिरो ...... बात मिठास' में उदाहरण अलंकार।
(4) अन्तिम दोनों पंक्तियों में गोपियों का आशावादी दृष्टिकोण व्यक्त हुआ है।
(5) तेरहोमास और घास काटिबो जैसी शब्दावली द्वारा ब्रजभाषा की व्यंजना शक्ति की ओर स्पष्ट संकेत है।

राग धनाश्री

तेरो बुरो न कोऊ मानै।
रस की बात मधुप नीरस सुनु, रसिक होत सो जानै॥
दादुर बसै निकट कमलन के जन्म न रस पहिचानै।
अलि अनुराग उड़न मन बाँध्यो कहे सुनत नहि कानै॥
सरिता चलै मिलन सागर को कूल मूल द्रुम भानै।
कायर बकै, लोह तें भाजै, लरै जो सूर बखानै॥ 31 ॥

शब्दार्थ—रस की बात = प्रेम की बातें। दादुर = मेढक। उड़न = उड़ने में, कमल तक पहुँचने में। मनबाँध्यो = मन को कमल प्रेम में नियंत्रित कर रखा है (एक मात्र अपने मन को भ्रमर ने कमल में ही बाँध रखा है)। सुनत नहिं कानै = मर्यादा की परवाह नहीं करता (इस सम्बन्ध में मर्यादा की भी कान नहीं करता)। द्रुम भानै = वृक्षों को उखाड़ देती है। बकै = प्रलाप करते हैं। लोह = हथियार। भाजै = भाग जाता है (डर जाता है)। सूर बखानै = जो योद्धा कहा जाता है।

सन्दर्भ—इसमें उद्धव और गोपियों के दृष्टिकोण का निरूपण किया गया है। गोपियाँ श्रीकृष्ण प्रेम की महत्ता का गान करती हैं और उद्धव निर्गुण के महत्व बखानने में लगे हैं।

व्याख्या—उद्धव को भ्रमर के रूप में सम्बोधित करती हुई गोपियाँ व्यंग्य-गर्भित शैली में कह रही हैं—हे नीरस भ्रमर, तेरी बातों को कोई बुरा नहीं मानता, क्योंकि सभी जानते हैं कि तुम शुष्क हृदय हो और प्रेम की बातों के महत्व को क्या समझो। अरे नीरस भ्रमर, यदि तुम सरस होते, रसज्ञ होते तो रस (प्रेम) की बातों को ग्रहण करते—तुमसे तो रस की चर्चा ही करना बेकार है। रस की बात तो रसज्ञ ही जानते हैं। पुनः गोपियाँ अपने कथन की पुष्टि के लिए मेढक का दृष्टान्त दे रही हैं और कहती हैं कि यद्यपि मेढक जल में कमलों के निकट निवास करता है, लेकिन वह पूरे जन्म (जीवन-पर्यन्त) रस (कमलों के मकरन्द) के महत्व का सुख नहीं ले

पाता—वह रस क्या वस्तु है इसे नहीं जान पाता। किन्तु कमल के रस-लोभी भौरों ने उसके निकट उड़ने में ही अपने मन को बाँध रखा—तात्पर्य यह है कि कमल के निकट रहने वाला मेढक कमल के मकरन्द का आस्वाद जीवन भर नहीं ले पाता, लेकिन बन में रहनेवाला भ्रमर कमल के प्रेम में (उड़ कर उसके पास पहुँचने ही में) अपने मन को लगा देता है और कहने सुनने पर भी मर्यादा की परवाह नहीं करता। प्रेमोद्रेक की स्थिति यह है कि नदी अपने किनारे के वृक्षों की परवाह न करके उन्हें तोड़ती हुई अपने प्रियतम समुद्र से मिलने के लिए चल पड़ती है। तात्पर्य यह है कि नदी का प्रेम निकट के वृक्षों से नहीं है, दूरस्थ समुद्र से है, इसी से वह किनारे के वृक्षों को तोड़ती हुई आवेग में समुद्र की ओर प्रवाहित हो जाती है। गोपियाँ इसी प्रकार अपने कथन की पुष्टि के लिए अन्य दृष्टान्त देती हुई कहती हैं—युद्ध स्थल में जो कायर होता है, वह तो मात्र प्रलाप करता है और योद्धाओं के हथियार देखकर भाग जाता है। (भयभीत हो जाता है) लेकिन जो लड़ता है वही वीर कहलाता है।

टिप्पणी—

(1) इसमें वस्तु से व्यंग्य है। उद्धव को मेढक रूप में व्यंजित किया गया है जो निकट रह कर भी रस को नहीं समझते (उद्धव जी श्रीकृष्ण के निकट हैं, लेकिन उनके प्रेम की महत्ता को नहीं समझते)। गोपियाँ भ्रमर तुल्य हैं जिन्होंने मथुरा से दूर रह कर भी अपने मन को श्रीकृष्ण प्रेम में बाँध रखा है।

(2) तीसरी, चौथी और पाँचवीं पंक्ति में तुल्योगिता अलंकार है। अंतिम पंक्ति में अर्थान्तर न्यास है।

(3) इसी आशय का एक दोहा 'पद्मावत' में भी देखने को मिला है—

भँवर आइ बन खंड सँग, लेहि कँवल कै बास।
दादुर बास न पावई, भलहि जो आछै पास॥

इसी प्रकार एक अन्य दोहे में भी यही भाव है—

कुमोदिनी जल में बसै चंदा बसै आकास।
जो जाही की भावना सो ताही के पास॥

(4) प्रेम-लक्षणा भक्ति में लोक मर्यादा का तिरस्कार बताया गया है, चौथी और पाँचवीं पंक्ति में इसका सुस्पष्ट संकेत है।

(5) 'सूर' में श्लेष—यह वीर और सूर कवि दोनों के लिए प्रयुक्त है।

राग धनाश्री

घर ही के बाढ़े रावरे।
नाहिन मीत वियोगबस परे अनवउगे अलि बावरे !
भुख मरि जाय चरै नहिं तिनुका सिंह को यहै स्वभाव रे !
स्रवन सुधा-मुरली के पोषे, जोग-जहर न खवाव रे !
ऊधो हमहि सीख का दैहो ? हरि बिनु अनत न ठाँव रे !
सूरदास कहाँ लै कीजै थाही नदिया नाव रे॥ 32 ॥

शब्दार्थ—घर ही के बाढ़े = घर ही में बहुत बढ़-बढ़ कर बातें करने वाले। रावरे =

आप। मीत = मित्र। अनवउगे = सहोगे, अँगवोगे। भुख मरि जाय = भले ही भूखों मर जाय। तिनुका = घास। जोग-जहर = विष तुल्य योग की चर्चा। अनत न ठाँव = अन्यत्र शरण नहीं है। थाही = थहाई हुई (जिसकी गहराई समझी बूझी है)।

सन्दर्भ—गोपियाँ उद्धव के प्रलाप को सुनकर क्रुद्ध हो गयीं और कहने लगीं कि उद्धव जी अपने ज्ञान का जितना ढिंढोरा पीट रहे हैं, उतना वह हैं नहीं। इसमें गोपियों की श्रीकृष्ण के प्रति एकनिष्ठता और प्रेम की अनन्यता की व्यंजना हुई है।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का व्यंग्य-कथन) हे उद्धव, तुम अपने घर पर ही अपने ज्ञान की थोथी बातों का बढ़-बढ़कर भले ही बखान कर लो, किन्तु जब दूसरे के समक्ष पहुँचोगे तो पता चलेगा कि तुम्हारे ज्ञान में कितनी गहराई है। तात्पर्य यह है कि हम गँवार गोपियों में ही तुम अपने ज्ञान का प्रलाप करने वाले हो। हे मित्र, अभी तुम वियोग के फेर में नहीं पड़े (अभी तुमने वियोग की पीड़ा का अनुभव नहीं किया) हे पागल भ्रमर (हे अज्ञानी उद्धव) जब हमारी स्थिति में पड़ोगे तो तुम्हें भी ऐसी वियोग पीड़ा सहनी पड़ेगी। कहा जाता है कि सिंह का यह स्वभाव है कि मांस न मिलने पर वह कभी घास नहीं चरेगा, भले ही वह भूखों मर जाय। उसी प्रकार श्रीकृष्ण के दर्शन न होने पर भले ही हम लोग उनके वियोग में मर जायें, लेकिन किसी अन्य की उपासना नहीं करेंगी। तुम्हें मालूम होना चाहिए कि ये हमारे कान श्रीकृष्ण की मुरली की ध्वनि रूपी सुधा (अमृत) से पोषित हैं (श्रीकृष्ण ने अपनी मुरली की सुधोपम ध्वनि से इन कानों को आनंदित किया है) अब उन्हीं कानों को अपनी योग-साधना विषयक कटु वाणी (जहरीली बातों) से पीड़ित मत करो। तात्पर्य यह है कि कहाँ मुरली की मधुर ध्वनि और कहाँ तुम्हारी यह कटु योग वार्ता—दोनों में कितना अन्तर है। हे उद्धव, तुम हमें क्या शिक्षा दोगे—हम तो तुम्हारी बातों को भली भाँति समझती हैं। हमारे लिए तो एक मात्र श्रीकृष्ण की ही शरण है—कृष्ण के बिना अन्यत्र हमारे लिए कोई स्थान (शरण) नहीं है। सूरदास के शब्दों में गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं—हे उद्धव, हम थहायी हुई नदी के लिए आपकी योग रूपी नाव को लेकर क्या करेंगी अर्थात् जिस संसार की गहराई के बारे में हम लोग जान चुकी हैं (यह संसार कितना छिछला है इसे पार करना कौन सी मुश्किल बात है) उसे पार करने के लिए आपकी योग चर्चा रूपी नाव की क्या आवश्यकता ? अरे, नाव तो गहरी नदी में चलायी जाती है (जब संसार को बिना योग-साधना के ही पार किया जा सकता है तो इसे (योग रूपी नाव को) ग्रहण करने की क्या अपेक्षा है) ? यह नाव (योग) तुम जैसे योगियों के लिए अधिक उपयोगी है, हम गोपियों के लिए श्रीकृष्ण की भक्ति और प्रेम ही बहुत महत्वपूर्ण है।

टिप्पणी—

(1) 'घर ही के बाढ़े' में लोक-प्रचलित मुहावरे एवं रूढ़ि लक्षणा का प्रयोग।

(2) तीसरी पंक्ति में उदाहरण अलंकार।

(3) 'जोग-जहर' में रूपक अलंकार।

(4) 'थाही नदिया नाव' में लोकोक्ति से अन्योक्ति अलंकार की ध्वनि है।

(5) सुधा मुरली में 'ध्वनि' का लोप है, अतः न्यून पदत्व दोष है इस कारण रूपक की ठीक संगति बैठ नहीं सकी।

(6) पाँचवीं पंक्ति में एक मात्र भक्तों के लिए भगवान की शरण का संकेत है।

राग मलार

स्याममुख देखे ही परतीति।
जो तुम कोटि जतन करि सिखवत जोग ध्यान की रीति॥
नाहिंन कछू सयान ज्ञान में यह हम कैसे मानैं।
कहौ कहा कहिए या नभ को कैसे उर में आनैं॥
यह मन एक, एक वह सूरति, भृंगकीट सम माने।
सूर सपथ दै बूझत ऊधौ वह व्रज लोग सयाने॥ 33॥

शब्दार्थ—परतीति = विश्वास। सयान = चतुराई। भृंगकीट सम = भृंगी कीड़े के समान (भृंगी कीड़े के सम्बन्ध में ऐसा कहा जाता कि वह जिस कीड़े को पकड़ता है उसे भी अपने समान कर देता है)। सपथ दै = सौगन्ध देकर। बूझत = पूछते हैं। नभ = आकाश, शून्य (ब्रह्म के प्रति संकेत)।

सन्दर्भ—गोपियाँ श्रीकृष्ण के समक्ष किसी को भी मानने के लिए तैयार नहीं हैं। उद्धव जी गोपियों को योग की बलात् शिक्षा देना चाहते हैं; लेकिन गोपियों का आग्रह है कि श्याम सुन्दर के सौन्दर्यपूर्ण मुखमण्डल को देख लेने पर औरों के प्रति विश्वास नहीं होता।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, तुम जो हमें अतिशय यत्नपूर्वक योगाभ्यास की रीतियाँ सिखा रहे हो वह हमारे लिए बेकार है, क्योंकि हमें तो श्रीकृष्ण के मुख को देख लेने पर ही इसमें विश्वास हो सकता है तात्पर्य यह है कि हमारा विश्वास श्रीकृष्ण के मुख सौन्दर्य के प्रति है; अन्यों के लिए हमारे मानस में किसी प्रकार का विश्वास नहीं है। तुम हमें ज्ञान की शिक्षा दे रहे हो, लेकिन तुम्हारे इस ज्ञान-शिक्षा में भी मुझे कुछ चालाकी मालूम होती है—हम यह कैसे स्वीकार कर लें कि तुम बिना किसी प्रयोजन के हमें ज्ञान की बातें सिखा रहे हो (तात्पर्य यह है कि तुम चालाकी से हमें निर्गुण ब्रह्मोपासना में प्रवृत्त करके श्रीकृष्ण की भक्ति के प्रति उदासीन करना चाहते हो)। यह तो बताओ कि इस असीम आकाश (शून्य; ब्रह्म) के सम्बन्ध में क्या कहा जाय अर्थात् आकाश की भाँति शून्य इस ब्रह्म के सम्बन्ध में क्या कहा जाय (कैसे इसका निरूपण किया जाय) और किस प्रकार समेट कर अपने छोटे से हृदय में इसे बसा लें (यह ब्रह्म आकाश की भाँति शून्य और अनन्त है) अतः मानस के लिए अग्राह्य एवं अगम्य है) उद्धव जी हमारा मन भी एक है और श्यामसुंदर की मूर्ति भी एक ही है अतः भृंगी कीड़े की भाँति दोनों एक हृदय हो गये हैं (जैसे भृंगी कीट किसी कीड़े को पकड़ कर उसे अपने अनुरूप बना लेता है, ठीक उसी प्रकार श्रीकृष्ण ने भृंगी कीट की भाँति हमें अपने रंग में रंग लिया। सूर के शब्दों में गोपियाँ उद्धव से कहती हैं, हे उद्धव, ब्रज के चतुर लोग तुमसे सौगन्धपूर्वक पूछना चाहते हैं कि जब दोनों (हमारा मन और श्रीकृष्ण) एक ही रंग में रँग गये हैं तो योग-साधना की ओर कैसे जा सकते हैं ?)

टिप्पणी—

(1) 'नभ' ब्रह्म के प्रतीक रूप में प्रयुक्त।
(2) 'भृंगकीट सम' में धर्मलुप्तोपमा अलंकार।
(3) पाँचवीं पंक्ति में अनन्यता का भाव है। अभिन्नता की ऐसी स्थिति प्रेम-मार्ग की सत्यता में ही दृष्टिगत हो सकती है।

राग धनाश्री

लरिकाई को प्रेम, कहौ अलि, कैसे करिकै छूटत ?
कहा कहौं ब्रजनाथ-चरित अब अंतरगति यों लूटत ॥
चंचल चाल मनोहर चितवनि, वह मुसुकानि मंद धुनि गावत।
नटवर भेस नंदनंदन को वह विनोद गृह वन तें आवत ॥
चरनकमल की सपथ करति हौं यह सँदेस मोहि विष सम लागत।
सूरदास मोहि निमिष न बिसरत मोहन मूरति सोवत जागत ॥ 34 ॥

शब्दार्थ—अंतरगति = चित की वृत्ति, मन। लरिकाई = बचपन। अलि = भ्रमर (उद्धव)। निमिष = एक पल को। बिसरत = भूलता है।

सन्दर्भ—इसमें गोपियों ने कृष्ण के प्रति अपने बचपन के साहचर्य जनित प्रेम-भाव को व्यक्त किया है। यह प्रेम के सहज विकास की स्थिति का एक सजीव चित्र है।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, कृष्ण के प्रति हमारा यह प्रेम भाव आकस्मिक नहीं है, बल्कि इसका उदय बचपन से हुआ है, अतः बचपन का प्रेम कैसे छूट सकता है। ब्रजनाथ (श्रीकृष्ण) के चरित्र की क्या विशेषताएँ रहीं उन्हें तुम्हें कैसे बताऊँ, उनकी ये विशेषताएँ हमारी चित्तवृत्ति को आज भी अभिभूत कर लेती हैं (उनके चरित्र की जब याद करती हूँ तो हमारा मानस भाव-मग्न हो जाता है)। उनकी चंचल गति, सुन्दर चितवन और वह मुस्कराहट तथा मन्द-मन्द स्वरों से जब वे गाते थे—वह गाने का ढंग यही नहीं जब वे नटवर वेश में नाना प्रकार के विनोद करते हुए बन से घर लौटते थे, तो हमारा मन श्रीकृष्ण की उस मुद्रा पर मोहित हो जाता था। हम उनके कमलवत् चरणों की सपथ खाकर कहती हैं कि उनका यह योग का संदेश श्रीकृष्ण की उस रूप-माधुरी के समक्ष विष के समान दुखद प्रतीत होती है (श्रीकृष्ण की रूप-माधुरी की तुलना में योगशास्त्र विषयक ये बातें हमें जहर के समान दग्ध करने वाली प्रतीत होती हैं) सूरदास के शब्दों में गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि हे उद्धव, हमें सोते-जागते (किसी भी अवस्था में) श्रीकृष्ण की वह माधुर्यपूर्ण मूर्ति (स्वरूप) एक क्षण के लिए नहीं भूलती (हमारा मानस सदैव उसी रूप-माधुरी में डूबा रहता है)।

टिप्पणी—

(1) 'अन्तरगति यों लूटत' में रूढ़ि लक्षणा का प्रयोग,
(2) तीसरी और चौथी पंक्ति में स्मृति संचारी भाव,
(3) श्रीकृष्ण की रूप-माधुरी का चित्रात्मक वर्णन,
(4) पाँचवीं पंक्ति में समानधर्मलुप्तोपमा अलंकार,
(5) अन्तिम पंक्ति में 'मोह' संचारी भाव,
(6) प्रेम के सहज विकास का इसमें बड़ा ही मनोवैज्ञानिक चित्रण किया गया है।

राग सोरठ

अटपटि बात तिहारी ऊधौ सुनै सो ऐसी को है ?
हम अहीरि अबला सठ, मधुकर ! तिन्हैं जोग कैसे सोहै ?

बूचिहि खुभी आँधरी काजर, नकटी पहिरै बेसरि।
मुँडली पाटी पारन चाहै, कोढ़ी अंगहि केसरि॥
बहिरी सों पति मतो करै सो उतर कौन पै पावै ?
ऐसो न्याव है ताको ऊधौ जो हमैं जोग सिखावै॥
जो तुम हमको लाए कृपा करि सिर चढ़ाय हम लीन्हे।
सूरदास नरियर जो बिष को करहिं बंदना कीन्हे॥ 35 ॥

शब्दार्थ—अटपटि = बेढंगी, विचित्र। बूचिहि = कनकटा (जिनका कान कटा हो)। खुभी = लौंग नामक कान का आभूषण। नकटी = जिसकी नाक कटी हो। बेसरि = नथ। आँधरी = अंधी। मुँडली = मुंडी, जिसका सिर मुँड़ा हो। पाटी पारना = बाल सँवारना। मतो करै = सलाह करे। उतर = उत्तर, जवाब। कौन पै = किससे। न्याव = दशा। सिर चढ़ाय = शिरोधार्य। नरियर जो बिष ..... कीन्हे = जो विष का नारियल है उसे दूर से ही प्रणाम करते बनता है।

सन्दर्भ—इसमें गोपियों ने उद्धव की बातों को बहुत बेढंगा और अनुपयुक्त समझकर व्यंग्य-गर्भित शैली में उनकी कटु आलोचना की है। उद्धव ने जो पात्रता और अपात्रता का ध्यान दिए बिना योग की शिक्षा दी है, गोपियों ने उसे सर्वथा अग्राह्य माना।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, ऐसी कौन हैं जो तुम्हारी यह अटपटी वाणी सुने, अर्थात् तुम जो योग-साधना की शिक्षा दे रहे हो वह यहाँ किसी के पल्ले नहीं पड़ेगी। अटपटी बात यह है कि हम सब अहीरिनी और अबला हैं। ऐसी स्थिति में हे शठ भ्रमर, हे अज्ञानी और जड़ उद्धव योग साधना हमें कैसे शोभा दे सकती है (हमें यह कैसे अच्छी लग सकती है)। भला, यह तो बताओ कि जिसके कान कटे हैं वह लौंग नामक कर्णाभूषण कैसे ग्रहण करेगी। अंधी स्त्री काजल कैसे लगाएगी, और नकटी नथ कैसे धारण करेगी (ये सब चीज़ें इनके लिए असंभव हैं)। तुम्हारे योग की साधना भी हमारे लिए इसी प्रकार है। सोचो तो, जो मुंडी है (जिसके सिर में बाल ही नहीं है) वह केश कैसे सँवारेगी—उसका केश सँवारना-संभव नहीं। तुम्हारी बातें तो ऐसी हैं जैसे कोढ़ी के अंग में केशर लगाना (भला कोढ़ी के अंग में—जिसका अंग गलित है केशर कहाँ लगाई जा सकती है)—उसमें केशर लगाने की पात्रता कहाँ है ? और यह उसी प्रकार है जैसे किसी बहिरी स्त्री का पति उससे किसी प्रकार की सलाह ले तो उसे उत्तर कौन देगा ? तात्पर्य यह है कि तुम्हारी इन बातों को सुनने के लिए हमारे कान बहरे हैं—तुम्हें उत्तर नहीं मिलेगा। हमें जो योग की शिक्षा देना चाहेगा, उसकी स्थिति इसी प्रकार की होगी। तुम जो हमारे लिए उपहारस्वरूप यह योग लाए हो उसे हमने शिरोधार्य कर लिया, लेकिन हमारे लिए यह विषैला नारियल के समान है जिसे दूर से ही प्रणाम करते बनता है—यह सुग्राह्य नहीं है। अर्थात् तुम जो संदेश लाए हो उसे हम वंदनीय समझती हैं; लेकिन जो आपकी योग साधना का उपदेश है वह अग्राह्य है।

टिप्पणी—

(1) 'विष का नारियल' एक मुहावरा है।
(2) इसमें गोपियों ने सामान्य जन-जीवन से गृहीत उदाहरणों द्वारा अपने कथन की पुष्टि की है।
(3) तीसरी, चौथी और पाँचवीं पंक्तियों में मालोपमा है।

(4) व्यंग्य एवं हास्य की प्रधानता है।
(5) इसमें सूर की वाग्विदग्धता प्रकट हुई है।

राग बिहागरो

बरु वै कुब्जा भलो कियो।
सुनि सुनि समाचार ऊधौ मो कछुक सिरात हियो॥
जाको गुन, गति, नाम, रूप, हरि हार्‌यो, फिरि न दियो।
तिन अपनो मन हरत न जान्यो हँसि हँसि लोग जियो॥
सूर तनक चंदन चढ़ाय तन ब्रजपति बस्य कियो।
और सकल नागरि नारिन को दासी दाँव लियो॥ 36 ॥

शब्दार्थ—बरु = बल्कि। सिरात हियो = हृदय शीतल हो जाता है। हार्‌यो = हर लिया। तिन = श्रीकृष्ण के लिए प्रयुक्त है। हँसि हँसि लोग जियो = लोग श्रीकृष्ण की खिल्ली उड़ा-उड़ाकर जीते हैं। नागरि नारिन = चतुर स्त्रियाँ, सभ्य नारियाँ।

सन्दर्भ—इसमें कुब्जा के प्रति श्रीकृष्ण के ऐसे प्रेम-भाव को देखकर गोपियों ने उन्हें उलाहना दिया है। एक समय श्रीकृष्ण ने सभी चतुर नारियों के मन को हरण किया। आज स्थिति यह है कि वे स्वयं कुब्जा द्वारा ठगे गये।

व्याख्या—(उद्धव से गोपियाँ कुब्जा के सम्बन्ध में कह रही हैं। हे उद्धव, बल्कि कुब्जा ने श्रीकृष्ण के साथ अच्छा व्यवहार किया। तात्पर्य यह है कि उसने खूब सोच-समझकर उनसे बदला लिया है। कुब्जा के ऐसे व्यवहार का समाचार सुन-सुनकर हम लोगों का हृदय कुछ शीतल हो गया (हम सब को बड़ी प्रसन्नता हुई) आखिर मिली तो उन्हें एक खिलाड़िन ! अभी तक तो यही देखती रही कि श्रीकृष्ण ने जिसके गुण, नाम और रूप को हर लिया था उसे कभी वापस नहीं किया (हजम कर लिया) व्यंजना यह है कि हम सब गोपियों के गुण-गति, नाम और रूप को उन्होंने हर लिया और सब परेशान हैं, लेकिन अभी तक वे इन्हें लौटा न सके। अब इन्हें भी कोई जोड़ की मिल गयी है। उसने (कुब्जा ने) इनके मन को ऐसा हरण किया कि अभी तक उसे वे पा नहीं सके (तात्पर्य यह है कि गोपियों के प्रेम को भूल कर श्रीकृष्ण अब कुब्जा के वशीभूत हो गये हैं)। लोग श्रीकृष्ण की ऐसी दशा पर हँसते हैं और सोचते हैं कि बनते बड़े चालाक थे, किन्तु आज कुब्जा के आगे इनकी कोई चालाकी नहीं चल सकी। जरा, देखिए तो थोड़ा सा चंदन लगा कर श्रीकृष्ण को अपने कब्जे में कर लिया और उन्हें मालूम भी नहीं हुआ कि उनका मन कैसे अपहृत हो गया। तात्पर्य यह है कि उसकी बहुत सामान्य सेवा से वे पराजित हो गये और उसे अपना सब कुछ दे दिया। इसके विपरीत हम लोग जीवन भर उनकी सेवा करती रही, उनके एक वंशी स्वर के पीछे दौड़ पड़ती थी। लेकिन उन्होंने कभी भी अपना मन हम लोगों को नहीं सौंपा। अब हम लोगों को प्रसन्नता है कि मथुरा की सब कुलीन और श्रेष्ठ स्त्रियों का बदला उस दासी कुब्जा ने ले लिया। उससे इनका कोई दाँव नहीं लग सका। व्यंजना यह है कि मथुरा की ऐसी नारियों को छोड़कर श्रीकृष्ण ने कुब्जा से प्रेम किया अर्थात् एक नगण्य दासी से प्रेम किया, यह लज्जास्पद बात है।

टिप्पणी—

(1) व्यंग्य काव्य का यह एक उत्कृष्ट नमूना है।
(2) कुब्जा के सन्दर्भ में यहाँ असूया संचारी की प्रधानता है।
(3) वस्तु से वस्तु व्यंग्य—कुब्जा की प्रशंसा के द्वारा श्रीकृष्ण की निष्ठुरता की अभिव्यक्ति।
(4) दूसरी पंक्ति में काव्य लिंग अलंकार है।

राग सारंग

हरि काहे के अंतर्यामी ?
जौ हरि मिलत नहीं यहि औसर, अवधि बतावत लामी ॥
अपनी चोप जाय उठि बैठे और निरस बेकामी ?
सो कहँ पीर पराई जानै जो हरि गरुड़ागामी ॥
आई उघरि प्रीति कलई सी जैसे ख़ाटी आमी।
सूर इते पर अनख़ मरति हैं, ऊधो, पीवत मामी ॥ 37 ॥

शब्दार्थ—अन्तर्यामी = सब में व्याप्त। लामी = लम्बी, बहुत बड़ी। चोप = उमंग, उल्लास। निरस = नीरस। बेकामी = निष्कामी। आमी = आम। अनख = नाराज। पीवत मामी = बात को पी जाते हैं, किसी चीज को साफ इन्कार कर देते हैं (यह एक मुहावरा है)। गरुड़ागामी = गरुड़ पक्षी की सवारी करने वाले। उधरि आई = खुल गयी, प्रकट हो गयी।

प्रसंग—इसमें गोपियों ने श्रीकृष्ण और उद्धव के प्रति अपना उपालम्भ-भाव व्यक्त किया है।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कहती हैं—हे उद्धव, तुम जो यह कहते हो कि हरि अंतर्यामी हैं (सब के हृदय में व्याप्त हैं) यह हम कैसे मान लें ? वे जब हमसे मिलते नहीं—ऐसी वियोगावस्था में भी जब वे हमें दर्शन नहीं देते और अपने आने की लम्बी अवधि (दीर्घ समय) बताते हैं तो उन्हें अन्तर्यामी की संज्ञा कैसे दी जा सकती है। वे तो अपनी उमंग में स्वेच्छया मथुरा जाकर छा गये—उन्हें वहाँ जाने के लिए हम लोगों ने कहा तो था नहीं ! अब क्या देखती हूँ कि वहाँ जाते ही उन्होंने अपनी सहृदयता भुला दी और नीरस तथा निष्कामी बन गये (अब योगियों की भाँति निष्कामना की बात करने लगे)। भला, वे दूसरों की पीड़ा का अनुभव क्या कर सकते हैं जो सदैव गरुड़ की सवारी किया करते हैं तात्पर्य यह है कि जो कभी सामान्य लोगों की भाँति भूतल पर पैर ही नहीं रखते वे भूतल पर रहने वालों की पीड़ा क्या समझ सकते हैं ? लेकिन अब उनके झूठे प्रेम का रहस्योद्घाटन उसी प्रकार हो गया जैसे किसी बर्तन की कलई पर खट्टे आम को मल देने पर उसका वास्तविक रंग उभर आता है—मथुरा जाने पर ही पता लग गया कि श्रीकृष्ण का हम लोगों के प्रति कितना प्रेम था—वस्तुतः यह वियोग उनके प्रेम को कसने की सच्ची कसौटी है। सूर के शब्दों में गोपियों का कथन है कि हे उद्धव, हम सब इतने पर भी दुख से कुढ़ती रहती हैं कि वे अब भी साफ इनकार करते हैं कि हम तुम सबों से अलग नहीं हैं अर्थात् यह नहीं मानते कि उनका प्रेम सर्वथा झूठा और बनावटी है।

टिप्पणी—

(1) 'आई उघरि प्रीति कलई' में लोकोक्ति अलंकार है।

(2) 'अपनी चोप जाय उठि बैठे' में मुहावरे का सुंदर प्रयोग है।

(3) 'सो कह पीर पराई जानै' मुहावरे जैसा प्रयोग (जाके पैर न फटै बिवाई सो का जाने पीर पराई)

(4) 'गरुड़गामी' में परिकरांकुर अलंकार। गरुड़गामी विशेषण कृष्ण के लिए साभिप्राय अर्थ में प्रयुक्त है। गरुड़ की कठोरता प्रसिद्ध है—उसकी सवारी करने वाले में भी उसकी कठोरता का गुण मौजूद है।

(5) 'मामी पीना' भी एक मुहावरा है जो सूर की अर्थ-व्यंजकता में पूर्ण योग देता है।

राग सारंग

बिलग जनि मानहु, ऊधौ प्यारे !
वह मथुरा काजर की कोठरि जे आवहिं ते कारे ॥
तुम कारे, सुफलकसुत कारे, कारे मधुप भँवारे।
तिनके संग अधिक छवि उपजत कमलनैन मनिआरे ॥
मानहु नील माट तें काढ़े लै जमुना ज्यों पखारे।
ता गुन स्याम भई कालिंदी सूर स्याम-गुन न्यारे ॥ 38 ॥

शब्दार्थ—बिलग जनि मानहु = बुरा मत मानो। कारे = काला (यहाँ यह कपटी अर्थ का व्यंजक है)। सुफलकसुत = अक्रूर। मधुप = भ्रमर। भँवारे = भ्रमणशील, घूमने वाला। कमल नैन = श्रीकृष्ण। मनिआरे = मणिवाले सर्प (कहा जाता है कि जो सर्प पुराने हो जाते हैं वे अपेक्षाकृत अधिक जहरीले होते हैं और उन्हीं में मणि भी होती है)। माट = मिट्टी का घड़ा। काढ़े = निकाले गये हैं। पखारे = धोए गए हैं। तागुन = काले गुण से। कालिंदी = यमुना। स्यामगुन न्यारे = कालों के गुण सबसे अलग और विलक्षण हैं।

सन्दर्भ—इस पद में गोपियों ने श्रीकृष्ण, अक्रूर और उद्धव तथा भ्रमर के श्यामवर्ण पर व्यंग्योक्ति द्वारा गहरी चोट की है।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कहती हैं 'हे प्यारे उद्धव, तुम हमारी बातों को बुरा मत मानना—हमारी समझ में यह मथुरा नगरी काली कोठरी के समान है—क्योंकि वहाँ से जो भी आते हैं, सभी काले लगते हैं' (तात्पर्य यह है कि तुम्हारी मथुरा कपटी पुरुषों की नगरी है और वहाँ से जो भी आते हैं सभी कपटी प्रवृत्ति के लगते हैं)। इसका प्रमाण यह है कि तुम भी वहीं से आए हो और काले हो (कपटी जैसी बातें करते हो)। अक्रूर भी हमें काले लगे क्योंकि अपने कपटाचरण से कृष्ण और बलराम को फुसलाकर यहाँ से ले गये और वहाँ का भ्रमणशील भौंरा भी काला है (उसके कपट की बात प्रकट है—वह कहीं टिकता नहीं सभी पुष्पों का रस लेता है और किसी के साथ सच्चे प्रेम का निर्वाह नहीं करता)। इतने कालों के बीच सबसे भयंकर मणिधारी सर्प के समान श्रीकृष्ण की शोभा बढ़ जाती है—तात्पर्य यह है कि इन काले हृदय वालों में श्रीकृष्ण सबसे बढ़कर कपटी सिद्ध हुए हैं—ये उस मणिधारी भयंकर जहरीले सर्प की भाँति हैं जिसके काटने पर प्राणों की रक्षा की ही नहीं जा सकती। ऐसा लगता है कि ये सब

नील के घड़े से निकाल कर इन्हें यमुना के जल में ले जाकर धोया गया और यमुना भी इनके धोने से (इनके श्याम गुणों के कारण) काली पड़ गयी (इनका काला रंग उस पर भी चढ़ गया)। सूर के शब्दों में गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि श्याम का गुण ही बड़ा विलक्षण है, इसे कौन जान सकता है ?

टिप्पणी—

(1) 'काजर की कोठरी' के सम्बन्ध में यह छन्द अति प्रसिद्ध है—
काजर की कोठरी में कैसेहू सयानो जाय काजर की एक लीक लागिहैं, पै लागिहैं। मथुरा वालों के कपटाचरण के सम्बन्ध में आधुनिक ब्रजभाषा कवि रत्नाकर जी ने भी कहा है—मथुरा वारे दोउ एकै ढार ढारे हैं।

(2) 'मनिआरे' शब्द के वास्तविक और चमत्कारपूर्ण अर्थ पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कदाचित् ध्यान नहीं दिया और उसका अर्थ 'सुहावना' 'रौनक' किया है जो प्रसंगानुकूल ठीक नहीं है। मणिधारी सर्प के अर्थ में यह शब्द अधिक चमत्कार पूर्ण प्रतीत होता है।

(3) 'मनिआरे' में परिकरांकुर अलंकार है—सर्प की भाँति श्रीकृष्ण ने गोपियों को डस लिया और वे सब वियोग व्यथा के विष से मूर्च्छित हैं। यह साभिप्राय विशेषण का प्रयोग है।

(4) मानहु .....काढ़े में हेतूत्प्रेक्षा अलंकार, तागुन .....कालिंदी में तद्गुण। 'स्याम' में श्लेष का चमत्कार दृष्टव्य है।

(5) तागुन में यहाँ विपरीत लक्षणा का प्रयोग हुआ है—यहाँ 'गुन-अवगुण' के अर्थ में प्रयुक्त है।

(6) 'छवि उपजत' में अर्थान्तर संक्रमित वाच्यध्वनि की प्रधानता है। यहाँ छवि उपजत श्रीकृष्ण के विशेष कपटाचरण का बोधक है।

राग सारंग

अपनो स्वारथ को सब कोऊ।
चुप करि रहौ, मधुप रस-लंपट, तुम देखे अरु वोऊ॥
औरो कछू सँदेस कहन को कहि पठयो किन सोऊ॥
लीन्हें फिरत जोग जुवतिन को बड़े सयाने दोऊ॥
तब कत मोहन रास खिलाई जो पै ज्ञान हुतोऊ ?
अब हमरे जिय बैठो यह पद होनी 'होउ सो होऊ'॥
मिटि गयो मान परेखो ऊधो हिरदय हतो सो जोऊ।
सूरदास प्रभु गोकुलनायक चित-चिंता अब खोऊ॥ 39 ॥

शब्दार्थ—रस-लंपट = मकरन्द के लोभी। बोऊ = उन्हें भी (कृष्ण से प्रयोजन है)। किन सोऊ = वह भी क्यों नहीं कह डालते। रास खिलाई = रास रचाया। हुतोऊ = था। पद = वाक्य। मान परेखो = मान-सम्मान और पश्चाताप का भाव। हतो = था। जोऊ = जो भी। खोऊ = खो गया = नष्ट हो गया।

सन्दर्भ—इस पद में गोपियों ने उद्धव और श्रीकृष्ण दोनों को स्वार्थी बताया है। इसके अतिरिक्त गोपियों के हृदय की उदारता, सहनशीलता और विशालता का भी परिचय मिलता है।

व्याख्या—गोपियाँ खीझकर उद्धव से कहती हैं कि हे उद्धव, सभी अपने स्वार्थ के हैं (हमने देख लिया कि सभी इस संसार में परम स्वार्थी हैं)। अब हे मकरन्द लोभी (स्वाद प्रिय) भ्रमर (उद्धव) चुप रहो—ज्यादा बढ़-बढ़कर बातें मत करो। हमने तुम्हें भी समझ लिया उन्हें भी (श्रीकृष्ण को भी)। इतना संदेश कहने के अतिरिक्त यदि उन्होंने कुछ और संदेश भेजा है तो उसे भी क्यों नहीं कह डालते। तात्पर्य यह है कि तुमने जितनी जली-भुनी बातें बताई हैं उन सबको सहने के लिए हम सब का मानस तैयार है—तुम जो भी खरी-खोटी सुनाओगे उसे हम सब सहर्ष बर्दाश्त कर लेंगी। तुम दोनों (कृष्ण और तुम) बड़े ही चतुर हो जो युवतियों को अर्पित करने के लिए योग का संदेश लिए फिर रहे हो। जब उन्हें ज्ञान का ही संदेश देना था तो हमसे रस-रीति की बातें क्यों कीं और किस लिए हमारे साथ रास रचाया ? अब हम लोगों के मन में यह बात पूरी तरह से बैठ गयी कि जो कुछ भी ब्रह्मा की ओर से होना है वह होवे किन्तु श्रीकृष्ण की प्रेम-साधना में किसी भी प्रकार का व्यवधान न होने पाए (हमारे मानस में इतने संकट के बावजूद कृष्ण की भक्ति और उनका प्रेम-भाव निरन्तर बना रहे)। हे उद्धव, अब तो हमारे मन में जो भी थोड़ा-बहुत मान-सम्मान और पश्चाताप का भाव था वह भी समाप्त हो गया (अब न तो कृष्ण के प्रति मान-अपमान की भावना हमारे मन में शेष रही और न उनके लिए किसी प्रकार का पछतावा ही है)। सूर के शब्दों में गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं, हे उद्धव अब हमें यह दृढ़ विश्वास है कि गोकुल के स्वामी (श्रीकृष्ण) हमारे मन की समस्त चिन्ता को अवश्य ही दूर करेंगे। (यहाँ भक्त की भगवान के प्रति दृढ़ आस्था और विश्वास का भाव व्यक्त हुआ है)।

टिप्पणी—

(1) प्रथम दो पंक्तियों में 'अमर्ष' संचारी भाव है।

(2) सातवीं पंक्ति में गीता के उस मानापमान भाव के विसर्जन की बात बतायी गयी है जो भगवान के सच्चे भक्तों के लिए परमावश्यक है।

(3) चौथी पंक्ति में उद्धव और श्रीकृष्ण दोनों को अतिशय चतुर-चालाक बताया गया है।

(4) प्रथम पंक्ति में दोनों की स्वार्थमूलक प्रवृत्ति की कटु आलोचना की गयी है।

राग सारंग

तुम जो कहत सँदेसो आनि।
कहा करौं वा नँदनंदन सों होत नहीं हितहानि॥
जोग-जुगुति किहि काज हमारे जदपि महा सुखखानि ?
सने सनेह स्यामसुन्दर के हिलि मिलि कै मन मानि॥
सोहत लोह परसि पारस ज्यों सुबरन बारह बानि।
पुनि वह चोप कहाँ चुम्बक ज्यों लटपटाय लपटानि॥
रूपरहित नीरासा निरगुन निगमहु परत न जानि॥
सूरदास कौन विधि तासों अब कीजै पहिचानि॥ 40 ॥

शब्दार्थ—आनि = आकर। हित-हानि = प्रेम की हानि (प्रेम का त्याग)। सने सनेह = प्रेम में डूबे हुए। सुबरन = स्वर्ण, सोना। बारह बानि = तपाया गया सोना, खरा। चोप = उमंग, चाव। लटपटाय = अनुरक्त होकर, मोहित होकर। लपटानि = लिपट जाने का भाव। नीरासा = आशारहित। निगमहु = वेदों को भी। कौन विधि = किस प्रकार।

संदर्भ—इसमें गोपियाँ श्रीकृष्ण के प्रेम में अनुरक्त अपने मन की विवशता का वर्णन कर रही हैं। उनके अनुसार यह मन श्रीकृष्ण के प्रेम में इतना तन्मय है कि उसे योग की समस्त युक्तियाँ बेकार प्रतीत होती हैं, इस पर इन युक्तियों का प्रभाव किसी भी प्रकार नहीं पड़ता।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, तुम यहाँ आकर योग का संदेश हमें दे रहे हो, लेकिन क्या करें हमारी यह विवशता है कि हमसे श्रीकृष्ण के प्रेम को त्यागते नहीं बनता। यद्यपि तुम्हारी योग-साधना विषयक युक्तियाँ अत्यंत सुखदायिनी हैं, लेकिन ये हमारे किस काम की हैं अर्थात् जब इस योग-साधना के लिए श्रीकृष्ण प्रेम को हमें त्यागना पड़े तो इसकी हमारे लिए क्या उपयोगिता, क्योंकि यह निश्चित बात है कि हम श्रीकृष्ण प्रेम को किसी भी प्रकार त्याग नहीं सकतीं। तुम्हें जानना चाहिए कि श्यामसुन्दर के प्रेम में तन्मय हमारे मन ने उनसे हिल-मिलकर अपना सब कुछ अर्पित कर दिया और उनकी भक्ति और प्रेम को स्वीकार कर लिया—अब उसे त्यागना हमारे लिए असंभव है। यथा लोहा जब एक बार पारस पत्थर के स्पर्श से बारहबानी (खरा) स्वर्ण के रूप में परिणत हो जाता है तो पुनः उसमें वह चाव या उमंग कहाँ शेष रहती है कि चुम्बक से मोहित होकर लिपट जाय (स्वर्ण हो जाने पर पूर्व स्थिति नहीं रह जाती) उसी प्रकार श्रीकृष्ण के प्रेम में पगा हमारा यह मन अन्यत्र नहीं जा सकता (यह मनःस्थिति की परिवर्तित दशा है जिसमें अन्यों के प्रति आकर्षण का स्थान नहीं बचता) तुम्हारा ब्रह्म तो निराकार, निष्काम और गुणातीत है, उसे वेद भी नहीं जान पाते। अतः सूरदास के शब्दों में गोपियों का कथन है कि ऐसे ब्रह्म से किस प्रकार परिचय किया जाय ? (ऐसे अगम्य, गुणातीत, निराकार ब्रह्म के रहस्य को किन उपायों से जाना जाय) ?

टिप्पणी—

(1) पाँचवीं पंक्ति में उदाहरण अलंकार है।

(2) बारह बानि सुबरन के सम्बन्ध में अबुल फज़ल के आइने अकबरी में विशेष विवरण प्राप्त है। उसमें बारहबानी और सोलह बानी सोने की कोटियाँ निर्धारित की गयी हैं। और तदनुरूप सोने का मूल्यांकन भी किया गया है। बारहबानी स्वर्ण को बारह बार तपा कर खरा करने की प्रक्रिया का उल्लेख उसमें किया गया है।

(3) मन की विवशता का यह एक सुन्दर और मनोवैज्ञानिक नमूना है।

(4) निर्गुण ब्रह्म की अग्राह्यता और सगुण की सरसता और सहजता का निरूपण काव्योचित ढंग से किया गया है।

राग धनाश्री

हम तौ कान्ह केलि की भूखी।
कैसे निरगुन सुनहिं तिहारो बिरहिन बिरह-बिदूखी ?
कहिए कहा यहौ नहिं जानत काहि जोग है जोग।

पा लागों तुमहीं सों वा पुर बसत बावरे लोग ॥
अंजन, अभरन, चीर, चारु बरु नेकु आप तन कीजै।
दंड, कमंडल, भस्म, अधारी जो जुवतिन को दीजै ॥
सूर देखि दृढ़ता गोपिन की ऊधो यह ब्रत पायो।
कहै 'कृपानिधि हो कृपाल हो ! प्रेमै पढ़न पठायो' ॥ 41 ॥

शब्दार्थ—कान्ह केलि = कृष्ण-लीला। बिरह-बिदूखी = विरह से दुखित या संतप्त। काहि जोग = किसके योग्य। जोग = योग। पालागों = पैर छूती हूँ। तुमहीं सो = तुम्हारी ही भाँति। बावरे = पगले। अभरन = आभरण, भूषण। चीर चारु = सुन्दर वस्त्र। बरु = बल्कि। भस्म = राख। अधारी = वह लकड़ी जिसका सहारा साधुगण लेते हैं। ब्रत पायो = यह प्रेम का संकल्प उन्हें मिला। प्रेमै पढ़न = प्रेम पद्धति सीखने के लिए।

सन्दर्भ—इसमें गोपियों की अटल प्रेम-भक्ति का निरूपण किया गया है। वस्तुतः गोपियों की ऐसी प्रेम-निष्ठा देख कर उद्धव भी उसी रंग में रँग गये।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, हम सब तो कृष्णलीला के आनन्द को प्राप्त करने के लिए लालायित हैं—इसके अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु की भूख (उत्कट अभिलाषा) हममें नहीं है। भला, यह तो बताओ कि हम तुम्हारे निर्गुण के गुण को कैसे सुनें, क्योंकि हम लोग वियोग की ज्वाला में पूर्णतया संतप्त हैं। भला, तुमसे क्या कहें जिन्हें यह भी नहीं मालूम कि यह योग-साधना किसके लिए है ? तात्पर्य यह है कि तुम इतने अज्ञानी हो कि यह भी नहीं समझते कि क्या हम लोग इस कठिन योग-साधना की उपयुक्त पात्री हैं ? उद्धव, हम सब तुम्हारे पैर छूकर पूछती हैं (बड़ी विनयशीलतापूर्वक जानना चाहती हैं) कि उस नगर (मथुरा) में तुम्हारे ही जैसे सभी लोग पागल हैं (व्यंजना यह है कि तुम तो पागल हो ही जिसने (जिस कृष्ण ने) तुम्हें योग-संदेश हेतु भेजा है वह भी पागल ही है)। हाँ, हमारी भी तुमसे एक शर्त है वह यह कि जैसे तुम हम युवतियों को दण्ड, कमंडल, राख और अधारी देने का आग्रह कर रहे हो बल्कि उसी प्रकार आप भी जरा हम लोगों का अंजन, आभूषण और सुन्दर वस्त्र अपने शरीर पर धारण करके देखें कि क्या यह अच्छा लगता है (अभिप्राय यह है कि जैसे योगी पुरुषों के कमंडल, भस्म और अधारी आदि हम स्त्रियों को शोभा नहीं दे सकते उसी प्रकार हम स्त्रियों के शृंगारिक प्रसाधन आपके शरीर में कैसे शोभा पा सकते हैं ? कहीं पुरुषों का पहनावा स्त्रियों को और स्त्रियों का पहनावा पुरुषों के उपयुक्त हो सकता है ? सूरदास के शब्दों में उद्धव जी गोपियों की ऐसी दृढ़ भक्ति और प्रेम की ऐसी निष्ठा देखकर स्वतः अभिभूत हो गये और उन्होंने उनके प्रेम संकल्प एवं व्रत को ग्रहण कर लिया और मन में कहने लगे कि ऐसा प्रतीत होता है कि कृपासागर दयालु कृष्ण ने गोपियों के प्रेम-पाठ पढ़ने के लिए ही मुझे यहाँ भेजा है।

टिप्पणी—

(1) 'कान्ह केलि की भूखी' में लक्षणा का प्रयोग।
(2) तृतीय पंक्ति में दो बार 'जोग' शब्द की आवृत्ति हुई और दोनों का अर्थ भिन्न है, अतः इसमें यमक अलंकार है।
(3) गोपियों की भक्ति और प्रेम-महिमा का काव्योचित वर्णन।
(4) 'पालागों' में व्यंजना बलित शब्दावली का प्रयोग।

(5) पाँचवीं और छठीं पंक्ति में सूर की वचनविदग्धगत और वक्रोक्ति विधान का सुन्दर नमूना मिलता है।

राग धनाश्री

अँखियाँ हरि-दरसन की भूखी।
कैसे रहैं रूपरसराची ये बतियाँ सुनि रूखी॥
अवधि गनत इकटक मग जोवत तब एती नहिं झूखी।
अब इन जोग-सँदेसन ऊधो अति अकुलानी दूखी॥
बारक वह मुख फेरि दिखाओ दुहि पय पिवत पतूखी।
सूर सिकत हठि नाव चलायो ये सरिता हैं सूखी॥ 42 ॥

शब्दार्थ—रूप रस राची = श्रीकृष्ण के सौन्दर्य-रस में डूबी। रूखी = शुष्क, नीरस। अवधि = कृष्ण के आने का एक निश्चित समय। जोवत = देखना। झूखी = संतप्त हुई। बारक = एक बार। पय = दूध। पतूखी = पत्ते का दोना (पात्र)। सिकत = सिक्ता, बालू। सिकत..सूखी = व्यर्थ बालू में नाव चला रहे हो, ये सूखी नदियाँ हैं (युवतियों को योग की शिक्षा देना उसी प्रकार है जैसे बालू में नाव चलाना जो संभव नहीं)।

संदर्भ—इसमें गोपियों की कृष्ण के प्रति दर्शनाभिलाषा की भावना व्यक्त हुई है।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, हमारी आँखें तो मात्र श्रीकृष्ण के दर्शन की भूख से पीड़ित हैं (इनमें एक मात्र उत्कट अभिलाषा श्रीकृष्ण के दर्शन के लिए बनी है)। भला, यह तो बताओ कि जिन आँखों ने निरन्तर श्रीकृष्ण के सौन्दर्य का पान किया—जो कृष्ण की रूप-माधुरी में सदैव डूबी रहीं—वे अब इसके अभाव में आपकी योगशास्त्र-विषयक इन नीरस बातों को सुनकर कैसे जीवित रह सकती हैं ? तुम्हारी इन बातों से उन्हें कैसे संतोष हो सकता है ? जब ये आँखें अपलक श्रीकृष्ण के आगमन की अवधि की गणना करती हुई उनका मार्ग देख रही थीं तब इतनी दुखी नहीं थीं—कारण यह है कि तब श्रीकृष्ण के आने की एक प्रबल आशा इनमें बनी हुई थी, लेकिन अब तो इन्हें इन योग के संदेशों को सुनकर अति कष्ट हुआ और ये घबरा उठी हैं (अब इन्हें सचमुच श्रीकृष्ण के अनागमन की निराशा हो गयी है) लेकिन आपसे एक निवेदन यह है कि एक बार हमारी इन आँखों को श्रीकृष्ण की वही पूर्व मुद्रा पुनः दिखला दीजिए जब वे बन में पत्तों के पात्र में गायों का दूध दुह कर पीते थे। सूर के शब्दों में गोपियाँ उद्धव से आग्रहपूर्वक कहती हैं कि हे उद्धव, तुम हठ करके बालू में नाव मत चलाओ क्योंकि ये नदियाँ (गोपियों से प्रयोजन है) सूखी हैं अभिप्राय यह है कि जैसे बालू में नाव नहीं चलायी जा सकती उसी प्रकार योगियों के लिए उपयुक्त यह योग-साधना गोपियों को नहीं बतायी जा सकती—यह संभव नहीं है।

टिप्पणी—

(1) 'भूखी' शब्द में रूढ़ि लक्षणा का प्रयोग।
(2) चौथी पंक्ति में निराशावाद की झलक।
(3) पाँचवीं पंक्ति में आलम्बनगत अनुभाव विधान की सजग चेष्टा का संकेत।
(4) पाँचवीं पंक्ति में स्मरण और छठवीं पंक्ति में निदर्शना अलंकार है।

(5) स्मृति, उन्माद, चिन्ता और विषाद संचारी भाव की प्रधानता है।
(6) तीसरी और चौथी पंक्ति में मनोवैज्ञानिक दृष्टि का विनियोग हुआ है।

राग सारंग

जाय कहौ बूझी कुसलात।
जाके ज्ञान न होय सो मानै कही तिहारी बात॥
कारो नाम, रूप पुनि कारो, कारे अंग सखा सब गात।
जो पै भले होत कहुँ कारे तौ कत बदलि सुता लै जात॥
हमको जोग, भोग कुबजा को काके हिये समात ?
सूरदास सेए सो पति कै पाले जिन्ह तेही पछितात॥ 43 ॥

शब्दार्थ—बूझी कुसलात = कुशलता पूछी है। कत = क्यों। तौ कत लै जात = तो क्यों लड़के को बदल कर लड़की ले जाते (श्रीकृष्ण के मथुरा में जन्म लेने पर कंस के भय से वसुदेव जी ने गोकुल में श्रीकृष्ण को रख कर रोहिणी की पुत्री को उनके बदले में ले गये)। काके हिये समात = किसे जँचेगा ? (कौन इसे स्वीकार करेगा)। सेए = सेवा की। तेही = वे भी (नंद और यशोदा भी)। अंग = हिस्सा।

सन्दर्भ—इस पद में गोपियों ने कृष्ण के प्रति उपालम्भ भाव व्यक्त किया है।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, तुम कृष्ण से जाकर कह देना कि गोपियों ने तुमसे कुशल-क्षेम पूछा है—क्या तुम कुशलपूर्वक हो ? कुशल पूछने के बाद यह भी कहना कि तुम्हारी कही हुई बात (योग-संदेश) वही मान सकता है जो अज्ञानी है अर्थात् क्या तुम हमें इतनी मूर्खा समझते हो जो इस तरह योग और ज्ञान का संदेश अंगीकार कर लें। कह देना कि तुम्हारा नाम काला (कृष्ण) है पुनः रूप भी काला है और तुम्हारे मित्रों (उद्धव और अक्रूर) के शरीर के समस्त अंग काले हैं। और सत्य बात तो यह है कि यदि काले रंग वाले अच्छे होते तो वसुदेव जी क्यों तुम्हें नंदजी के यहाँ छोड़ कर बदले में रोहिणी की नवजात पुत्री उठा लाते ? भला, यह तो बताओ कि वे हमें योग संदेश देना चाहते हैं और कुब्जा को भोग-विलास में लगाए रहते हैं उनकी यह बात किसे जँचेगी (कौन उसे पसन्द करेगा)। सूरदास के शब्दों में गोपियों का कथन है कि जिन्होंने जिन (गोपियों ने) कृष्ण को पति रूप में सेवा की वे भी और जिन्होंने उन्हें पुत्रवत् पाला-पोसा वे नंद और यशोदा भी इनके व्यवहार से अब भी पश्चाताप कर रहे हैं अर्थात् काले रंग वाले कृष्ण ने अन्ततः सब को धोखा दिया।

टिप्पणी—

(1) तीसरी पंक्ति में काले वर्ण की बड़ी तीखी व्यंजना है।
(2) इसमें कृष्ण की निष्ठुरता का स्पष्ट संकेत है।
(3) पाँचवीं पंक्ति में असूया संचारी भाव है।
(4) रत्नाकार जी ने भी काले रंग वालों की अच्छी खबर ली है

आनै उर अन्तर प्रतीति यह तातै हम
रीति नीति निपट भुजंगनि की न्यारी है।
आँखिनि तैं एक तौ सुभाव सुनिबै कौ लियौ,
काननितैं एक देखिबै की टेक धारी है।

राग सारंग

कहाँ लौं कीजै बहुत बड़ाई।
अतिहि अगाध अपार अगोचर मनसा तहाँ न जाई॥
जल बिनु तरँग, भीति बिनु चित्रन, बिन चित ही चतुराई।
अब ब्रज में अनरीति कछू यह ऊधो आनि चलाई॥
रूप न रेख, बदन, बपु जाके संग न सखा सहाई।
ता निर्गुन सों प्रीति निरंतर क्यों निबहै, री माई ?
मन चुभि रही माधुरी मूरति रोम रोम अरुझाई।
हौं बलि गई सूर प्रभु ताके जाके स्याम सदा सुखदाई॥ 44 ॥

शब्दार्थ—कहाँ लौं = कहाँ तक। अगोचर = जो दृष्टिगत न हो। अगाध = जिसकी गहराई का पता न चले। मनसा = मन। तरँग = लहर। भीति = दीवाल। आनि = आकर। बदन = मुख। सहाई = सहायक। क्यों निबहै = कैसे निर्वाह हो सकता है ? माई = सखी। अनरीति = परम्परा विरुद्ध रीति, विचित्र रीति।

सन्दर्भ—इसमें उद्धव के निर्गुण ब्रह्म के सम्बन्ध में व्यंग्य करती हुई गोपियाँ परस्पर कह रही हैं कि उद्धव ने तो ब्रज में एक नयी रीति चला दी है।

व्याख्या—(सखी प्रति सखी का कथन) हे सखी, उद्धव के निर्गुण ब्रह्म की प्रशंसा कहाँ तक करें—ऐसे ब्रह्म की प्रशंसा करते जी नहीं अघाता (विपरीत लक्षणा से स्पष्टार्थ यह होगा कि उद्धव जिस ब्रह्म का निरूपण कर रहे हैं—वह निराधार है और अप्रशंसनीय है)। यह ब्रह्म तो ऐसा है जो अतिशय अगाध अनन्त है, जो न तो दिखाई पड़ता है और न वहाँ तक इन्द्रियों का राजा मन ही पहुँच पाता है—तात्पर्य यह है कि वह सब प्रकार से युवतियों के लिए अग्राह्य और अगम्य है। उद्धव जी ने तो ब्रज में आकर एक नयी और विचित्र रीति चलाई है, क्योंकि ये जिस ब्रह्म के स्वरूप का निरूपण कर रहे हैं वह तो उसी प्रकार का है जैसे बिना जल के तरंगों का उद्‌भव, बिना दीवाल के चित्रों की रचना करना, और बिना चित्त के चतुराई और कौशल की बात करना, तात्पर्य यह है कि इस प्रकार की रीति के सम्बन्ध में कुछ सोचा ही नहीं जा सकता, यह तो सर्वथा निराधार है। हे सखि, उद्धव तो अपने जिस ब्रह्म की चर्चा कर रहे हैं उसके न रूप है, और न रेखा है और न उसके मुख है और न शरीर। उसके सखा और सहायक भी कोई नहीं है। फिर उससे (उस निर्गुण ब्रह्म से) सदैव प्रेम का निर्वाह कैसे किया जा सकता है (ऐसे ब्रह्म के प्रति हम सब की कैसे अनुरक्ति हो सकती है ?) इसके विपरीत हम लोगों के मन में तो श्रीकृष्ण की मधुर मूर्ति चुभ रही है और वह रोम-रोम में उलझ गयी है; कहने का तात्पर्य यह है कि मन और शरीर के एक-एक रोम में भगवान श्रीकृष्ण की मधुर मूर्ति व्याप्त है (तन मन कृष्णमय है)। सूर के शब्दों में सखी का कथन है कि हे सखी, हम लोग तो उस पर बलिहारी हैं जिसे हमारे कृष्ण सदैव अच्छे लगते हैं। (उद्धव से क्या लाभ, वे तो हमारे कृष्ण की जगह निराकार ब्रह्मोपासना की रट लगाए हुए हैं)।

टिप्पणी—

(1) सूर मनीषियों ने इस पद में सूर द्वारा शंकराचार्य के 'वेदान्त अद्वैत' के खण्डन का उल्लेख किया है। और वल्लभाचार्य के उपादानवाद और सूर के परिणामवाद की चर्चा की है।

(2) प्रथम पंक्ति में अत्यंत तिरस्कृतवाच्य ध्वनि है।

(3) विनयपत्रिका में भी इस आशय का एक पद मिला है।

केशव कहि न जाय का कहिए ?
शून्य भित्ति पर चित्ररंग नहीं तन बिनु लिखा चितेरे।

(4) 'सूर सागर' में निराकार ब्रह्म का संकेत एक स्थल पर इसी तरह और किया गया है

रूप रेख गुन जाति जुगुति बिन निराधार मन चक्रित धावै।
सब बिधि अगम विचारहि ताते सूर सगुन पद गावै।

(5) तीसरी पंक्ति में विभावना अलंकार है।

राग मलार

काहे को गोपीनाथ कहावत ?
जो पै मधुकर कहत हमारे गोकुल काहे न आवत ?
सपने की पहिचानि जानि कै हमहिं कलंक लगावत।
जो पै स्याम कूबरी रीझे सो किन नाम धरावत ?
ज्यों गजराज काज के औसर औरै दसन दिखावत।
कहन सुनन को हम हैं ऊधो सूर अनत बिरमावत।। 45 ।।

शब्दार्थ—जोपै = यदि। मधुकर = भ्रमर (उद्धव के लिए प्रयुक्त)। किन नाम धरावत = कूबरीपति जैसा नाम क्यों नहीं धारण करते। ज्यों गजराज . . . दिखावत = जैसे हाथी के दाँत खाने के और दिखाने को और। अनत बिरमावत = अन्यत्र ठहरते हैं (दूसरों से प्रेम करते हैं)।

सन्दर्भ—इसमें गोपियों ने उद्धव से कृष्ण के कार्य-कलाप की तीखे शब्दों में निन्दा की है।

व्याख्या—(गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं) हे उद्धव, वे प्रेम तो कुब्जा से करते हैं और अपने को गोपीनाथ कहते हैं। वे अब क्यों गोपीनाथ कहलाते हैं, यदि वे हमारे कहते हैं (हमारे कहलाते हैं तो गोकुल क्यों नहीं आते, उनका न आना ही सिद्ध करता है कि वे वस्तुतः हमारे नहीं हैं—झूठ ही ऐसा कहते हैं)। वे तो यह कहते हैं कि हमारी और उनकी पहचान स्वप्न जैसी है (क्षणिक है) फिर भी गोपीनाथ नाम धारण करके हमें कलंकित-लज्जित करते हैं। यदि वे कूबरी पर ही सच्चे मन से अनुरक्त हैं तो खुलकर 'कूबरीनाथ' क्यों नहीं कहलवाते ? हमें तो उनकी सभी नीतियाँ बनावटी प्रतीत होती हैं—यह उनकी दुरंगी चाल है—यह चाल उस हाथी जैसी है जिसके खाने के दाँत और हैं और दिखाने के दाँत और हैं, दोनों समान नहीं हैं। सूर के शब्दों में कृष्ण के प्रति उपालम्भ देती हुई गोपियाँ कह रही हैं कि हे उद्धव, कहने-सुनने के लिए दिखाने के लिए तो हम उनकी प्रियतमा हैं, लेकिन वे रुकते कहीं और हैं—प्रेम किसी और से करते हैं (यहाँ कुब्जा के प्रेम का स्पष्ट संकेत है)।

टिप्पणी—

(1) 'गोपीनाथ' का सर्वथा सार्थक और अर्थ-व्यंजक प्रयोग हुआ है।

(2) पाँचवी पंक्ति में लोकोक्ति अलंकार का प्रयोग हुआ है।

(3) 'सपने की पहिचानि' में वाचक लुप्तोपमा अलंकार है।
(4) 'चौथी और छठवीं' पंक्ति में असूया संचारी भाव है।
(5) इसमें मुहावरे की अच्छी बंदिश है।

राग मलार

अब कत सुरति होति है, राजन् ?
दिन दस प्रीति करी स्वारथ हित रहत आपने काजन॥
सबै अयानि भईं सुनि मुरली ठगीं कपट की छाजन।
अब मन भयो सिंधु के खग ज्यों फिरि फिरि सरत जहाजन॥
वह नातो टूटो ता दिन तें सुफलक-सुत-सँग भाजन।
गोपीनाथ कहाय सूर प्रभु कत मारत हौ लाजन॥ 46 ॥

शब्दार्थ—सुरति = याद। दिन दस = थोड़े समय के लिए। हित = लिए। रहत आपने काजन = अपने कार्यों में लगे रहते हैं। अयानि = अज्ञानी। छाजन = वेश, स्वांग। खग = पक्षी। फिरि फिरि = बार-बार। सरत = आगे बढ़ता है। सुफलक-सुत = अक्रूर। भाजन = भाग गये।

संदर्भ—गोपियाँ उद्धव से व्यंग्यपूर्ण शैली में पूछ रही हैं कि अब भी क्या तुम्हारे राजा को मेरी याद आती हैं, क्योंकि अब वे गोपीनाथ नहीं हैं, अब वे राजा हो गये हैं।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, अब श्रीकृष्ण राजा हो गए हैं, अतः मेरी याद क्यों करने लगे (अब वे हम सब को अच्छी तरह भूल गये होंगे ? वास्तव में उन्होंने हम लोगों से स्वार्थवश थोड़े समय का प्रेम किया था, अब तो वे अपने राज्य-कार्य में लगे रहते हैं। उनका क्या दोष, हम लोग उनकी मुरली की मधुर ध्वनि सुन कर अज्ञानी बन बैठीं (विवेक खो दिया) और इस प्रकार उनके कपट वेश (स्वांग) में ठगी गयीं। किन्तु अब देखती हूँ कि हम लोगों का मन समुद्र के जहाज के पक्षी की भाँति बार-बार (रोकने पर भी) आगे बढ़ने का प्रयास करता है—एक मात्र आपकी ही शरण का सहारा लेता है (वह खूब जानता है कि हमारा उद्धार आप ही करेंगे)। उनका पुराना नाता (प्रेम-सम्बन्ध) तो उसी दिन टूट गया जिस दिन वे अक्रूर के साथ हम लोगों को छोड़ कर भाग गये (हम लोगों को धोखा दिया)। सूर के शब्दों में कृष्ण प्रति गोपियों का कथन है कि तुम गोपीनाथ कहलाकर अब क्यों हमें लज्जा से मार रहे हो (हमें क्यों लज्जित कर रहे हो ?) कहने का तात्पर्य यह है कि तुम्हें जब गोपीनाथ कह कर कोई याद करता है तो हमें लज्जित होना पड़ता है कि तुम तो अब मथुरापति हो गये हो अब तुमसे गोपीनाथ से क्या प्रयोजन ?

टिप्पणी—

(1) प्रथम पंक्ति में वस्तु से वस्तु व्यंग्य है ? प्रथम में तो उनकी स्वार्थपरता व्यंजित है और दूसरी व्यंजना यह है कि अब हमारा-तुम्हारा नाता कहाँ रहा—तुम राजा और हम लोग सामान्य गोपियाँ (राजा और प्रजा में समानता का कैसा सम्बन्ध ?)
(2) 'छाजन' संस्कृत के 'आच्छादन' का विकृत रूप है जिसका अर्थ वस्त्र या वेश से है।
(3) चौथी पंक्ति में उपमा अलंकार (सिंधु के खग ज्यों में)।

(4) 'नातो टूटो' में रूढ़ि लक्षणा का प्रयोग।
(5) 'मारत हौ लाजन' में मुहावरे का प्रयोग।
(6) अब मन भयो-'जहाजन' में कृष्ण के प्रति अटूट भक्ति और एक मात्र उन्हीं की शरण के अवलम्ब की ओर संकेत। इस तरह का संदर्भ सूर के एक अन्य पद में भी देखने को मिला है—

'जैसे उड़ि जहाज को पंछी उड़ि जहाज पर आवै।'

राग सोरठ

लिखि आई ब्रजनाथ की छाप।
बाँधे फिरत सीस पर ऊधौ देखत आवै ताप॥
नूतन रीति नंदनंदन की घर-घर दीजत थाप।
हरि आगे कुब्जा अधिकारी, तातें है यह दाप॥
आए कहन जोग अवराधो अविगत-कथा की जाप।
सूर सँदेसो सुनि नहिं लागै कहौ कौन को पाप॥ 47 ॥

शब्दार्थ—छाप = मुहर। बाँधे फिरत सीस = ब्रजनाथ की मुहर लगी हुई चिट्ठी उद्धव जी अपनी पगड़ी में बाँधे हुए घूम रहे हैं। आवे ताप = बुखार आ जाता है। दीजत थाप = स्थापित कर देना चाहते हैं—प्रचारित करना चाहते हैं। हरि आगे = कृष्ण के समक्ष—कृष्ण के होते हुए। तातें = इसीलिए। दाप = दर्प, रोब। अवराधो = आराधना करो। अविगत = निर्गुण ब्रह्म। नहिं ....पाप = किसे पाप नहीं लगेगा।

संदर्भ—श्रीकृष्ण द्वारा संप्रेषित पत्र उद्धव जी अपने सिर की पगड़ी में रखे हुए घूम रहे हैं, इसे देखकर गोपियाँ परस्पर व्यंग्यात्मक शैली में कह रही हैं।

व्याख्या—गोपियाँ परस्पर कर रही है—अरे सखियो, देखो तो, ब्रजनाथ की मुहर लगी हुई चिट्ठी आ गयी है—इसे उद्धव जी अपने सिर पर बाँधे हुए घूम रहे हैं—(पुराने काल में दूसरे की चिट्ठी को लोग गिरने या खो जाने के भय से सिर की पगड़ी में बाँधकर सुरक्षित रखते थे और पहुँचकर जिसकी चिट्ठी होती थी उसके हाथों सौंप देते थे) लेकिन इसे देखते तो हमें ज्वर चढ़ आता है (पीड़ा से समस्त शरीर जलने लगता है)। क्या देखती हूँ कि श्रीकृष्ण इस नयी रीति (योग-संदेश को) जो पत्र में लिखकर भेजा है—घर-घर में प्रचारित (स्थापित) करना चाहते हैं। अब तो श्रीकृष्ण के समक्ष (उनके होते हुए) कुब्जा अधिकारिणी बन बैठी है, इसीलिए उसे काफी घमंड हो गया है—लगता है उसी ने श्रीकृष्ण की मुहर लगाकर हम लोगों को जलाने के लिए ऐसी चिट्ठी (योग का यह संदेश) उद्धव द्वारा भिजवायी है। अब तो उद्धव जी यहाँ आकर यही प्रचारित कर रहे हैं कि योग की साधना करो और निर्गुण ब्रह्म की गाथा का जाप करो। (निर्गुणोपासना में लग जाओ)। सूर के शब्दों में गोपियाँ परस्पर कह रही हैं कि भला ऐसे अमांगलिक संदेश को सुनकर किसे पाप नहीं लगेगा (इसे करना तो दूर की बात है—सुनना भी पाप लगने के तुल्य है—इसलिए कि हम सब कृष्ण को पति रूप में वरण कर चुकी हैं—अब पतिव्रता धर्म के विरुद्ध अन्य की उपासना करना कैसे संभव है ?)।

टिप्पणी—

(1) 'देखत आवै ताप' में लोक प्रचलित मुहावरे का प्रयोग किया गया। इसके कारण सूर की भाषा की व्यंजना बढ़ गयी है।
(2) 'छाप' में पत्र की प्रामाणिकता का संकेत है।
(3) 'नूतन रीति' की व्यंजना यह है कि ऐसी रीति श्रीकृष्ण ने कभी नहीं प्रचलित की थी।
(4) अंतिम पंक्ति में 'पाप लगना' भी एक मुहावरा है।
(5) इसमें गोपियों का श्रीकृष्ण के प्रति अनन्यता का भाव व्यक्त हुआ है।
(6) अंतिम पंक्ति में काकुवक्रोक्ति अलंकार की प्रधानता है।
(7) 'हरि आगे कुब्जा अधिकारी' में गोपियों का कुब्जा के प्रति 'असूया' भाव व्यक्त हुआ है।

राग सारंग

फिरि फिरि कहा सिखावत बात ?
प्रातकाल उठि देखत ऊधो, घर-घर माखन खात ॥
जाकी बात कहत हौ हमसों सो है हमसों दूरि।
ह्याँ है निकट जसोदानंदन प्रान-सजीवनमूरि ॥
बालक संग लये दधि चोरत खात खवावत डोलत।
सूर सीस धुनि चौंकत नावहिं अब काहे न मुख बोलत ? ॥ 48 ॥

शब्दार्थ—फिरि-फिरि = बार-बार। बात = योग की बातें। जाकी बात कहते हौ = जिस निर्गुण ब्रह्म की चर्चा करते हो। प्रान-सजीवन-मूरि = प्राणों के लिए संजीवनी जड़ी के समान। सीस नावहि = लज्जा से अपने मस्तक को झुका लेते हैं।

संदर्भ—उद्धव द्वारा बार-बार योग का संदेश देने पर गोपियाँ नाराज हो गयी हैं और कहने लगीं कि जिस ब्रह्मोपासना की बात आप कर रहे हैं वह बेकार है, क्योंकि यहाँ नित्य हम लोग बालकृष्ण की लीलाओं का सुख लिया करती हैं।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, बार-बार हम लोगों को तुम योग की ऐसी शिक्षा क्यों दे रहे हो ? क्या तुम्हें मालूम नहीं है कि हम लोग प्रातःकाल नित्य उठ कर घर-घर श्रीकृष्ण को मक्खन खाते हुए देख रही हैं (हम लोगों के मानस-पटल पर श्रीकृष्ण की घर-घर मक्खन खानेवाली वह मुद्रा अभी भी अंकित है—वह मिटी नहीं है)। हे उद्धव, तुम जिस ब्रह्म की चर्चा हमसे कर रहे हो, वह हम लोगों से काफी दूर है (हम लोगों के मानस में वह किसी भी प्रकार नहीं धँसता—वह हमसे दूर है अर्थात् उधर हम लोगों की किसी भी प्रकार की अनुरक्ति नहीं है)। हमारे निकट यहाँ तो यशोदानन्दन श्रीकृष्ण हैं जो हमारे प्राणों को संजीवनी बूटी के समान सजीवता उत्पन्न करते हैं। आज भी उनका वह स्मृति बिम्ब मानस में है जिसमें वे अपने साथ बालकों को लिए हुए दही चुराकर स्वयं खाते हैं और उन्हें भी खिलाते हुए इधर-उधर घूम रहे हैं। सूरदास के शब्दों में उद्धव-प्रति गोपियों का कथन है कि हे उद्धव, अब हमारी इन बातों को सुनकर चौंकते क्यों हैं और शर्म से मस्तक क्यों झुका रहे हैं, मुख से क्यों नहीं बोलते (किसलिए स्तब्ध हो गये हो) कहने का तात्पर्य यह है कि जब तुम्हें यह विश्वास हो

चला है कि सब गोकुल कृष्णमय है और प्रत्येक ब्रजवासी के मन में श्रीकृष्ण की लीलाएँ अंकित हैं तो क्यों योग की शिक्षा दे रहे हो ?

टिप्पणी—

(1) द्वितीय और पाँचवीं पंक्ति में 'स्मृति बिंब' का एक सुंदर नमूना प्रस्तुत हुआ है।
(2) तीसरी और चौथी पंक्ति में मन की रुझान विशेष का बहुत ही मनोवैज्ञानिक चित्रण किया गया है।
(3) अंतिम पंक्ति में 'व्रीडा' और 'जड़ता' संचारी भाव का प्रयोग हुआ है।
(4) 'फिरि-फिरि' में पुनरुक्ति प्रकाश अलंकार है।
(5) इसी तरह का एक पद सूरसागर में और मिला है।
'तुम्हीं सौं बालक किसोर वपु मैं घर-घर प्रति देख्यो।'
(6) अंतिम पंक्ति का अर्थ श्रीकृष्ण के सम्बंध में भी लगाया जा सकता है।

राग धनाश्री

अपने सगुन गोपालै, माई ! यहि बिधि काहे देत ?
ऊधो की ये निरगुन बातें मीठी कैसे लेत॥
धर्म, अधर्म कामना सुनावत सुख औ मुक्ति समेत।
काकी भूख गई मनलाडू सो देखहु चित चेत।
सूर स्याम तजि को भुस फटकै मधुप तिहारे हेत ?॥ 49॥

शब्दार्थ—माई = सखी। काहे देत = कैसे दिया जा सकता है ? मीठी कैसे लेत = इसे मीठा (श्रेष्ठ) समझ कर कैसे ग्रहण किया जा सकता है ? मनलाडू = मन के लड्डू-काल्पनिक बातें। भुस फटकै = भूसी फटकारे—भूसी से कुछ सार निकालने का प्रयत्न करना।

संदर्भ—इस पद में निर्गुण ब्रह्मोपासना की तुलना में सगुण ब्रह्मोपासना के महत्व का प्रतिपादन किया गया है।

व्याख्या—(उद्धव को लक्ष्य कर गोपियाँ परस्पर कह रही हैं) हे सखी, अपने सगुण गोपाल के माधुर्य की मूर्ति श्रीकृष्ण को इस प्रकार निर्गुणोपासना के निमित्त कैसे त्यागा जा सकता है—हम किसी भी प्रकार निर्गुण बातों के बदले में अपने सगुण गोपाल की भक्ति और प्रेम नहीं दे सकती। उद्धव की इन निर्गुण विषयक मीठी बातों को (इन चिकनी-चुपड़ी बातों को) कौन ग्रहण करे ? यद्यपि ये हमें धर्म-अधर्म की कामना के सम्बन्ध् में बतला रहे (धर्माधर्म के स्वरूप की विवेचना कर रहे हैं और यह समझाते हैं कि निर्गुणोपासना द्वारा सुख और मोक्ष की प्राप्ति होगी अर्थात् इस प्रकार के सुखों का ये लालच तो दे रहे हैं, लेकिन हमारे लिए तो यह मन का लड्डू खाना है—क्या मन के लड्डू खाने से (ऐसी काल्पनिक और थोथी बातों से) किसी की भूख मिटी है—किसी को वास्तविक सुख मिला है ? जरा, इसे मन में विचार करके देखो। अन्त में भ्रमर (उद्धव) को सम्बोधित करती हुई गोपियाँ कह रही हैं, हे भ्रमर (उद्धव), श्रीकृष्ण को त्याग कर कौन तुम्हारे लिए निस्सार भूसी-फटके (निस्सार ब्रह्म से किसी तत्व की प्राप्ति करे)। दूसरे शब्दों में जैसे भूसी फटकारने से कुछ सार नहीं निकलता, उसी प्रकार निर्गुणोपासना से कुछ तत्व मिलने वाला नहीं है)

टिप्पणी—

(1) 'काकी भूख गई मनलाडू' और 'को भुस फटकै' में लोकोक्ति अलंकार का काव्योचित और सरस प्रयोग हुआ है।

(2) कृष्ण-भक्ति और प्रेम के समक्ष मोक्ष की कामना नगण्य है।

(3) अन्तिम पंक्ति में काकुवक्रोक्ति का प्रयोग हुआ है।

राग सारंग

हमको हरि की कथा सुनाव।
अपनी ज्ञानकथा हो ऊधो ! मथुरा ही लै गाव॥
नागरि नारि भले बूझैंगी अपने वचन सुभाव।
पा लागों, इन बातनि, रे अलि ! उनही जाय रिझाव॥
सुनि, प्रियसखा स्यामसुन्दर के जोपै जिय सति भाव॥
हरिमुख अति आरत इन नयननि बारक बहुरि दिखाव॥
जो कोउ कोटि जतन करे, मधुकर, बिरहिनि और सुहाव ?
सूरदास मीनन की जल बिनु नाहिंन और उपाव॥ 50 ॥

शब्दार्थ—हरि की कथा = श्रीकृष्ण की प्रेम चर्चा। गाव = गुण-गान करो। नागरि नारि = मथुरा नगर की चतुर नारियाँ। बूझैंगी = समझेंगी। भले = अच्छी तरह। अपने वचन सुभाव = अपनी मधुर वाणी और अच्छे स्वभाव के अनुसार। पालागों इन बातनि = तुम्हारी इन निर्गुण बातों को नमस्कार करती हैं, इन्हें हमसे दूर रखो। सतिभाव = अच्छा भाव, सहानुभूति। आरत = दुखी। बारक = एक बार। बहुरि = पुनः। और सुहाव ? = क्या दूसरी चीजें अच्छी लग सकती हैं ?

सन्दर्भ—इसमें निर्गुणोपासना का खण्डन और श्रीकृष्ण की मधुर भक्ति और प्रेम तत्व की महत्ता का प्रतिपादन किया गया है।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, हम सब मात्र श्रीकृष्ण की प्रेम-कथा सुनना चाहती हैं, यदि आप सुनाना चाहें तो यही सुनाएँ और अपनी यह ज्ञान कथा यहाँ मत सुनाएँ (आपकी निर्गुण गाथा सुनने को यहाँ कोई तैयार नहीं है) इसे आप लौटाकर मथुरा ले जायँ, जहाँ से इसे लेकर आए हैं। व्यंजना यह है कि जिसे कृष्ण और कुब्जा ने इसे हमारे मत्थे मढ़ा है उन्हीं के समक्ष इसका गुणगान करो वहीं इसका स्वागत भी खूब होगा। वहाँ की चतुर नारियाँ जो अपने वचन और सुन्दर स्वभाव के कारण प्रसिद्ध हैं इसे खूब समझेंगी। और इस विषय पर भली भाँति वार्ता भी करेंगी। हे भ्रमर, तुम्हारी इन बातों को हम प्रणाम करती हैं—इन्हें हमसे दूर रखो—इससे हमारा कोई प्रयोजन नहीं है। तुम इन बातों से उन्हीं को जाकर प्रसन्न करो—वे ही इसके अधिकारी भी हैं। हे कृष्ण के प्रिय मित्र, यदि हम लोगों के प्रति तुममें थोड़ी भी सहानुभूति है—तुम थोड़ी भी हमारी पीड़ा का अनुभव करते हो तो हमारे इन व्यथित और कृष्ण दर्शन के लिए लालायित नेत्रों को पुनः एक बार श्रीकृष्ण के मुख-सौन्दर्य का साक्षात्कार करा दो। भला, हे भ्रमर (उद्धव) यदि कोई कितना ही उपाय क्यों न करे लेकिन वियोगिनियों को क्या पति-दर्शन के बिना कभी सुख मिल सकता है—क्या पति के अभाव में उन्हें अन्य

वस्तुएँ अच्छी लग सकती हैं ? सूरदास के शब्दों में गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि हे उद्धव, मछलियों के लिए जल के बिना जीवित रहने का कोई अन्य उपाय ही नहीं है—व्यंजना यह है कि जैसे बिना जल के मछली जीवित नहीं रह सकती उसी प्रकार बिना कृष्ण दर्शन के हम सब किसी भी प्रकार अन्य उपायों से अपनी जीवन-रक्षा नहीं कर सकतीं।

टिप्पणी—

(1) नागरि...भले बूझैंगी = मथुरा की नारियों पर विशेषकर कुब्जा की ओर स्पष्ट संकेत है।
(2) पालागों में रूढ़ि लक्षणा है।
(3) पाँचवीं और छठीं पंक्ति में कृष्णदर्शन की उत्सुकता के साथ ही विषाद भाव की सुंदर अभिव्यक्ति हुई है।
(4) छठीं पंक्ति में श्रीकृष्ण के मुख-सौन्दर्य के स्मृति बिम्ब का संकेत है।
(5) अन्तिम पंक्ति में निदर्शना अलंकार की प्रधानता है।
(6) इसमें कृष्ण के प्रति गोपियों की अनन्य प्रेम-निष्ठा अभिव्यक्त हुई है।

राग कान्हरो

अलि हो ! कैसे कहौं हरि के रूप-रसहि ?
मेरे तन में भेद बहुत बिधि रसना न जानै नयन की दसहि ॥
जिन देखे ते आहि बचन बिनु जिन्हैं बचन दरसन न तिसहि।
बिन बानी भरि उमगि प्रेमजल सुमिरि वा सगुन जसहि ॥
बार बार पछितात यहै मन कहा करै जो बिधि न बसहि।
सूरदास अंगन की यह गति को समुझावै या छपद पसुहि ॥ 51 ॥

शब्दार्थ—अलि = भ्रमर (उद्धव के लिए प्रयुक्त)। रूप-रसहि = श्रीकृष्ण के सौन्दर्य का रस (आनन्द)। भेद बहुत बिधि = नाना बिधि अन्तर, बहुत प्रकार से भेद है। दसहि = दशा को। रसना = जिह्वा। अहि = है (अवधी प्रयोग)। तिसहि = उसे। भरि = भर जाता है। जसहि = यश, उनके गुणों को। बिधि न बसहि = ब्रह्म पर कोई वश नहीं चलता। या छपद पसुहि =इस मूर्खभ्रमर को।

सन्दर्भ—श्रीकृष्ण केअनिर्वचनीय सौन्दर्य-रस की महत्ता के सम्बन्ध में गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं। इसमें श्रीकृष्ण के रूपाकर्षण की बड़ी सुन्दर व्यंजना हुई है।

व्याख्या—उद्धव को भ्रमर रूप में सम्बोधित करती हुई गोपियाँ कह रही हैं—हे भ्रमर, श्रीकृष्ण के लोकोत्तर सौन्दर्य के आनन्द का वर्णन कैसे करें (उनकी सौन्दर्यानुभूति के कथन के लिए जिस प्रकार के माध्यम चाहिए वे हमारे पास नहीं हैं—वास्तव में जिन इन्द्रियों के माध्यम से उनके सौन्दर्य की चर्चा की जा सकती है उसका यहाँ सर्वथा अभाव है। आश्चर्य तो यह है कि हमारे शरीर में अनेक तरह का अन्तर है, यथा जिह्वेन्द्रिय नेत्रों की दशा नहीं समझती (अर्थात् नेत्रों की कठिनाई को जिह्वा नहीं समझती। स्थिति यह है कि जिन्होंने उनके सौन्दर्य को देखा है अर्थात् जिन नेत्रों ने उनके सौन्दर्य-रस का पान किया है वे बेचारे वाणी रहित हैं। नेत्र देखते तो हैं, पर वाणीहीन होने के कारण वर्णन नहीं कर सकते) और जिस जिह्वा को बोलने की शक्ति

मिली है, उसे सौन्दर्य का दर्शन-लाभ नहीं मिलता। हमारे ये नेत्र वाणी रहित हैं—ये देखते तो हैं लेकिन कुछ कह नहीं सकते हैं—कभी तो ये श्रीकृष्ण के सगुण रूप और यश को स्मरण करके (उनके गुणों को सोचकर) उमंगित होकर प्रेमाश्रुओं से भर जाते हैं और बार-बार पछताने लगते हैं और मन में यही कहते हैं कि ब्रह्मा से क्या वश चलता है (यदि ब्रह्मा से वश चलता तो यही कहते कि हमें वाणी की शक्ति भी दे दें)। सूरदास के शब्दों में गोपियाँ परस्पर कह रही हैं कि हमारे अंगों की तो यह दशा है, लेकिन इस मूर्ख को कौन समझाए अर्थात् इस अज्ञानी उद्धव को यह भी पता नहीं है कि क्या हमारे लिए ये योग की बातें उचित हैं ?

टिप्पणी—

(1) इस पद के अन्तिम चरण का पाठ शुक्ल जी ने इस प्रकार दिया है—

'सूरदास अंगन की यह गति को समुझावै पाछ पद पसुहि',

किन्तु इसमें प्रयुक्त पाछ पद पसुहिं के सम्बन्ध में विचार करते हुए भ्रमर गीतसार के उपपादक आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने 'या छपद पसुहि' पाठ प्रसंगानुकूल स्वीकार किया है। व्याख्या आचार्य मिश्र के पाठ के अनुरूप की गयी है।

(2) रूप की अनिर्वचनीयता का निरूपण वक्रतापूर्ण शैली में प्रस्तुत किया गया है।

(3) इस पद के समानान्तर भाव अन्य कवियों में भी देखने को मिले हैं; यथा—

क. गिरा अनयन नैन बिनु बानी—तुलसी

ख. नैनन के नहिं बैन बैन के नैन नहीं री—नंददास

सूर ने भी अन्य प्रसंग में इसी प्रकार की उक्ति का प्रयोग किया है—

'जो मेरी अँखियन रसना होती कहती रूप बनाय री।'

(4) अन्तिम पंक्ति में प्रयुक्त 'पसुहिं' शब्द में लक्षणा की प्रधानता है और पूरी पंक्ति में गोपियों का अमर्ष भाव व्यक्त हुआ है।

(5) तुकाग्रह के कारण सूर ने 'तिसहि' शब्द का प्रयोग किया है जो अच्छा प्रयोग नहीं कहा जा सकता।

राग सारंग

हमारे हरि हारिल की लकरी।
मन बच क्रम नँदनंदन सों उर यह दृढ़ करि पकरी॥
जागत, सोवत, सपने सौंतुख कान्ह कान्ह जक री।
सुनतहि जोग लगत ऐसो अलि ! ज्यों करुई ककरी॥
सोई व्याधि हमैं लै आए देखी सुनी न करी।
यह तो सूर तिन्हैं लै दीजै जिनके मन चकरी॥ 52 ॥

शब्दार्थ—हारिल = एक पक्षी जो अपने चंगुल में कोई लकड़ी पकड़े रहता है, वह बिना लकड़ी के जमीन पर पैर नहीं रखता है, उसे विश्वास है कि बिना लकड़ी के उसका जीवन सुरक्षित नहीं रह सकता और उसका प्राणान्त हो सकता है। बच = वाणी। क्रम = कर्मणा। सौंतुख = प्रत्यक्ष। करुई = कड़वी। व्याधि = रोग (निर्गुण ब्रह्म से अभिप्राय है)। जक = रट, धुनि। चकरी = चकई नामक खिलौने की भाँति चंचल।

सन्दर्भ—इसमें गोपियों ने श्रीकृष्ण के प्रति अपनी सच्ची भक्ति और निष्ठा व्यक्त की है। उन्हें योग-साधना और निर्गुणब्रह्मोपासना की कटुता ज्ञात है, अतः उसकी अग्राह्यता को मुक्त कंठ से स्वीकार करती हैं।

व्याख्या—गोपियाँ श्रीकृष्ण के सगुण रूप के प्रति अपनी दृढ़ आस्था व्यक्त करती हुई उद्धव से कह रही हैं—हे उद्धव, हमारे लिए तो श्रीकृष्ण हारिल पक्षी के लकड़ी के समान हैं अर्थात् जैसे हारिल पक्षी जीते जी अपने चंगुल से उस लकड़ी को नहीं छोड़ता ठीक उसी प्रकार हमारे हृदय ने मनसा, वाचा और कर्मणा श्रीकृष्ण को दृढ़तापूर्वक पकड़ लिया है (यह संकल्प मन, वाणी और कर्म तीनों से है) अतः सोते समय, स्वप्न में तथा प्रत्यक्ष स्थिति में हमारा मन 'कान्ह' 'कान्ह'—श्रीकृष्ण-श्रीकृष्ण की रट लगाया करता है—दूसरी बात ही मन में नहीं आती। हे भ्रमर (उद्धव) तुम्हारे योग को सुनने पर हमें ऐसा लगता है जैसे कड़वी ककड़ी (जिस प्रकार कड़वी ककड़ी को थोड़ा से चखने पर जिह्वा का स्वाद खराब हो जाता है, उसी प्रकार तुम्हारी इन योग की बातों से हम सब का मन खराब हो गया—इस योग की कटुता ने सारे मन में कड़ुवाहट उत्पन्न कर दी)। तुम तो हमें वही निर्गुण ब्रह्मोपासना या योग साधना का रोग देने के लिए यहाँ चले आए जिसे न कभी देखा और न जिसके बारे में कभी सुना और न कभी इसका अनुभव किया। इस ब्रह्मोपासना या योग-साधना का उपदेश तो उसे दीजिए जिसका मन चंचल हो अर्थात् चंचलता को दूर करने के लिए जिसे योग की आवश्यकता है (योगश्चित्त निरोधः) हम लोगों को इसकी क्या आवश्यकता—हम लोगों का चित्त तो श्रीकृष्ण के प्रेम में पहले ही से दृढ़तापूर्वक आबद्ध है—यहाँ संकल्पात्मक की जगह विकल्पात्मक वृत्ति नहीं है।

टिप्पणी—

(1) गोपियों के मन की दृढ़ता का यह एक उत्कृष्ट नमूना है।
(2) 'हरि' में हारिल की लकड़ी का आरोप होने के कारण शुद्धा सारोपा लक्षणा का प्रयोग हुआ है।
(3) चतुर्थ पंक्ति में उपमा अलंकार है।
(4) 'योग' को योग न मान कर रोग मानना अपह्नुति अलंकार की ओर स्पष्ट संकेत है।
(5) विचारों के वैषम्य से जीवन में क्या कड़ुवाहट आती है, उसका यह ज्वलंत उदाहरण है।

राग सारंग

फिरि फिरि कहा सिखावत मौन ?
दुसह बचन अलि यों लागत उर ज्यों जारे पर लौन॥
सिंगी, भस्म, त्वचामृग, मुद्रा, अरु अवरोधन पौन।
हम अबला अहीर, सठ मधुकर ! घर बन जानै कौन॥
यह मत लै तिनहीं उपदेसौ जिन्हें आजु सब सोहत।
सूर आज लौं सुनी न देखी पोत सूतरी पोहत॥ 53 ॥

शब्दार्थ—फिरि-फिरि = बार-बार। दुसह बचन = असह्य वाणी। ज्यों जारे पर लौन = जैसे जले पर नमक छिड़कना (मुहावरा)। सिंगी = सींग का बना बाजा। त्वचामृग =

मृगछाला। अवरोधन = रोकना। आजु लौं = आज तक। पोत = माला की गुरिया। सूतरी = सुतली। पोहत = गूँथना। पवन = श्वास। मुद्रा—काँच या स्फटिक का बना कुंडल, जिसे गोरखपंथी साधु धारण करते हैं।

संदर्भ—गोपियाँ उद्धव के बार-बार योग का संदेश देने पर क्रुद्ध हो गयीं और स्पष्ट शब्दों में योग-साधना को स्वीकार करने में अपनी असहमति व्यक्त करने लगीं।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, तुम बार-बार हमें मौन धारण करने की बात क्यों सिखा रहे हो, तात्पर्य यह है कि योग-साधना में जो मौन धारण करना एक विशेष अंग के रूप में अभिहित किया गया है उसके सिखाने का क्या प्रयोजन है ? पुनः तुम जो योग-साधना जैसी असह्य वाणी का प्रयोग कर रहे हो वह तो श्रीकृष्ण की इस वियोगावस्था में हम लोगों के लिए जले पर नमक छिड़कना है—प्रयोजन यह है कि एक तो हम लोग श्रीकृष्ण के विरह-ज्वाला में स्वतः दग्ध हो रही हैं दूसरे आप इस दुख को दूर न करके हमारे दुख को अपने ऐसे कथनों द्वारा और बढ़ा रहे हैं। तुम ऐसी अवस्था में हमें सिंगी, भस्म, मृगछाला तथा मुद्रा (काँच या स्फटिक का बना कुंडल) धारण करने और प्राणायाम साधने का उपदेश दे रहे हो; किन्तु हे मूर्ख भ्रमर, हम सब अनाथ और मूर्ख अहीर जाति की स्त्रियाँ हैं। हम तुम्हारे योग की बातें क्यों जानें। और तुम जो हमें घर और बन का अन्तर समझा रहे हो उसे कौन समझे, इतनी सूक्ष्म बातें तो योगी जन ही समझते हैं। अतः तुम अपने ऐसे विचारों को वहीं ले जाकर समझाओ, उन्हीं को उपदेश दो जिन्हें आज सब कुछ शोभा दे रहा है, अर्थात् जो इसके उपयुक्त पात्र हैं और समर्थ हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि सम्प्रति कुब्जा ही इस उपदेश की पात्री है, उसे ही यह शोभा दे सकता है, उसके भोगमय जीवन के लिए योग और वैराग्य की शिक्षा समयोचित है। सूर के शब्दों में गोपियों का कथन है कि हे उद्धव, आज तक हमने मोटी सुतली में माला की छोटी गुरिया को गूँथते न सुना और न देखा। प्रयोजन यह है कि माला की छोटी गुरिया पतले डोरे में ही गूँथी जा सकती है, मोटी सुतली में नहीं। उसी प्रकार योग की सूक्ष्म बातों की शिक्षा चिन्तक और साधकों को ही दी जा सकती है, हम जैसी स्थूल बुद्धि की गंवार स्त्रियों को नहीं।

टिप्पणी—

(1) 'उर ज्यों जारे पर लौन', में उपमा अलंकार के साथ ही सुंदर और लोक-प्रचलित मुहावरे का सहज प्रयोग हुआ है।

(2) अन्तिम पंक्ति में भी सुन्दर मुहावरे का प्रयोग हुआ है। मुहावरे के कारण इसमें रूढ़ि लक्षणा भी है।

(3) पाँचवीं पंक्ति में वस्तु से वस्तु की व्यंजना। एक वस्तु का व्यंग्य यह है कि जो समर्थ है उसे सब कुछ शोभा दे सकता है—इस व्यंग्य में वस्तु रूप दूसरा व्यंग्य यह है कि आजकल विलासिनी कुब्जा ही योग-साधना के लिए उपयुक्त प्रतीत होती है—क्योंकि भोगी को ही योग की शिक्षा दी जाती है।

राग जैतश्री

प्रेमरहित यह जोग कौन काज गायो ?
दीनन सों निठुर बचन कहे कहा पायो ?

नयनन निज कमलनयन सुन्दर मुख हेरो।
मूँदन ते नयन कहत कौन ज्ञान तेरो ?
तामें कहु मधुकर ! हम कहाँ लैन जाहीं।
जामें प्रिय प्राननाथ नंदनंदन नाहीं ?
जिनके तुम सखा साधु बातें कहु तिनकी।
जीवैं सुनि स्यामकथा दासी हम जिनकी॥
निरगुन अबिनासी गुन आनि आनि भाखौ।
सूरदास जिय कै जिय कहाँ कान्ह राखौ॥ 54 ॥

शब्दार्थ—कौन काज = किसलिए। हेरो = देखा, दर्शन किया। आनि = आकर। भाखौ = कहते हो। जिय के जिय = प्राणों के प्राण (श्रीकृष्ण का विशेषण)।

सन्दर्भ—गोपियाँ प्रेमरहित योग-साधना को निरर्थक समझती हैं। उनका कथन है कि जिस योग में श्रीकृष्ण का कोई स्थान नहीं है, वह उनके लिए किसी भी प्रकार का महत्व नहीं रखता।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, हमारी समझ में नहीं आता कि तुमने किसलिए प्रेमरहित इस योग साधना का गुण-गान किया ? और हम जैसी दीन अबलाओं से ऐसी निष्ठुरता और शुष्कता भरी बातें कहने से तुम्हें क्या मिल गया (तुम्हें कौन सा लाभ हुआ ?)। भला, यह तो बताओ कि हमने अपने जिन नेत्रों से श्रीकृष्ण के मुख को देखा है उन्हीं नेत्रों को बन्द करके योग-साधना द्वारा तुम ब्रह्म ज्योति का दर्शन करने को कह रहे हो, यह तुम्हारा कैसा ज्ञान है ? व्यंजना यह है कि हमें तुम बहुत समझदार नहीं प्रतीत होते, अन्यथा ऐसी बातें नहीं करते (जिस श्रीकृष्ण के लोकोत्तर सौन्दर्य की झाँकी हमें मिल चुकी है, उसे छोड़कर निर्गुण ब्रह्म की ज्योति की ओर दृष्टियों को गड़ाना कहाँ तक उचित है ?) हे मधुकर (उद्धव), उस योग-साधना में हम क्या लेने जायँ जिसमें हमें प्राणनाथ नंदनंदन की प्राप्ति ही नहीं होती (तात्पर्य यह है कि जिसमें हमें श्रीकृष्ण दर्शन सुलभ नहीं है उस योग-साधना से हमें क्या मिलेगा—वह तो हम लोगों के लिए व्यर्थ और निरर्थक है)। हे साधु उद्धव जी, सत्य बात तो यह है कि जिस श्रीकृष्ण के आप मित्र हैं (जिस श्रीकृष्ण को आप सख्य भाव से मानते हैं) उसी की चर्चा हमसे करें क्योंकि उसी श्रीकृष्ण के प्रेम-कथा सुनकर हम सब जीवित रहती हैं और उसी की दासी हैं तात्पर्य यह है कि हम सब श्रीकृष्ण की प्रेम-चर्चा करती हुई और (उनके गुणानुवाद में मग्न रहकर दास्यभाव से (आत्म समर्पण की वृत्ति से) उनकी उपासना करती रहती हैं। हमें आश्चर्य है कि (ऐसे सगुण रूप को त्याग करके तुम यहाँ आकर निरन्तर निर्गुण और अविनाशी ब्रह्म के गुणों का बखान करते हो। सूरदास के शब्दों में गोपियों का कथन है कि हे उद्धव, तुम हमारे प्राणों के भी प्राण श्रीकृष्ण को कहाँ रख आए हो (तात्पर्य यह है कि जिनके निकट हमेशा रहते हो उनके सम्बन्ध में तुम कुछ कहना ही नहीं चाहते, जो हम सब के लिए सर्वथा अपरिचित है, उसी का गुणानुवाद करते हो)।

टिप्पणी—

(1) प्रेमरहित योग की निरर्थकता का निरूपण।
(2) 'साधु' शब्द के द्वारा उद्धव की प्रशंसा की गयी है।
(3) 'कहा लैन जाहीं' में व्यंजना का प्रयोग अर्थात् निर्गुण ब्रह्म की उपासना में गोपियों को क्या मिलेगा, वे क्या लेने जायँ, उसमें कुछ हो भी तो।

राग केदारो

जनि, चालो, अलि, बात पराई।
ना कोउ कहै सुनै या ब्रज में नइ कीरति सब जाति हिराई॥
बूझैं समाचार मुख ऊधो कुल की सब आरति बिसराई।
भले संग बसि भई भली मति, भले मेल पहिचान कराई॥
सुंदर कथा कटुक सी लागति उपजत उर उपदेस खराई।
उलटो न्याव सूर के प्रभु को बहे जात माँगत उतराई।55॥

शब्दार्थ—जनि चालौ = मत चलाओ। बात पराई = अन्य चर्चा (यहाँ योग चर्चा से प्रयोजन है)। नइ = नयी। जाति हिराई = नष्ट होती जा रही है। बूझैं = पूछती हैं। आरति = कष्ट। बिसराई = भुला दी। खराई = खारापन। उलटी न्याव = उलटी रीति। उतराई = नाव से पार उतारने का पारिश्रमिक या मजदूरी।

सन्दर्भ—इसमें गोपियों ने योग सिद्धान्त को ग्रहण करने में अपनी असहमति व्यक्त की है।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, यहाँ दूसरों की चर्चा मत करें—हम तो एक मात्र श्रीकृष्ण की प्रेम-कथा सुनना पसन्द करती हैं। तुम्हारी इस चर्चा को (योग-साधना की इन बातों को) न कोई यहाँ पसन्द करता है और न सुनता ही है—इसका दुष्परिणाम यह हो रहा है कि अभी तक श्रीकृष्ण के मित्र के रूप में तुम्हें जो नवकीर्ति मिली है (सबों ने तुम्हें सम्मानित किया है) वह इन योग की बातों से नष्ट होती जा रही है—तुम्हारी इन बातों से लोग तुम्हारे विरुद्ध होते जा रहे हैं। हे उद्धव, हम तो तुम्हारे मुख से जानना चाहती हैं कि क्या श्रीकृष्ण ने अपने वंश और परिवार की प्रतिष्ठा की पीड़ा को सर्वथा भुला दिया (प्रयोजन यह है कि कूबरी से सम्बन्ध स्थापित करने के कारण उनके वंश की प्रतिष्ठा घटी है और लोगों को बड़ी पीड़ा हुई है)। श्रीकृष्ण को मथुरा में भले लोगों के साथ रहने से अच्छी बुद्धि मिली है (विपरीत लक्षणा से अर्थ यह होगा कि मथुरा निवासियों की धूर्तता में फँसकर इनकी भी बुद्धि भ्रष्ट हो गयी है) और ऐसी बुद्धि को पाकर उन्होंने हमसे तुम जैसे लोगों से अच्छा परिचय कराया तात्पर्य यह है कि हमारी भी बुद्धि भ्रष्ट करने के लिए उन्होंने तुम्हें माध्यम बनाकर यहाँ भेजा है। क्या करें आपकी योग-विषयक कथा बहुत सुंदर है, लेकिन हमें तो वह कड़वी (अरुचिकर) प्रतीत होती है (मनःस्थिति की विषमता के कारण दूसरों की बातों का बुरा लगना स्वाभाविक है)। आप का उपदेश (निर्गुण ब्रह्मोपासना की चर्चा) भी हमारे हृदय को खरा (माधुर्य रहित) प्रतीत होता है (आपके शुष्क उपदेशों में किसी भी प्रकार की सरसता और आकर्षण नहीं है)। सूर के शब्दों में उद्धव से कृष्ण-प्रति गोपियों का कथन है कि हे उद्धव, श्रीकृष्ण का उलटा न्याय (न्याय विरुद्ध बातें) तो देखिये, बेचारे जो नाव के पलट जाने से पानी की धारा में एक ओर बहे जा रहे हैं (उस प्रवाह से उनकी रक्षा न करके) उनसे इसके विपरीत नाव का किराया माँगा जा रहा है—अर्थात् एक ओर गोपियाँ जहाँ वियोग की पीड़ा से जल रही हैं, वहीं दूसरी ओर उनके पास यह योग का संदेश भिजवाया है—धन्य है उनका न्याय।

टिप्पणी—

(1) 'भले संग . . . पहिचान कराई' में अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि की प्रधानता है।

(2) 'सुन्दर कथा' में विपरीत लक्षणा।
(3) अंतिम पंक्ति में लोकोक्ति अलंकार है।
(4) समस्त पद में वक्रता और व्यंग्य की प्रधानता है।

राग मलार

याकी सीख सुनै व्रज को, रे ?
जाकी रहनि कहनि अनमिल, अलि, कहत समुझि अति थोरे॥
आपुन पद-मकरंद सुधारस हृदय रहत नित बोरे।
हमसों कहत बिरस समझौ है गगन कूप खनि खोरे॥
धान को गाँव पयार ते जानौ ज्ञान विषयरस भोरे।
सूर सो बहुत कहे न रहै रस गूलर को फल फोरे॥ 56॥

शब्दार्थ—सीख = शिक्षा (निर्गुण ब्रह्मोपदेश)। रहनि = रहने का ढंग, व्यवहार, आचरण। कहनि = कथनी। अनमिल = परस्पर विरोधी। अलि = सखी; भ्रमर। बोरे = डुबाए रहता है। बिरस = रसहीन। खनि = खोदकर। खोरे = नहाए (अवधी प्रयोग)। पयार = पुआल, धान की डंठल। भोरे = भूलना, उदासीन होना। रस = मजा, आनंद। गूलर को फल फोरे = गूलर के फल फोड़ने से अर्थात् ढकी-मुँदी बात खोलने से।

प्रसंग—इसमें गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि उनकी कथनी और करनी में महान् अन्तर है। वे जिस प्रेम तत्व का विरोध करते हैं स्वयं उसी में फँसे रहते हैं। इस दृष्टि से 'पर उपदेस कुसल बहुतेरे' की उक्ति इस पद में चरितार्थ हुई है।

व्याख्या—उद्धव-प्रति गोपियाँ परस्पर कहती हैं—हे सखियो, ब्रजमण्डल में इनकी योग-साधना की शिक्षा या उपदेश सुनने वाला कौन है, भला जिसकी करनी और कथनी में किसी प्रकार का मेल नहीं है (परस्पर जो विरोधी) उसे कौन ग्रहण करेगा ? तथा जो ऐसी बातें मुँह से निकालता है जिन्हें वह स्वयं बहुत कम समझता है। कहने का आशय यह है कि तुम जो शिक्षा दूसरे को देते हो, स्वयं उसका पालन नहीं करते दूसरे शब्दों में तुम स्वयं तो श्रीकृष्ण के कमलवत चरणों के मकरन्द सुधारस को पान करने में अपने हृदय को सदैव डुबाए रहते हो (सदैव आनन्द-मग्न रहते हो) श्रीकृष्ण के प्रेम का रसास्वादन करते हो और हमें यह शिक्षा देते हो कि वे रसहीन हैं (रसावतार श्रीकृष्ण को नीरस घोषित करते हो)। यह तो स्पष्टतया 'पर उपदेस कुसल बहुतेरे' जैसी उक्ति कही जा सकती है। लेकिन श्रीकृष्ण को रसहीन समझना हमारे लिए उसी प्रकार असम्भव है जैसे आकाश में कुआँ खोदकर स्नान करना। वास्तव में जैसे पुआल (धान के डंठलों) से ही यह जाना जाता है कि अमुक गाँव धान का है (यह धान वाला गाँव है) उसी प्रकार किसी के वास्तविक ज्ञान का विश्वास उसकी विषय-वासना के प्रति उदासीनता से ही किया जा सकता है। व्यंजना यह है कि तुम्हारी बातों से यह सिद्ध होता है कि तुम विषयी हो—ज्ञानी नहीं। सूरदास के शब्दों में गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं, हे उद्धव, हम तुम्हारी वास्तविकता समझती हैं, अतः अपने सम्बन्ध में (अपने निर्गुण ब्रह्म के सम्बन्ध में) तुम अधिक मत कहो, क्योंकि अधिक कहने में सारा मजा उसी प्रकार चला जाएगा जैसे गूलर के फल फोड़ने से उसकी ऊपर से दिखाई देने वाली सुन्दरता और मधुरता (ढकी-मुँदी वास्तविकता) नष्ट हो जाती है (तात्पर्य यह है कि गूलर के फल को फोड़ने पर उससे मच्छड़ निकलने लगते हैं और उसके

प्रति घृणा उत्पन्न हो जाती है—उस फल की सरसता के सम्बन्ध में जो एक अच्छी धारणा बनी रहती है, वह नष्ट हो जाती है)।

टिप्पणी—

(1) इस पद की व्यंजकता इसमें प्रयुक्त लोकोक्तियों के कारण है। इसके द्वितीय, चतुर्थ और छठीं पंक्ति में लोकोक्तियों की सरसता सराहनीय है।

(2) 'गगन . . . . . खोरे में निदर्शना अलंकार है।

(3) तीसरी पंक्ति में पद मकरन्द में पद के साथ कमल का भी प्रयोग होना चाहिए था तभी रूपक की ठीक संगति बैठती, किन्तु कमल शब्द के लुप्त होने के कारण इसमें 'न्यून पदत्व' दोष रह गया है।

(4) इसमें 'पर उपदेस कुसल बहुतेरे' की उक्ति ठीक-ठीक घटित हुई है।

राग मलार

निरखत अंक स्यामसुंदर के बारबार लावति छाती।
लोचन-जल कागद-मसि मिलि कै ह्वै गई स्याम स्याम की पाती॥
गोकुल बसत संग गिरिधर के कबहुँ बयारि लगी नहिं ताती।
तब की कथा कहा कहौं, ऊधो, जब हम बेनुनाद सुनि जाती॥
हरि के लाड़ गनति नहिं काहू निसिदिन सुदिन रासरसमाती।
प्राननाथ तुम कब धौं मिलोगे सूरदास प्रभु बालसँघाती॥ 57॥

शब्दार्थ—निरखत = देखते ही। अंक = अक्षर। लावति = लगा लेती है। लोचन-जल = अश्रु। मसि = स्याही। स्याम = श्यामवर्ण; श्रीकृष्ण। पाती = पत्र। बयारि . . . . ताती = कभी-गर्म हवा नहीं लगी (कभी कष्ट नहीं हुआ—मुहावरा)। बेनुनाद = वंशी की ध्वनि। लाड़ = प्यार, प्रेम। गनति नहिं काहू = किसी को भी नहीं गिनती थी (किसी की परवाह नहीं करती थी—मुहावरा)। सुदिन = मंगल, शुभ। रसमाती = आनन्द में उन्मत्त। सँघाती = साथी। कागद = कागज़।

सन्दर्भ—उद्धव द्वारा श्रीकृष्ण के पत्र को प्राप्त करके गोपियाँ गद्गद हो गयीं। उनकी प्रेम-विह्वलता का यह एक सुन्दर चित्र है। पत्र के अक्षर को देखकर उन्हें श्याम सुन्दर श्रीकृष्ण की याद आ गयी।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव द्वारा श्रीकृष्ण के पत्र को प्राप्त करके, उनके लिखे पत्र के अक्षरों को देखती हैं, उन अक्षरों को देख-देखकर पत्र को बार-बार अपनी छाती से लगा लेती हैं—छाती से लगाने का अभिप्राय यह है कि यह पत्र हृदय के समान प्यारा है। पत्र को देखते ही गोपियों के मानस में प्रेम का सात्विक अनुभाव पैदा हुआ, फलतः उनके नेत्रों से सात्विक अनुभाव के कारण प्रेमाश्रु प्रवाहित होने लगे—इससे कागज की स्याही आँसुओं के मिल जाने से फैल गयी है और श्रीकृष्ण का पत्र श्यामवर्ण हो गया। इसमें भाव-व्यंजना का चमत्कार यह है कि अब गोपियों को वर्ण-साम्य के कारण पत्र में अंकित अक्षर श्रीकृष्ण जैसे प्रतीत होने लगे। गोपियों के मन में पत्र को पढ़ने पर पूर्व स्मृतियाँ जागृत हो गयीं और वे सब उद्धव से कहने लगीं, हे उद्धव, जब श्याम सुंदर गोकुल में रहते थे तो उनके साथ हम लोगों को कभी भी गर्म हवा नहीं

लगी (कभी भी दुख का अनुभव नहीं किया) और उस समय की चर्चा तुमसे क्या करें जब हम सब अपने-अपने घर के कार्यों की परवाह न करके उनकी मधुर वंशी-ध्वनि को सुन कर दौड़ पड़ती थीं। (श्रीकृष्ण के प्रति हमारी ऐसी प्रेमनिष्ठा और अटूट विश्वास था)। यही नहीं, श्रीकृष्ण के प्रेम में दीवानी हम सब किसी को कुछ नहीं समझती थीं (किसी की मर्यादा की परवाह तक नहीं करती थीं यह हम सब की प्रेम-विह्वलता की स्थिति थी। और रात-दिन जब हम सब रास के आनन्द में उन्मत्त रहा करती थीं तो वह समय हमारे लिए कितना मंगलमय था। सूरदास के शब्दों में गोपियाँ इतना कहते-कहते अत्यंत भाव-विभोर हो उठीं और कहने लगीं कि हे बचपन के साथी श्रीकृष्ण अब कब तुम्हारा दर्शन होगा ?

टिप्पणी—

(1) वर्ण-साम्य के कारण श्रीकृष्ण की स्मृति बिम्ब का यह एक सुंदर उदाहरण है।
(2) श्रीकृष्ण द्वारा लिखित पत्र के प्रति इतना मोह-सम्बन्ध-भावना का संकेत करता है।
(3) 'बार-बार' में पुनरुक्ति प्रकाश, 'गिरधर' शब्द में परिकरांकुर (रक्षण-भाव के कारण), 'स्याम-स्याम में यमक तथा अंक में श्लेष है। अक्षर के अतिरिक्त गोद की भी इसमें व्यंजना है।
(4) 'बार-बार लावति छाती' 'कबहुँ . . . . . ताती,' 'हरि के लाड़ . . . . . काहू' में सुंदर मुहावरे का प्रयोग हुआ है और वियोग की उन्मादावस्था की सुंदर अभिव्यक्ति हुई है।
(5) मोह, अश्रु, स्मृति, गर्व, विषाद आदि कई संचारी भाव इस पद में लिपटे हैं।
(6) द्वितीय पंक्ति में उद्दीपन विभाव का प्रयोग हुआ है—पत्र के देखने पर हृदय की पीड़ा जागृत हो जाती है।
(7) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस पद की अत्यधिक श्लाघा की है। यह विप्रलम्भ शृंगार के सभी अवयवों से पुष्ट रचना है।

राग मारू

मोहिं अलि दूहुँ भाँति फल होत।
तब रस-अधर लेति मुरली, अब भई कूबरी सौत॥
तुम जो जोगमत सिखवन आए, भस्म चढ़ावन अंग।
इन बिरहिन में कहुँ कोउ देखी सुमन गुहाये अंग।
कानन मुद्रा पहिरि मेखली धरे जटा आधारी।
यहाँ तरल तरिवन कहँ देखे अरु तनसुख की सारी॥
परम वियोगिन रटति रैन दिन धरि मनमोहन-ध्यान।
तुम तो चलो बेगि मधुबन को जहाँ जोग को ज्ञान॥
निसिदिन जीजतु है या ब्रज में देखि मनोहर रूप।
सूर जोग लै घर-घर डोलौ, लेहु लेहु धरि सूप॥ 58॥

शब्दार्थ—सुमन गुहाए = फूलों से गूँथना। भंग = भाँग। मुद्रा = स्फटिक का कुंडल जिसे योगी लोग अपने कानों में पहनते हैं। मेखली = मूँज की करधनी। आधारी = वह

लकड़ी जिसे योगी सहारा के लिए लगाते हैं। तरल = चंचल, हिलते हुए। तखिन = कर्णफल, कानों का एक आभूषण। तनसुख = एक प्रकार का सुंदर वस्त्र। सारी = साड़ी। धरि सूप = सूप में रखकर, (मुहावरा) फटककर (शुद्धता को प्रमाणित करके)

सन्दर्भ—गोपियाँ उद्धव की योग-साधना को निरर्थक प्रमाणित कर रह रही हैं। उनके कथनानुसार योग की समस्त क्रियाओं का विनियोग वे इस वियोगावस्था में कर चुकी हैं, अतः इस योग की आवश्यकता नहीं है।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, हमें तो दोनों ही स्थितियों में (संयोग और वियोग दोनों ही दशाओं में) एक ही प्रकार के फल की प्राप्ति होती है—एक जैसा अनुभव होता है। यथा, पहले जब श्रीकृष्ण से संयोग था तो उनके ओष्ठों का रस हमारी सौत बन कर मुरली लिया करती थी अब (श्रीकृष्ण के चले जाने पर) हमारी सौत कुब्जा बन बैठी है जो हमें जला रही है। तुम जो हमें यहाँ योग सिद्धान्त की बातें सिखाने के लिए आए हो और विशेषकर हमारे अंगों में भस्म चढ़ाने की शिक्षा दे रहे हो तो ये सभी चीजें व्यर्थ हैं, क्योंकि क्या तुमने कभी फूलों से गुथी हमारी माँगों को देखा है (क्या हम सब गोपियों को शृंगार करते हुए देखा है ?) तुम हम सबको कानों में कुंडल, कमर में मूँज की करधनी और जटा धारण करने एवं आधारी लेने की बात कर रहे हो, हम तुमसे पूछना चाहती हैं कि तुमने हमारे कानों में हिलते हुए कर्णफूल और अंग में तनसुख की साड़ी पहने हुए कहाँ देखा ? व्यंजना यह है कि इन शृंगारिक उपादानों को हमने बहुत पहले छोड़ दिया है (श्रीकृष्ण के वियोग में हमारी स्थिति किसी योगिनी से कम नहीं है) और रात-दिन वियोगिनी बनकर मोहन का ध्यान करती हुई उन्हीं की रट लगाया करती हैं (दूसरे का ध्यान भी मानस में नहीं है)। ऐसी स्थिति में आपके योग का प्रभाव यहाँ पड़ने वाला नहीं है। अतः उत्तम यही होगा कि तुम शीघ्र मथुरा निकल जाओ जहाँ योग के ज्ञानी और मर्मी लोग विद्यमान हैं, वहीं इस योग की कद्र भी होगी। यहाँ तो सदैव (दिन रात) श्रीकृष्ण के मनोहारी रूप को देखकर जीवित रहा करती हैं (श्रीकृष्ण की सगुणोपासना में हम लोगों का मन तन्मय रहता है)। लेकिन तुम तो सूप में रखकर घर-घर व्यर्थ ही अपने योग को लेकर घूम रहे हो। प्रयोजन यह है कि एक व्यापारी की भाँति अपने योग रूपी सौदा की शुद्धता को उसी प्रकार प्रमाणित करते फिरते हो, जैसे सूप से फटककर अन्न कण की निस्सार चीजें अलग कर दी जाती हैं। तुम भी पुकार-पुकार कहते फिरते हो कि यह हमारा सारा योग माल है इसे ले लो, ले लो—सूप में अन्नकण की भाँति खूब फटककर अच्छी तरह देखकर छान-बीन करके, खरीद लो।

टिप्पणी—

(1) तीसरी, चौथी, पाँचवीं, छठीं और सातवीं पंक्ति का भाव जगन्नाथ दास रत्नाकर के उद्धव शतक में भी दृष्टिगत हुआ है—

वे तौ बस बसन रँगावैं मन रंगत ये
भसम रमावैं वे ये आपुही भसम हैं।

(2) वियोगिनी और योगिनी के समान धर्म का यह सुंदर निदर्शन है।

(3) अंतिम पंक्ति में लोकोक्ति की सरस अवतारणा हुई है।

(4) दूसरी पंक्ति में मुरली और कुब्जा के संदर्भ के कारण असूया संचारी भाव है।

(5) नवीं पंक्ति में श्रीकृष्ण के सगुण रूप के प्रति गोपियों की अटूट निष्ठा व्यक्त हुई है।

राग सारंग

बिलग जनि मानौ हमरी बात।
डरपति बचन कठोर कहति, मति बिनु पति यों उठि जात॥
जो कोउ कहत जरे अपने कछु फिरि पाछे पछितात।
जो प्रसाद पावत तुम ऊधो कृस्न नाम लै खात॥
मनु जु तिहारो हरिचरनन तर अचल रहत दिन-रात।
'सूर स्याम तें जोग अधिक' केहि कहि आवत यह बात॥ 59 ॥

शब्दार्थ—बिलगि जनि मानो = बुरा मत मानो। डरपति = डर रही हैं। मति बिन = बिना बुद्धि के, बिना विचारे। पति उठि जात = मर्यादा चली जाती है। जरे अपने = अपना जी जलने पर। हरिचरनन तर = श्रीकृष्ण के चरणों में।

सन्दर्भ—इस पद में गोपियों ने उद्धव के प्रति अपना दैन्य भाव व्यक्त किया है और वे उन्हें निश्चय रूपेण श्रीकृष्ण का भक्त समझती हैं। उन्हें आश्चर्य है कि फिर भी वे कृष्ण से अधिक महत्व योग को क्यों दे रहे हैं ?

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, हमारी बातों को बुरा मत मानना, क्योंकि हमने अमर्ष में तुमसे बहुत-सी कठोर बातें कह दी हैं। अब तो तुमसे कुछ भी कठोर बातें कहते डरती हैं क्योंकि बिना सोचे-समझे (बुद्धिहीन) बातें करने से मर्यादा भंग हो जाती है (जैसे गोपियों से बिना सिर-पैर की बातें करने से तुम्हारी मर्यादा भंग हो गयी है)। सत्य तो यह है कि यदि कोई अपना जी जलने पर दूसरों के प्रति अनुचित या कठोर वाणी का प्रयोग करता है तो अन्ततः उसे पछताना पड़ता है (आवेग जनित कथन बहुत भयावह होता है)। हे उद्धव, हमें पूर्ण विश्वास है कि तुम्हें जो कुछ भी मिल जाता है, उसे भगवान का प्रसाद समझकर तुम उनका स्मरण करते हुए उसे ग्रहण करते हो। अर्थात् तुम्हें जो भी प्रतिष्ठा मिलती है उसका श्रेय तुम श्रीकृष्ण को देते हो (अतः स्पष्ट है कि तुम भगवान श्रीकृष्ण के प्रति आस्थावान हो और उन्हीं के नाते तुम सम्मानित भी होते हो)। तुम्हारा मन भी श्रीकृष्ण के चरणों में सदैव लगा रहता है (तुम भगवान श्रीकृष्ण के चरणों के अनन्य भक्त हो)। सूर के शब्दों में गोपियों का कथन है कि फिर भी आश्चर्य है कि श्याम से बढ़कर किसलिए तुम योग की महत्ता की चर्चा करते हो, भला, श्रीकृष्ण से बढ़कर किस मूर्ख को योग की बातों पर विश्वास होगा, किसे ऐसी बातें कहते बनेगी ?

टिप्पणी—

(1) वक्रता-विधान और व्यंग्यगर्भित उक्ति की दृष्टि से यह एक उत्कृष्ट रचना है।
(2) इसमें श्रीकृष्ण की महत्ता का निरूपण हुआ है।
(3) गोपियों की क्षमाशीलता और दैन्यवृत्ति का यह सुंदर नमूना है।
(4) दूसरी और तीसरी पंक्ति ('पति उठि जात', 'जरे अपने' में सुन्दर मुहावरे का प्रयोग हुआ है।

राग सारंग

अपनी सी कठिन करत मन निसिदिन।
कहि कहि कथा, मधुप, समुझावति तदपि न रहत नंदनंदन बिन॥
बरजत श्रवन सँदेस, नयन जल, मुख बतियाँ कछु और चलावत।
बहुत भाँति चित धरत निठुरता सब तजि और यहै जिय आवत॥
कोटि स्वर्ग सम सुख अनुमानत हरि-समीप समता नहिं पावत।
थकित सिंधु-नौका के खग ज्यों फिरि फिरि फेरि वहै गुन गावत॥
जे बासना न बिदरत अंतर तेइ तेइ अधिक अनुअर दाहत।
सूरदास परिहरि न सकत तन बारक बहुरि मिल्यो है चाहत॥ 60॥

शब्दार्थ—अपनी सी = अपने भरसक। कठिन करत = कठोर या कड़ा बनाती हैं। बरजत = मना करती है। फिरि फिरि = लौट-लौटकर। फेरि = पुनः। वहै गुन = उसी कृष्ण के गुण जे बासना = जिस मिलन की वासना या भावना से। बिदरत = विदीर्ण होता है। अन्तर = हृदय। तेइ-तेइ = वही उसे (मन को)। अनूअर दाहत = निरन्तर जलाया करती है। परिहरि = त्यागना। बारक = एक बार। बहुरि = पुनः। नौका = यहाँ नौका से जहाज का आशय है।

प्रसंग—इसमें गोपियों के मन की विवशता का अत्यंत मार्मिक और भावपूर्ण चित्रण किया गया है। उद्धव से गोपियाँ विनम्र भाव से कहती हैं कि हे उद्धव, हम सब कृष्ण प्रेम में आसक्त अपने मन को वहाँ से हटाने का भरसक प्रयत्न करती हैं, लेकिन मन की ऐसी गहरी निष्ठा और लगन के कारण हम सब को सफलता नहीं मिलती।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, हम भरसक अपने मन को सदैव कठोर बनाने का प्रयत्न करती हैं और अनेक प्रकार की कथा (अनेक नये-नये प्रसंगों) द्वारा उसे समझाती हैं, लेकिन वह श्रीकृष्ण के बिना नहीं रह पाता (श्रीकृष्ण के बिना वह तड़पने लगता है)। हम सदैव अपने कानों को श्रीकृष्ण के सन्देश सुनने के लिए रोकती हैं, क्योंकि इससे हमारा मन भड़क उठेगा और नेत्रों को श्रीकृष्ण की स्मृति में आँसुओं को भरने के लिए मना करती हैं। श्रीकृष्ण की स्मृति में साश्रु नेत्रों से हमारे मन में वेदना उत्पन्न होगी और वह विरह से व्याकुल हो उठेगा। यही नहीं, मुख से भी श्रीकृष्ण की चर्चा न करके अन्य चर्चाएँ किया करती हैं जिसमें मन की उधर से आसक्ति कम हो जाय। अपने चित्त को हम सब अनेक भाँति से कठोर बनाती हैं—श्रीकृष्ण के मोह से मुक्त होने की चेष्टा करती हैं।

लेकिन मन की विवशता के सम्बन्ध में क्या कहा जाय, उसके चित्त में वही रहता है (वही श्रीकृष्ण उसे भाता है) उसका ध्यान दूसरी ओर ले जाती हैं, लेकिन वह हम सब की एक नहीं सुनता। और सब छोड़कर श्रीकृष्ण के प्रेम में मग्न रहता है। यद्यपि यह मन करोड़ों स्वर्ग के सुख की कल्पना तो करता है लेकिन श्रीकृष्ण के सामीप्य-जनित सुख (उनके निकट रहने के आनन्द) की तुलना उसकी दृष्टि में वह करोड़ों स्वर्ग का सुख भी) नहीं कर सकता। दूसरे शब्दों में मन को जो सुख श्रीकृष्ण के निकट प्राप्त होता है, वह संभावित करोड़ों स्वर्ग के सुख से प्राप्त नहीं हो सकता। वह अन्य सुखों से थक कर समुद्र के जहाज पर बैठे हुए पक्षी की भाँति अन्ततः लौटकर पुनः श्रीकृष्ण के उसी आनन्द के निकट आ जाता है और उन्हीं का गुणानुवाद किया करता है। इस मन में श्रीकृष्ण-मिलन की एक वासना (इच्छा) शेष रह गयी है, इसी से उसका

हृदय विदीर्ण नहीं होता (यही उसे जीवित रखती है, अन्यथा वह मृत्यु को कभी प्राप्त हो जाता, परन्तु यही इच्छा उसे निरन्तर जला भी रही है। मिलन की इस आशय से वह अपने शरीर को त्यागता भी नहीं, क्योंकि वह एक बार पुनः उनसे (श्रीकृष्ण से) मिलकर मरना चाहता है।

टिप्पणी—

(1) मन की विवशता का एक मनोवैज्ञानिक चित्रण इसमें हुआ है।

(2) पाँचवीं और छठीं पंक्ति में उपमालंकार है।

(3) मिलन की आशा में मन मृत्यु को भी नहीं चाहता। वह मिलन के लिए मृत्यु तुल्य पीड़ा बर्दाश्त कर रहा है।

(4) अंतिम चरण का भाव देव के इस छन्द में भी देखने को मिला है।

देव जिये मिलिबेई की आस कै आसहु पास अकास रह्यो भरि
जादिन ते मुख फेरि हरैं हँसि हेरि हियो जु लियो हरि जू हरि।

(5) 'थकित सिंधु नौका के खग ज्यों' जैसी उपमा सूर ने अपने पदों में कई स्थलों पर प्रयुक्त की है।

राग धनाश्री

रहु रे, मधुकर ! मधुमतवारे !
कहा करौं निर्गुन लै कै हौं जीवहु कान्ह हमारे ॥
लोटत नीच परागपंग में पचत न आपु सम्हारे।
बारंबार सरक मदिरा की अपरस कहा उघारे ॥
तुम जानत हमहूँ वैसी हैं जैसे कुसुम तिहारे ॥
घरी पहर सबको बिलमावत जेते आवत कारे ॥
सुन्दरस्याम कमलदल-लोचन जसुमति नन्द-दुलारे
सूर स्याम को सर्बस अर्प्यो अब कापै हम लेहिं उधारे ॥ 61 ॥

शब्दार्थ—मधुकर = भ्रमर (यहाँ उद्धव से अभिप्राय है)। मधुमतवारे = भ्रमर अर्थ में मकरन्द के लोभ में मतवाला; शराबी के अर्थ में शराब में मतवाला। मधु = मकरन्द; शराब। पराग-पंक में = पुष्पधूल के कीचड़ में। पचत = बरबाद होना, नष्ट होना, अपनी मर्यादा खोना। सरक = शराब की लत; नशा। अपरस = अपना रस (अपनी गुप्त बात) जो स्पर्श न किया जा सके (यहाँ निर्गुण ब्रह्म से अभिप्राय है)। कहा उघारे = उद्‌घाटित करने में (खोलने में) क्या लाभ। कुसुम तिहारे = तुम्हारे पुष्प (मथुरा की नारियाँ विशेषकर कुब्जा के प्रति संकेत है)। बिलमावत = रोकते हो, आराम देते हो। कारे = काले (यहाँ श्रीकृष्ण और अक्रूर आदि से प्रयोजन है)। कापै = किससे। उधारे = कर्ज़ में, ऋण रूप में।

सन्दर्भ—इसमें गोपियों की वासनारहित अनाविल प्रेम-व्यंजना की प्रधानता है। वस्तुतः श्रीकृष्ण के प्रति गोपियों का प्रेम उनके सतीत्व और दृढ़ता का बोधक है। यहाँ भ्रमर रूप उद्धव की चपल वृत्ति का गोपियाँ उपहास कर रही हैं। इसके साथ ही सूर ने इस पद में उद्धव को एक मद्यप के रूप में प्रस्तुत किया है।

व्याख्या—(भ्रमर-मद्यप-रूप 'उद्धव' के प्रति गोपियों का कथन) रे भ्रमर रूप मद्यप, ठहर

जा—ज्यादा मत बोल ! आशय यह है कि तुम मकरन्द रूप शराब के नशे में मतवाले हो रहे हो (उद्धव के प्रति, ब्रह्म ज्ञान के मद में तुम्हारा विवेक खो गया है, अतः चुप रहो !) हम तुम्हारा निर्गुण (गुणहीन—बेकार) ब्रह्म लेकर क्या करें—तुम्हारे निर्गुण ब्रह्मोपासना से हमारे किस प्रयोजन की सिद्धि होगी (व्यंजना यह है कि हम सब सती स्त्रियाँ हैं पर पुरुष (तुम्हारा निर्गुण ब्रह्म) से कैसे सम्बन्ध स्थापित कर सकती हैं)। हमारे श्रीकृष्ण चिरंजीवी रहें उनके रहते हमारा अन्यों से प्रेम कैसे हो सकता है ? हे नीच मद्यप भ्रमर, तुम तो इतने विवेकहीन हो गये हो कि पराग की कीचड़ में लोट रहे हो (शराबी जब शराब के नशे में बुत रहता है तो उसका समस्त विवेक खो जाता है, और वह गन्दी नालियों के कीचड़ में भी लोटने लगता है) और इस प्रकार अपनी गिरती हुई मर्यादा को सम्हाल नहीं पा रहे हो—तुम बर्बाद हो रहे हो। तुम तो बार-बार शराब की लत में पड़ कर (शराब के नशे में मग्न होकर) अपनी गुप्त बात भी खोल रहे हो, इससे क्या लाभ (शराबी शराब के नशे में अपनी गुप्त बात भी प्रकट कर देता है) उद्धव के पक्ष में इसकी अभीष्ट व्यंजना यह होगी कि निर्गुण ज्ञान के गर्व में तुम उस स्पर्शहीन ब्रह्म (अपरस) के महत्व को क्यों उद्‌घाटित कर रहे हो, उससे क्या लाभ होगा (उसका प्रभाव हम लोगों पर किसी भी प्रकार नहीं पड़ेगा)। तुम समझते हो कि जैसे तुम्हारे पुष्प हैं, वैसे क्या हम सब भी है। व्यंजना यह है कि तुम जिन पुष्पों से प्रेम करते हो उनका क्या चारित्रिक स्तर है—वे सब कुलटा स्त्रियों के समान हैं, किन्तु हम सब का प्रेम एकमात्र श्रीकृष्ण से ही है, दूसरे के लिए कोई स्थान नहीं है। गोपियों का प्रयोजन यह है कि तुम मथुरा की जिन नारियों से विशेषकर कुब्जा से प्रेम करते हो वे व्यभिचारिणी तुल्य हैं उनके प्रेम में एकनिष्ठा का भाव नहीं है। वे सब तो जितने काले भ्रमर उनके पास आते हैं सब का थोड़े समय के लिए स्वागत करती हैं प्रयोजन यह है कि जिस प्रकार पुष्प सभी भ्रमरों को स्थान देते हैं और वहाँ भ्रमरों को थोड़ी देर के लिए आराम मिलता है उसी प्रकार कुब्जा तथा मथुरा की चपल नारियाँ सब श्यामवर्ण वालों को (श्रीकृष्ण और उद्धव से अभिप्राय है) वारांगना की भाँति अपने यहाँ ठहराती हैं, लेकिन हमारे लिए तो एकमात्र सुंदर कमलनेत्र नन्द और यशोदा के प्रिय पुत्र श्रीकृष्ण ही हैं—उन्हीं की शरण में हैं और उनके लिए हमने अपना सब कुछ अर्पित कर दिया। अब दूसरा मन उधार में किससे लें जो तुम्हारे ब्रह्म को भेंट करें (यहाँ गोपियों की अनन्यता का भाव व्यक्त हुआ है)।

टिप्पणी—

(1) प्रथम पंक्ति में प्रयुक्त 'मधु' शब्द में शाब्दी व्यंजना का चमत्कार है। 'मधु' मकरन्द के अतिरिक्त 'शराब' अर्थ का भी बोधक है।

(2) पूरे पद में भ्रमर को शराबी के रूप में प्रस्तुत किया गया है। अतः आलंकारिक दृष्टि से इसमें रूपक है। लगता है मुगल काल के उस सामन्तीय समाज का इसमें संकेत भी है, जहाँ सुरा और सुंदरी का स्थान सर्वोपरि था।

(3) 'सरक' का अर्थ आचार्य रामानन्द शुक्ल ने मद्य पात्र किया है जो प्रसंगानुकूल ठीक नहीं लगता। यहाँ 'सरक' का अर्थ नशा या नशा की लत है।

(4) अपरस का भी ठीक अर्थ नहीं किया गया। यहाँ अपरस रसहीन की अपेक्षा अपना रस अपनी गुप्त बात के साथ ही स्पर्शहीन (निर्गुण ब्रह्म) के अर्थ में व्यंजित है।

(5) व्यंजना का चमत्कार भी दृष्टव्य है यथा, कुसुम तिहारे में। यहाँ कुसुम-कुब्जा जैसी व्यभिचारिणी स्त्रियों के लिए प्रयुक्त है। इस दृष्टि से इसमें असूया संचारी है।

(6) वचन—विद्ग्धता और वक्रता के कारण इसकी सरसता बढ़ गयी है।

(7) इसमें स्वकीया प्रेम के आदर्श का सुंदर चित्र अंकित हुआ है।

(8) पूरी रचना में अन्योक्ति अलंकार की भी झलक है।

(9) अंतिम चरण का भाव सूर के एक अन्य पद में भी मिला है, यथा—

ऊधो मन न भए दस बीस।
एक हुतो सो गयो स्याम पै को आराधै ईस॥

राग बिलावल

काहे को रोकत मारग सूधो ?
सुनहु मधुप ! निर्गुन-कंटक तें राजपंथ क्यों रुँधो ?
कै तुम सिखै पठाए कुब्जा, कै कही स्यामघन जू धौं ?
बेद पुरान सुमृति सब ढूँढ़ौ जुवतिन जोग कहूँ धौं ?
ताको कहा परेखो कीजै जानत छाछ न दूधौ।
सूर मूर अक्रूर गए लै ब्याज निबेरत ऊधौ॥ 62 ॥

शब्दार्थ—मारग सूधो = सीधा मार्ग (भक्ति-मार्ग से अभिप्राय है)। निर्गुन-कंटक = निर्गुणोपासनारूपी काँटे से। राजपंथ =.सड़क। रुँधो = रोकते हो, बाधा उपस्थित करते हो। धौं = तो। परेखो = विश्वास। छाछ न दूधो = मट्ठे और दूध का जो अन्तर नहीं समझता। मूर = मूलधन। निबेरत = वसूल करते हैं।

संदर्भ—इसमें यह बताया गया है कि सगुणोपासना का मार्ग अत्यन्त सरल और सीधा राजमार्ग है जिसे उद्धव जी अपनी निर्गुणोपासना की पद्धति द्वारा कंटकाकीर्ण बना रहे हैं। गोपियों को उद्धव की यह रीति पसन्द नहीं है।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, इस सगुणोपासना के सीधे और सरल राजमार्ग (चौड़े रास्ते) को तुम अपने निर्गुण ब्रह्मोपासना के काँटों से क्यों रूँध रहे हो? (किस लिए इस सरल उपासना की पद्धति में रोड़े अटका रहे हो ?) हे उद्धव, लगता है हमारे कार्यों में बाधा पहुँचाने के लिए तुम्हें या तो कुब्जा ने सिखाकर भेजा है या श्रीकृष्ण ने तुम्हें समझाकर यहाँ तक भेजा है (दूसरे शब्दों में तुम अपनी इच्छा से यहाँ तक नहीं आए हो, तुम्हें कुब्जा और श्रीकृष्ण ने भेजा है)। लेकिन हमारी चुनौती है कि युवतियों के लिए योग-साधना का कहीं भी उल्लेख नहीं हुआ है। तुम वेद, पुराण, स्मृति आदि सब ग्रंथों में खोजकर देख लो। हम लोग उसका क्या विश्वास करें जो मट्ठा और दूध के अन्तर को नहीं समझता अर्थात् जो मट्ठे के तुल्य निस्सार निर्गुण ब्रह्मोपासना और दूध के समान मंगलकारी सरल सगुणोपासना के महत्व को नहीं जानता ? सूरदास के शब्दों में गोपियाँ उद्धव के प्रति कहती हैं कि मूलधन-स्वरूप श्रीकृष्ण और बलराम को तो अक्रूर जी पहले ही ले गये अर्थात् हमारे सर्वस्व (श्रीकृष्ण और बलराम को तो अक्रूर जी पहले ही छीन ले गये) अब उद्धव जी व्याज वसूल करने के लिए आए हैं अर्थात् इतने कष्ट के बाद वे इन नीरस बातों द्वारा हमें और कष्ट देने के लिए चले आए हैं।

टिप्पणी—

(1) निर्गुन कटंक में रूपक अलंकार है। अन्तिम चरण में लोकोक्ति है।
(2) कुब्जा के प्रति तृतीय पंक्ति में असूया भाव व्यक्त किया गया है।
(3) पाँचवीं पंक्ति में लोकोक्ति अलंकार की प्रधानता है।
(4) 'भ्रमरगीत सार' की भूमिका में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस पद की भूरिशः श्लाघा की है।

राग मलार

बातन सब कोऊ समुझावै।
जेहि बिधि मिलन मिलैं वै माधव सो बिधि कोउ न बतावै॥
जद्यपि जतन अनेक रचीं पचि और अनत बिरमावै।
तद्यपि हठी हमारे नयना और न देखे भावै॥
बासर-निसा प्रानबल्लभ तजि रसना और न गावै।
सूरदास प्रभु प्रेमहिं लगि करि कहिए जो कहि आवै॥ 63 ॥

शब्दार्थ—जेहि बिधि मिलन = जिस प्रकार के संयोग से। मिलैं = भेंट करें। पचि = परेशान होकर परिश्रमपूर्वक। और अनत बिरमावै = कहीं दूसरे पर टिके हैं। तद्यपि = फिर भी। प्रानवल्लभ = श्रीकृष्ण। रसना = जिह्वा। प्रेमहिं लगि करि = प्रेम के ही नाते से।

सन्दर्भ—श्रीकृष्ण के प्रेम में विह्वल गोपियाँ अपनी इन्द्रियों की विवशता का उल्लेख उद्धव जी से कर रही हैं।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, हमें तो सब बातों में ही समझाते हैं किन्तु जिस प्रकार के संयोग से श्रीकृष्ण का दर्शन सुलभ हो सकता है उस प्रकार की रीति हमें कोई नहीं बताता। (सब बातों से ही प्रसन्न करने वाले हैं—वास्तविक बात कोई नहीं बताता)। यद्यपि हमने परिश्रमपूर्वक श्रीकृष्ण से मिलने के लिए अनेक प्रयत्न किए लेकिन फिर भी, वे कहीं दूसरे पर टिके हैं (दूसरे पर टिकने का आशय यह है कि उन्होंने कुब्जा से सम्बन्ध बना लिया है)। अतः उनके मिलन की सभी संभावनाएँ क्षीण हो चुकी हैं, फिर भी हमारे इन हठीले नेत्रों को तो देखिये, ये उन्हीं को देखना चाहते हैं, इन्हें दूसरों को देखना पसन्द नहीं है। यही दशा हमारी जिह्वा की है, उसे रात-दिन श्रीकृष्ण के गुणानुवाद के अतिरिक्त किसी दूसरे का गुण गान करना प्रिय नहीं है। तात्पर्य यह है कि हमारी ये इन्द्रियाँ हमारे वश में नहीं हैं, ये श्रीकृष्ण की हो चुकी हैं। सूरदास के शब्दों में गोपियों का उद्धव से कथन है कि हे उद्धव, तुम जो कुछ भी कहना चाहते हो, अवश्य कहो, लेकिन तुम्हारा यह सब कथन श्रीकृष्ण के प्रेम सम्बन्ध से जुड़ा हो (तुम उनके प्रेम के नाते जो कुछ भी कहना चाहो, उसे हम सब सहर्ष सुनेंगी, अन्य चर्चाएँ सुनना हमें अभीष्ट नहीं है)।

टिप्पणी—

(1) श्रीकृष्ण प्रेम में गोपियों की इन्द्रियों (नेत्र, जिह्वा) की विवशता का सहज चित्रांकन।
(2) अन्तिम पंक्ति में अमर्ष-भाव की व्यंजना बहुत शालीनता के साथ की गयी है।
(3) अनत बिरमावै, में व्यंजना का सुन्दर प्रयोग हुआ है।

राग सारंग

निर्गुण कौन देस को बासी ?
मधुकर ! हँसि समुझाय, सौंह दै बूझति साँच, न हाँसी ॥
को है जनक, जननि को कहियत, कौन नारि, को दासी ?
कैसो बरन, भेस है कैसो केहि रस कै अभिलाषी ॥
पावैगो पुनि कियो आपनो जो रे ! कहैगो गाँसी ॥
सुनत मौन ह्वै रह्यौ ठग्यो सो सूर सबै मति नासी ॥ 64 ॥

शब्दार्थ—सौंह दै बूझति = कसम खा कर पूछ रही हैं। बरन = रंग। रस = आनंद। गाँसी = व्यंग्य वाणी, चोट करने वाली बात। ठग्यो सो = ठगा हुआ सा। मतिनासी = बुद्धि नष्ट हो गयी।

सन्दर्भ—प्रस्तुत पद सूर की व्यंग्य गर्भित शैली का एक उत्कृष्ट नमूना है। इसमें गोपियाँ उद्धव के निर्गुण ब्रह्म का उपहास कर रही हैं और अतिशय व्यंग्यात्मक ढंग से वे निर्गुण् ब्रह्म का परिचय पूछ रही हैं।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, भला हमें यह तो बताइए कि तुम्हारा वह निर्गुण ब्रह्म किस देश का निवासी है क्योंकि हमने आज तक इसके सम्बन्ध में कुछ भी नहीं सुना और न इसकी हमें कुछ जानकारी ही है) । हे भ्रमर, सच हम कसम खाकर पूछ रही हैं, मजाक तुमसे नहीं कर रही हैं। हमें तुम हँसकर (प्रसन्नतापूर्वक अर्थात् सहज भाव से) समझा दो कि निर्गुण ब्रह्म का कौन पिता है और इसकी माता कौन है, इसकी स्त्री कौन है और कौन इसकी दासी है ? व्यंग्य अर्थ यह है कि जिसके माता-पिता आदि का पता न हो उसकी क्या हैसियत है, क्या मर्यादा है (यहाँ तो हमारे श्रीकृष्ण के माता-पिता आदि सभी सम्बन्धी मौजूद हैं) पुनः हम सब यह भी जानना चाहती हैं कि इसका रंग कैसा है (क्योंकि हमारे श्रीकृष्ण का तो रंग हमें ज्ञात है) और इनकी कैसी वेश-भूषा है (ये कौन वस्त्र धारण करते हैं) ? दूसरे शब्दों में हमारे श्रीकृष्ण श्याम रंग के हैं और वे पीताम्बर धारण करते हैं। और किस रस में यह डूबा रहता है। (इसे कौन सी चीज प्रिय है)। इन सब बातों को पूछते-पूछते गोपियों का तीखा व्यंग्य अमर्ष भाव में परिणत हो जाता है और वे कहने लगती हैं कि हे उद्धव, अब ज्यादा जले-भुने की बात मत करो नहीं तो तुम्हें अपनी करनी का फल भी मिल जाएगा (कहने का तात्पर्य यह है कि अब हमारे हृदय को निर्गुण विषयक चर्चा से अधिक मत दुखाओ, अन्यथा हम तुम्हें कुछ कह देंगी)। सूर के शब्दों में गोपियों की ऐसी बातों को सुनते ही उद्धव जी ठगे से चुप हो गये—उनसे कुछ कहते नहीं बना और वे गोपियों की भक्ति और प्रेम के समक्ष स्तंभित हो गये।

टिप्पणी—

(1) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सूर के इस पद की पर्याप्त सराहना की है। उनके अनुसार स्त्रियों के कैसे स्वाभाविक हाव-भाव भरे ये वचन हैं—"कसम है, हम ठीक-ठीक पूछती हैं, हँसी नहीं कि तुम्हारा निर्गुण कहाँ का रहने वाला है।" कुछ विनोद, कुछ चपलता, कुछ भोलापन, कुछ घनिष्ठता—कितनी बातें इस छोटे से वाक्य में टपकती हैं।

(2) निर्गुण ब्रह्म जिसे वेद और उपनिषद आदि सभी दर्शनिक ग्रन्थ नेति-नेति कहते हैं

और जो अग्राह्य और अज्ञेय है, उसका निरूपण करने में असमर्थ उद्धव की मनः स्थिति का बोध 'सुनत मौन ह्वै रह्यो ठग्यो सो' से पूरी तरह हो जाता है।

(3) यह हास्य-व्यंग्य गर्भित शैली का एक उत्कृष्ट नमूना है।

(4) सूर की वचन विदग्धता का इससे पूरा परिचय मिल जाता है।

(5) कई भावों की संयुक्त योजना के कारण, इसमें किलकिंचित् हाव की प्रधानता है।

(6) 'निर्गुन' शब्द में परिकरांकुर है और निर्गुन (गुणातीत) के माता-पिता की चर्चा आलंकारिक दृष्टि से विरोधाभास के अन्तर्गत आएगी।

राग केदारो

नाहिंन रह्यो मन में ठौर।
नंदनंदन अछत कैसे आनिए उर और।
चलत, चितवत, दिवस जागत, सपन सोवत राति।
हृदय तें वह स्याम मूरति छन न इत उत जाति॥
कहत कथा अनेक ऊधो लोक-लाभ दिखाय।
कहा करौं तन प्रेम-पूरन घट न सिंधु समाय॥
स्याम गात सरोज-आनन ललित अति मृदु हास।
सूर ऐसे रूप कारन मरत लोचन प्यास॥ 65 ॥

शब्दार्थ—ठौर = स्थान। अछत = रहते हुए (अवधी भाषा का प्रयोग)। आनिए = ले आएँ, स्थान दें। और = दूसरों को। घट = घड़ा। स्यामगात = श्याम शरीर। सरोज आनन = कमल मुख।

सन्दर्भ—इस पद में श्रीकृष्ण के प्रति गोपियों की अनन्यता का भाव व्यक्त हुआ है। कृष्ण काव्य में परकीयाभाव की अधिकांशतः अभिव्यक्ति हुई है। इसमें सूर ने गोपियों के स्वकीया आदर्श का काव्योचित ढंग से निरूपण किया है।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, इस हृदय में तो अब स्थान ही नहीं बचा है, जहाँ तुम्हारे निर्गुण ब्रह्म को बैठाएँ ? और भला श्रीकृष्ण के होते हुए, हम ऐसी जगह दूसरों को कैसे ले आ सकती हैं—कैसे दूसरों को स्थान दे सकती हैं। यह स्थान कभी खाली नहीं रहता, सदैव इसमें कृष्ण समाए रहते हैं—इस हृदय में उनकी व्याप्ति तो इस प्रकार है कि वे चलते, देखते, दिन में जागते, रात में स्वप्नावस्था और सुषुप्तावस्था दोनों ही अवस्थाओं में हृदय से उनकी श्याममूर्ति एक क्षण के लिए इधर-उधर हटती नहीं अर्थात् जाग्रत, सुषुप्ति और स्वप्न तीनों अवस्थाओं में हम सब का हृदय श्याममय ही रहता है। हे उद्धव, तुम सांसारिक लोभ की बहुत-सी बातें कह कर हमें ललचा रहे हो, लेकिन हमारी विवशता है कि हम तुम्हारे ऐसे निर्गुण को कहाँ स्थान दें, जो समुद्रवत् विशाल और अनन्त है—इस समुद्र को (इस ब्रह्म रूपी समुद्र को) हम उस अपने हृदय रूपी छोटे से घड़े में जिसमें श्रीकृष्ण का प्रेम जल आपूरित है—कैसे भर सकती हैं—यह तो ऐसा ही है जैसे गागर में सागर भरना। पुनः हमारे नेत्रों की दशा तो और दिचित्र है, वे श्याम शरीर वाले कमलमुख श्रीकृष्ण की अति सुंदर मन्द मुस्कराहट के सौन्दर्य के प्यासे हैं (रूप-दर्शन के आनन्द के लिए ये अतिशय आतुर हैं) सारांश यह है कि

यदि हम तुम्हारे ब्रह्म को स्थान देने के लिए कुछ सोचें भी तो इन नेत्रों के कारण हमें कुछ भी अवकाश नहीं मिलता।

टिप्पणी—

(1) इसी भाव को रहीम ने अपने इस दोहे में यों व्यक्त किया है—
प्रीतम छवि नैननि बसी, पर छवि कहाँ समाय।
भरी सराय रहीम लखि पथिक आपु फिरि जाय॥

(2) 'तन प्रेम-पूरन घट' में तन से घट शब्द के दूर हट जाने से रूपक की संगति बैठाने में परेशानी होती है। अतः यहाँ दूरान्वय दोष है।

(3) अंतिम चरण में रूढ़ि लक्षणा का प्रयोग हुआ है।

(4) गोपियों के पातिव्रत धर्म और स्वकीया के उदात्त आदर्श की इसमें सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है।

(5) छठीं पंक्ति में रूपक और लोकोक्ति अलंकार की प्रधानता है।

राग मलार

ब्रजजन सकल स्याम-ब्रतधारी।
बिन गोपाल और नहिं जानत आन कहैं व्यभिचारी॥
जोग मोट सिर बोझ आनि कैं कत तुम घोष उतारी ?
इतनी दूरि जाहु चलि कासी जहाँ बिकति है प्यारी॥
यह सँदेश नहिं सुनै तिहारो, है मंडली अनन्य हमारी।
जो रसरीति करी हरि हमसौं सो कत जात बिसारी ?
महामुक्ति कोऊ नहीं बूझै, जदपि पदारथ चारी।
सूरदास स्वामी मनमोहन मूरति की बलिहारी॥ 66 ॥

शब्दार्थ—स्याम-व्रतधारी = श्रीकृष्ण प्रेम के व्रत को धारण करने वाले। आन = अन्य को। मोट = मोटरी, गठरी। घोष = अहीरों की बस्ती। आनिकै = ले आकर। कत = क्यों। प्यारी = महँगी (पंजाबी प्रयोग)। अनन्य = अद्वितीय, अनोखी। रसरीति = प्रेम रीति। बिसारी = भुलाई। पदारथ चारी = चार पदार्थ (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष)। बूझै = समझता है।

संदर्भ—इसमें गोपियों के सच्चे पातिव्रत धर्म और उनकी प्रेम-निष्ठा का सुंदर निरूपण किया गया है। योग की अग्राह्यता और श्रीकृष्ण प्रेम की सहजता दोनों को सूर ने बड़े ही सुंदर ढंग से प्रस्तुत किया है।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, तुम्हें मालूम होना चाहिए कि यहाँ सभी ब्रजवासी श्रीकृष्ण प्रेम के व्रत को धारण करने वाले हैं—उन्हें श्रीकृष्ण प्रेम के अतिरिक्त अन्य वस्तुएँ प्रिय नहीं हैं। हम सब गोपाल के अतिरिक्त किसी को जानती तक नहीं, यदि गोपाल के अतिरिक्त किसी अन्य की चर्चा करें तो हम सबकी गणना व्यभिचारिणी स्त्रियों में होगी—तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्ण को छोड़कर यदि हम तुम्हारे ब्रह्म की उपासना करने लगें तो हमारा पातिव्रत धर्म कलंकित होगा और श्रीकृष्ण के प्रति हमारा जो अनन्यता का भाव है, उसे

लोग संदेह की दृष्टि से देखेंगे, अतः हम सब अपने चारित्रिक स्तर को गिराना नहीं चाहतीं। हमें आश्चर्य है कि तुमने किस प्रयोजन से अपनी योग की गठरी अहीरों की बस्ती में आकर उतारी है, अरे, इस योग की गठरी में जो माल है, उसका यहाँ कोई खरीददार नहीं है तात्पर्य यह है कि ब्रज के लोगों के लिए तुम्हारा यह योग-शास्त्र किसी प्रयोजन का नहीं है। इसे यदि बेचना चाहते हो तो तुम दूर काशी में ले जाओ जहाँ यह महँगा बिकेगा। तुम इसे बेच कर मुँह माँगा दाम पा जाओगे तात्पर्य यह है कि काशी ही योग-साधना का उपयुक्त स्थान है, जहाँ बड़े-बड़े योगी मिल जाएँगे, और वे तुम्हारे योग की कद्र करेंगे।) यहाँ तो हम सब की मंडली (समाज) बड़ी विचित्र और अनोखी है, वह तुम्हारा संदेश सुनने के लिए तैयार नहीं है। भला, यह बतलाइए कि श्रीकृष्ण ने हम सब के साथ अपनी जिस प्रेम-रीति का व्यवहार किया क्या उसे भुलाया जा सकता है ? तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्ण की उन अगणित प्रेम लीलाओं को हम सब कैसे विस्मृत कर सकती हैं। यद्यपि आपकी महामुक्ति चारों पदार्थों (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) में से एक कही जाती है, लेकिन उसे यहाँ कोई नहीं पूछ रहा है (समझ ही नहीं पाता—ऐसे गूढ़ और गम्भीर सिद्धान्तों को समझने वाले लोग यहाँ नहीं हैं)। सूरदास के शब्दों में गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि हे उद्धव, हम सब तो अपने स्वामी प्राणवल्लभ मनमोहन पर बलिहारी हैं (उन पर हम लोगों ने अपना सब कुछ न्योछावर कर दिया) इसमें गोपियों की आत्म-समर्पण की वृत्ति का संकेत है।

टिप्पणी—

(1) द्वितीय पंक्ति में पर्यायोक्ति अलंकार है, इसमें पर्याय उक्ति से गोपियों के आदर्श और अनाविल प्रेम की व्यंजना हुई है।

(2) 'जोग मोट' में रूपक है।

(3) 'प्यारी' शब्द पंजाबी है, स्पष्ट प्रतीत होता है कि सूर ने ब्रजभाषा को व्यापक बनाने के लिए ऐसे शब्दों के प्रयोग में किसी भी प्रकार की उदासीनता नहीं प्रकट की।

(4) सातवीं पंक्ति में श्रीकृष्ण के समक्ष चारों पदार्थों को तुच्छ बताया गया है।

राग धनाश्री

कहति कहा ऊधो सों बौरी।
जाको सुनत रहे हरि के ढिग स्यामसखा यह सो री !
कहा कहत री ! मैं पत्यात री नहीं सुनी कहनावत ?
हमको जोग सिखावन आयो, यह तेरे मन आवत ?
करनी भली भलेई जानैं, कपट कुटिल की खानि।
हरि को सखा नहीं री माई ! यह मन निस्वय जानि।
कहाँ रास-रस कहाँ जोग-जप ? इतना अंतर भाखत।
सूर सबै तुम कत भईं बौरी याकी पति जो राखत॥ 67 ॥

शब्दार्थ—बौरी = पगली। ढिग = निकट। सो = वही। पत्यात री = विश्वास करती हूँ। तेरे मन आवत = तेरी समझ में आ रहा है। माई = सखी (ब्रजभाषा में 'माई' सखी के अर्थ में प्रयुक्त होता है)। भाखत = कहता है, बतलाता है। पति जो राखत = सम्मान करती हो।

सन्दर्भ—इसमें गोपियों ने उद्धव को एक धूर्त और कपटी समझा है, क्योंकि इनमें सज्जनों जैसा कोई गुण नहीं है।

व्याख्या—(एक सखी दूसरी सखी से उद्धव की धूर्तता का उल्लेख कर रही है) हे सखी, तू पगली की भाँति उद्धव से क्या कह रही है अर्थात् इन्हें समझाने के लिए पागल मत बन, ये बड़े धूर्त हैं, तुम्हारी बातों में नहीं आएँगे। अरी, श्रीकृष्ण के निकट रहने वाले जिस सखा के सम्बन्ध में बहुत समय से सुनती रही, ये वे ही हैं (व्यंग्यार्थ यह है कि तुम सब इस धोखे में मत रहो कि ये श्याम के सखा हैं, अरे यह धूर्त व्यक्ति है और स्वयं को श्रीकृष्ण का सखा बतला रहा है। अरी, क्या तू यह समझती रही कि यह हमें योग की शिक्षा देने आया है ? अरी, सखी तुम क्या कह रही हो, मैं तुम्हारी बातों में विश्वास नहीं करती, तुमने क्या यह कहावत नहीं सुनी कि जो व्यक्ति सज्जन होते हैं, वे सज्जनता की ही बातें करते हैं उनके सारे कार्य सज्जनों के से होते हैं, लेकिन जो कपटी होते हैं वे कुटिलता (दुष्टता) की खानि होते हैं (उनमें कूट-कूटकर दुष्टता भरी रहती है)। हे सखी, इस दृष्टि से तुम निश्चय जान लो कि ये श्रीकृष्ण के मित्र नहीं हैं क्योंकि यदि मित्र होते तो श्रीकृष्ण की सज्जनता के गुण इन्हें मिले होते, लेकिन ये अत्यंत दुष्ट प्रकृति के व्यक्ति हैं। भला, कहाँ रास का आनन्द और कहाँ योग और जप की नीरस बातें दोनों में इतने अन्तर की बातें कर रहा है अर्थात् दोनों में आकाश-पाताल का परस्पर अन्तर है और यह इस प्रकार की परस्पर विरोधी चर्चा कर रहा है। जिसे इस अन्तर का पता नहीं है उस पर क्यों विश्वास कर रही हो ? सूर के शब्दों में गोपियों का परस्पर कथन है कि तुम सब पगली बन कर इस अविश्वासी और कपटी के प्रति क्यों सम्मान दे रही हैं (इसकी प्रतिष्ठा बनाए रखने का अब कोई प्रश्न ही नहीं है)।

टिप्पणी—

(1) यह व्यंग्यगर्भित शैली का एक उत्कृष्ट पद है। ध्वनि की दृष्टि से इसमें अत्यंत तिरस्कृतवाच्य ध्वनि हैं, क्योंकि इसमें अभिधा शक्ति का तिरस्कार किया गया है।
(2) 'करनी .... खानि' में लोकोक्ति अलंकार है।
(3) बौरी जैसे शब्दों के प्रयोग द्वारा सूर ने स्त्रियों की भाषा का सहज नमूना प्रस्तुत किया है।
(4) 'हरि को सखा .... माई' में वस्तु से व्यंग्य व्यंजित हुआ है।

राग रामकली

ऐसेई जन दूत कहावत !
मोको एक अचंभो आवत यामें ये कह पावत ?
बचन कठोर कहत, कहि दाहत, अपनी महत गँवावत।
ऐसी परकृति परति छाँह की जुवतिन ज्ञान बुझावत॥
आपुन निलज रहत नखसिख लौं एते पर पुनि गावत।
सूर करत परसंसा अपनी, हारेहु जीत कहावत॥ 68 ॥

शब्दार्थ—कहि दाहत = कह कर जलाता है। महत गँवावत = अपने महत्व या महिमा को खो रहा है (नष्ट कर रहा है) छाँह की = संसर्ग का। परकृति = प्रकृति (प्रभाव)। ज्ञान

बुझावत = ज्ञान की बातें समझा-बुझा रहा है। निलज = निर्लज्ज। नखसिख लौं = पूर्णतया, पूरी तरह से। परसंसा = प्रशंसा। हारेहु जीत कहावत = हारने पर भी अपने को जीता हुआ बतला रहा है। दूत = इधर की उधर लगाने वाले। यामें = इसमें।

सन्दर्भ—इसमें गोपियों ने उद्धव की निर्लज्जता का उल्लेख किया है और यह भी संकेत किया है कि ऐसे ही लोग आदर्श दूत (संदेशवाहक) कहलाते हैं। गोपियाँ प्रकारान्तर से यह सिद्ध कर रही हैं कि इनमें दूतत्व का कोई स्मरणीय गुण नहीं है (ये तो इधर की उधर लगाने वाले व्यक्ति हैं।)

व्याख्या—(गोपियाँ परस्पर कह रही हैं) हे सखी, ऐसे ही लोग आज दूत कहलाने का दावा करते हैं जो इधर की उधर लगाया करते हैं। हमें एक यही आश्चर्य होता है कि ऐसा करने से इन्हें क्या मिल जाता है (दूसरों को परेशान करने में इन्हें क्या लाभ होता है !) सच तो यह है कि ये हम लोगों को अपनी कठोर वाणी (योग की नीरस और शुष्क बातें) द्वारा जलाते हैं और अपनी महिमा को इस प्रकार नष्ट करते हैं (इनकी जो साख हम लोगों में बनी हुई है, उसे ये खो रहे हैं)। देखो तो, सखी, यह संसर्ग का ही प्रभाव है अर्थात् श्रीकृष्ण और कुब्जा के संसर्ग में रहने के कारण ये युवतियों को योग की बातें समझाने आए हैं। स्वयं तो इस सीमा तक निर्लज्ज हो गया है कि अपनी ही गाये जा रहा है। तात्पर्य यह है कि हम लोग ब्रह्म की चर्चा सुनने के लिए प्रस्तुत नहीं हैं, फिर भी हमारी इच्छा के विरुद्ध यह निर्गुण का राग बराबर अलाप रहा है—यह तो इसकी निर्लज्जता की चरम सीमा है। सूर के शब्दों में गोपियों का कथन है कि यह अब भी चुप नहीं है और अपने ज्ञान की अपने ही मुख अपनी प्रशंसा कर रहा है तथा हार कर भी अपने को जीता हुआ प्रमाणित कर रहा है अर्थात् अपने निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप का निरूपण करने में पूर्णतया असमर्थ है फिर भी यह घोषित कर रहा है कि उसे ब्रह्म का पूर्ण बोध है।

टिप्पणी—

(1) 'दूत' शब्द में व्यंग्यार्थ की प्रधानता है।

(2) पूरी रचना में रूढ़ि लक्षण का प्राधान्य है।

(3) वस्तु से व्यंग्य ध्वनित है अर्थात् व्यंग्य यह है कि उद्धव श्रीकृष्ण के सच्चे संदेशवाहक नहीं हैं। स्वयं ही योगविषयक तरह-तरह की बातें गढ़ कर ब्रज युवतियों को भड़का रहे हैं।

राग धनाश्री

प्रकृति जोई जाके अंग परी।
स्वान-पूँछ कोटिक जो लागै, सूधि न काहु करी॥
जैसे काग भच्छ नहिं छाँड़ै जनमत जौन घरी।
धोये रंग जात कहु कैसे ज्यों कारी कमरी ?
ज्यों अहि डसत उदर नहिं पूरत ऐसी धरनि धरी।
सूर होउ सो होउ सोच नहिं तैसे हैं एउ री॥ 69॥

शब्दार्थ—प्रकृति = आदत, स्वभाव। जाके अंग परी = जिसके अंश में मिलती है। स्वान = कुत्ता। कोटिक जो लागौ = करोड़ों प्रयत्न करो। सूधि = सीधी। भच्छ = भक्ष्य।

यहाँ भक्ष्य से तात्पर्य अभक्ष्य पदार्थों से है। जौन घरी = जिस घड़ी में। अहि = सर्प। उदर नहिं पूरत = पेट नहीं भरता। धरनि = टेक पकड़ी है। एउ री = ये उद्धव भी ऐसे ही हैं।

सन्दर्भ—इसमें गोपियों ने प्रत्येक प्राणी की स्वभावज विशेषताओं का वर्णन किया है। प्रकारान्तर से उद्धव की प्रकृति का इसमें अत्यंत स्वाभाविक चित्रण किया गया है।

व्याख्या—गोपियाँ परस्पर कह रही हैं हे सखी, यह तो स्वभाव की बात है जो जिसके हिस्से में पड़ न जाय अर्थात् जिसका जैसा स्वभाव बन जाता है वह छूटता नहीं। जैसे कोई करोड़ों उपाय क्यों न करे कुत्ते की पूँछ आज तक किसी ने सीधी नहीं की (उसकी टेढ़ी पूँछ आज तक टेढ़ी ही है) इसी प्रकार कौवा जिस घड़ी से जन्म लेता है वह अभक्ष्य (बुरी वस्तुएँ जो खाने योग्य नहीं हैं) खाना छोड़ता नहीं, क्योंकि अभक्ष्य खाना उसका स्वभाव बन गया है। कोई यदि काले कम्बल को धोकर साफ करना चाहे तो धोने से उसका काला रंग कैसे छूट सकता है ? यही नहीं, सर्प को देखिए, वह लोगों को डस लेता है और डसने से उसका पेट तो भरता नहीं, लेकिन डसने की उसने ऐसी टेक पकड़ ली है (इस टेक या आदत को छोड़ने में वह सर्वथा असमर्थ है)। अरी सखी, ये उद्धव भी ऐसे ही टेकी हैं (ये अपनी आदत से बाज नहीं आते और बहुत खरी-खोटी सुनाने पर भी अपना राग अलापते रहते हैं) उन्हें इस बात की चिन्ता नहीं है कि इसका क्या परिणाम होगा ये तो यही समझते हैं कि जो होना है हो, किन्तु उनकी निर्गुण कथा बन्द नहीं होगी।

टिप्पणी—

(1) इसमें स्वभावज विशेषता का मनोवैज्ञानिक चित्रण किया गया है।

(2) दूसरी पंक्ति में अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

(3) चौथी पंक्ति का भाव सूर की इस पंक्ति में भी व्यक्त हुआ है—'सूरदास की कारी कामरि चढ़त न दूजो रंग'।

(4) 'भच्छ' शब्द लक्षणा से अभक्ष्य अर्थ में गृहीत है।

(5) इसमें उद्धव की प्रकृति की जड़ता निरूपित की गयी है।

राग रामकली

तौ हम मानैं बात तुम्हारी।
अपनो ब्रह्म दिखावहु ऊधो मुकुट-पितांबरधारी ।।
भजि हैं तब ताको सब गोपी सहि रहिहैं बरु गारी।
भूत समान बतावत हमको जारहु स्याम बिसारी।
जे मुख सदा सुधा अंचवत हैं ते बिष क्यों अधिकारी।
सूरदास प्रभु एक अंग पर रीझि रही ब्रजनारी ।। 70 ।।

शब्दार्थ—ताको = उसको। बरु = बल्कि। जारहु = जलाते हो। बिसारी = भुलाकर। सुधा-अंचवत = अमृत पान करते थे। भूत = छाया मात्र, आकारहीन।

संदर्भ—कृष्ण के दर्शनातुर गोपियों का उद्धव जी से एक शर्त है वह यह कि वे उनकी बात—उनके योग-दर्शन को तब स्वीकार करेंगी जब उन्हें वे मुकुट पीताम्बरधारी श्रीकृष्ण से भेंट करा दें।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, हम तुम्हारे योग-दर्शन की बातें तब स्वीकार करेंगी जब पहले आप अपने (ब्रह्म को) हमें मयूरपंख का मुकुट और पीताम्बर पहनने वाले श्रीकृष्ण से भेंट करा दें (गोपियाँ इसी मुद्रा में श्रीकृष्ण को देखना चाहती हैं, क्योंकि ब्रजवासी श्रीकृष्ण के इसी रूप में वे सब तन्मय हैं, और उनके मथुरा के राजेश्वर को वे नहीं चाहतीं)। और यदि इस रूप को वे दिखला देते हैं तो सभी गोपियाँ लोगों की गाली और अपमान बर्दाश्त करके भी निर्गुण ब्रह्म की उपासना करने लगेंगी। हे उद्धव, हम तो तुम्हारे ब्रह्म को इसी रूप में देखना चाहती हैं, लेकिन तुम तो हमें जिस ब्रह्म को बताते हो वह तो छायामात्र अर्थात् आकारहीन है और आप श्रीकृष्ण को भुलाकर हमें इसी की ओर प्रवृत्त करना चाहते हो। तुम इस प्रकार हमें जला रहे हो (हम श्रीकृष्ण को भुलाकर तुम्हारे ऐसे ब्रह्म की उपासना में कैसे तत्पर हो सकती हैं, क्योंकि श्रीकृष्ण के जिस चन्द्रमुख के सौन्दर्य-सुधा-रस का हम सब पान करती थीं उसे छोड़कर विष तुल्य तुम्हारे निर्गुण ब्रह्म को कैसे ग्रहण कर सकती हैं), तात्पर्य यह है कि भगवान श्रीकृण के सगुणोपासना का आनन्द अमृत के समान है और तुम्हारे निर्गुण की उपासना हमारे लिए विष के सदृश घातक है। सूरदास के शब्दों में गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि वे तो एक मात्र श्रीकृष्ण के मधुर अंग पर रीझी हुई हैं वहाँ से हटकर अन्यत्र वे नहीं जा सकतीं। श्रीकृष्ण के लोकोत्तर सौन्दर्य के आकर्षण का यह प्रभाव है कि गोपियाँ श्रीकृष्ण के अंग पर सच्चे मन से मुग्ध हैं।

टिप्पणी—

(1) सूर की वचन-विदग्धता का यह एक उत्कृष्ट नमूना है।
(2) द्वितीय पंक्ति में उस प्रेमलक्षणा भक्ति का संकेत है जिसमें गोपियाँ श्रीकृष्ण के प्रेम के समक्ष लोक-मर्यादा की भी परवाह नहीं करती थीं।
(3) चौथी पंक्ति में उपमा और पाँचवीं पंक्ति में सुधा के अन्तर्गत रूपकातिशयोक्ति अलंकार है। इसमें सौन्दर्य उपमेय लुप्त है।
(4) अंतिम पंक्ति में हर्ष संचारी भाव का संकेत है।
(5) इसमें व्यंग्यगर्भित शैली में उद्धव को मूर्ख बनाने की चेष्टा की गयी है।

राग विलावल

यहै सुनत ही नयन पराने।
जबही सुनत बात तुव मुख की रोवत रमत ढराने॥
बारंबार स्यामघन घन तें भाजत फिरत लुकाने॥
हमको नहिं पतियात तबहिं तें जब ब्रज आपु समाने॥
नातरु यहौ काछ हम काछति वै यह जानि छपाने।
सूर दोष हमरे सिर धरिहौ तुम हो बड़े सयाने॥ 71 ॥

शब्दार्थ—पराने = भाग गये। रमत = मग्न होते हैं। ढराने = आँसुओं को गिराने लगते हैं—बहाने लगते हैं (यहाँ ढारने से 'ढराने' शब्द का सूर ने निर्माण किया है)। स्यामघन = श्यामवर्ण के बादल। घन = घने। भाजत फिरत लुकाने = भागते और छिपते फिरते हैं। पतियात = विश्वास करते हैं। समाने = आए। नातरु = नहीं तो। काछ काछति = वेश

धारण करती। छपाने = छिप गये।

सन्दर्भ—गोपियाँ उद्धव के योग-मार्ग का खण्डन और अपने नेत्रों की विवशता का उल्लेख प्रस्तुत पद में कर रही हैं।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, तुम्हारे योग-मार्ग की बातों को सुन कर हमारे नेत्र भाग खड़े हुए (तात्पर्य यह है कि जब तुम योग की चर्चा करते हो तो हमारे नेत्र तुम्हारे सामने बन्द हो जाते हैं—वे तुम्हें देखना नहीं चाहते, तुमसे भागते रहते हैं) जब ये तुम्हारे मुख से निर्गुण की गाथा सुनते हैं तो ये रोने लगते हैं, श्रीकृष्ण की स्मृति में मग्न हो जाते हैं और कभी-कभी उनका स्मरण करके अश्रुपात भी करने लगते हैं। वे श्यामवर्ण वालों को देखना नहीं चाहते और यदि इनके सामने श्यामवर्ण वाले दिखाई पड़ जाय तो ये छिप जाते हैं, और उनसे भागते रहते हैं—इन श्यामवर्ण वालों से ये क्यों भागते और छिपते हैं इसका कारण है एक बार श्यामवर्ण वाले अक्रूर जी ब्रज में आकर बलराम और श्रीकृष्ण को फुसलाकर ले गए। श्यामवर्ण वाले श्रीकृष्ण ने मथुरा में बसकर कभी स्मरण नहीं किया, उन्होंने भी धोखा दिया। अब श्यामवर्ण वाले तुम भी अपने योग-संदेशों से इन्हें प्रवंचित करना चाहते हो, लेकिन ये अब सावधान हैं और इन श्यामवर्ण वाले के प्रति इनका कुछ भी विश्वास नहीं है। यहाँ तक कि जब पावस में घने श्यामवर्ण वाले बादल दिखाई पड़ते हैं तो उन्हें देखकर ये छिप जाना चाहते हैं। हमारा तो ये तभी से विश्वास नहीं करते जब से आपने ब्रज में प्रवेश किया है (उन्हें ऐसी आशंका है कि कहीं तुम्हारे कहने में सब निर्गुण-मार्ग की उपासिका न बन जायँ और श्रीकृष्ण से उन्हें वंचित कर दें और वे श्रीकृष्ण की रूप-माधुरी का सुख पुनः न प्राप्त कर सकें)। हमारे प्रति उनका जो अविश्वास है, उसका यही कारण है। वे तो इन सब बातों को समझ कर छिप गये, अन्यथा हम तुम्हारी योग-साधना की सभी बातों को स्वीकार कर लेतीं और योगियों के वेश को धारण करने में किसी प्रकार का संकोच न करतीं। लेकिन हम सब जानती हैं कि आप बड़े चतुर हैं और हमारे नेत्रों की विवशता पर तो विश्वास करेंगे नहीं, उलटे हमारे ही सिर दोष मढ़ेंगे—हमें ही दोषी बनाएँगे।

टिप्पणी—

(1) नेत्रों में मानवीकरण का प्रयास।
(2) वचन विदग्धता की प्रधानता।
(3) 'स्यामघन घन' में भ्रमालंकार।
(4) श्रीकृष्ण की रूप-माधुरी का कौशलपूर्ण उल्लेख।
(5) श्यामवर्ण वालों की तीखी व्यंजना।
(6) अंतिम पंक्ति में 'दोष सिर धरना' एक मुहावरा है।

राग धनाश्री

नयननि वहै रूप जौ देख्यो।
तौ ऊधो यह जीवन जग को साँचु सफल करि लेख्यो॥
लोचन चारु चपल खंजन, मनरंजन हृदय हमारे।
रुचिर कमल मृग मीन मनोहर स्वेत अरुन अरु कारे॥

रतन जटित कुण्डल स्रवननिं बर, गंड कपोलनि झाँईं।
मनु दिनकर-प्रतिबिंब मुकुर महँ ढूँढ़त यह छवि पाई॥
मुरली अधर बिकट भौहैं करि ठाढ़े होत त्रिभंग।
मुकुतमाल उर नीलसिखर तें धँसि धरनी ज्यों गंग॥
और भेस को कहै बरनि सब अँग-अँग केसरि खौर।
देखत बनै, कहत रसना सो सूर बिलोकत और॥ 72 ॥

शब्दार्थ—लेख्यो = समझा। चारु = सुंदर। मनरंजन = प्रसन्न करने वाले। श्रवननि = कानों में। गंड = कनपटी। कपोलन = गाल। झाँई = छाया। मुकुर = दर्पण। विकट = वक्र, टेढ़ी। त्रिभंग = श्रीकृष्ण की एक मुद्रा जिसमें वे तीन जगह से टेढ़े कहे गये हैं। नीलसिखर = नीली चोटी। मुकुतमाल = मोती की माला। धँसि = घुसकर। धरनी = पृथ्वी। खौर = तिलक, छाप। कहत रसना सो . . . . . और = उसे जिह्वा कहती है जो देखती नहीं, देखता और कोई है (यहाँ और कोई से अभिप्राय नेत्रों से है)। वर = श्रेष्ठ।

सन्दर्भ—इसमें गोपियों ने उद्धव को यह बताया कि इन नेत्रों से हमने श्रीकृष्ण की जिस रूप माधुरी का रसास्वादन किया उससे हमारा सांसारिक जीवन सचमुच सफल हो गया। यह सूर के सौन्दर्य-बोध का एक उत्कृष्ट नमूना है।

व्याख्या—गोपियों ने श्रीकृष्ण के जिस सौन्दर्य को इन नेत्रों से देखा था—उसका वर्णन करती हुई उद्धव से कह रही हैं हे उद्धव, इन नेत्रों से हमने श्रीकृष्ण का जो वह अद्‌भुत रूप (सौन्दर्य) देखा उससे हमने अपने सांसारिक जीवन को सचमुच सफल (सार्थक) समझा। कहने का तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्ण के उस अलौकिक सौन्दर्य को देख लेने पर हमें यह लगा कि यह सांसारिक जीवन सफल हो गया। श्रीकृष्ण के सुंदर नेत्र चंचल खंजन पक्षी की भाँति थे जो हमारे हृदय के लिए आनन्ददायक थे, उनसे हमारा हृदय हर्षातिरेक से भर जाता था। उन नेत्रों के अनुपम सौन्दर्य की चर्चा करती हुई गोपियाँ पुनः कहती हैं—वे नेत्र सुंदर कमल-मृग और मीन की भाँति मनोहर प्रतीत होते थे, क्योंकि नेत्रों के तीन रंगों श्वेत, रक्त और श्याम से यह स्पष्ट आभासित होता था कि वे सचमुच कमल (नेत्रों की लालिमा से अभिप्राय है), मृग (नेत्रों की कालिमा से प्रयोजन है) और मीन (नेत्रों की श्वेतता से अभिप्राय है) जैसे हैं। उनके दोनों श्रेष्ठ कानों में रत्न-जटित कुंडल शोभित थे जिनकी छाया उनकी कनपटी और कपोल (गाल) प्रदेश पर पड़ रही थी उसे देखकर ऐसा लगता था मानो सूर्य (कुंडल से अभिप्राय है) अपनी जिस सौन्दर्य छाया को ढूँढ़ रहा था वह उसे कपोल रूप दर्पण में मिल गयी (कपोलों की उपमा दर्पण से दी जाती है)। वे ओष्ठों पर मुरली रखकर टेढ़ी भौंहें किए हुए त्रिभंगी मुद्रा में खड़े होते थे (कहने का आशय यह है कि वे वंशीवादन के समय अपनी भौंहें टेढ़ी कर लेते थे और त्रिभंगी मुद्रा में शोभित होते थे)। उनकी छाती पर मोतियों की माला इस प्रकार शोभा दे रही थी मानो पर्वत की नीली चोटी (श्रीकृष्ण के उर स्थल से अभिप्राय है) से गंगा की धारा (मुक्तामाल से प्रयोजन है) निकल कर धरणी पर गिरते ही धँस गयी (घुस गयी) हो। श्रीकृष्ण के अन्य वेश का वर्णन हम कैसे करें ? उनके प्रत्येक अंग में केशर की छाप शोभित थी, ऐसे अंगों को देखते ही बनता था, उनका वर्णन करना असंभव था, क्योंकि जिह्वा तो कहती है जो देखती नहीं देखता और कोई है (यहाँ और कोई से अभिप्राय नेत्रों से है)।

टिप्पणी—

(1) इसमें श्रीकृष्ण की रूप-माधुरी के अन्तर्गत सूर का सौन्दर्य-बोध व्यक्त हुआ है।

(2) चौथी पंक्ति में क्रम भंग दोष है, क्योंकि इसमें कमल का उल्लेख पहले किया गया और मृग का कमल के पश्चात् और अन्त में मछली का। नेत्रों के रंग के अनुसार मीन (श्वेतरंग), कमल (रक्तवर्ण) और मृग (श्याम या काला वर्ण) होना चाहिए। इसी भाव का एक दोहा रसलीन ने भी लिखा है—

अमिय हलाहल मद भरे स्वेत, स्याम, रतनार।
जियत, मरत, झुकि-झुकि परत जेहि चितवत एक बार॥

(3) छठीं पंक्ति में हेतूत्प्रेक्षा अलंकार, आठवीं में उपमा, नवीं में संबंधातिशयोक्ति और दसवीं पंक्ति में काव्यलिंग अलंकार है।

(4) इसमें अलंकार से अलंकार की ध्वनि है।

(5) अंतिम पंक्ति का भाव तुलसी आदि कई कवियों में मिला है, यथा 'गिरा अनैन नैन बिनु बानी', 'नैननि के नहि बैन बैन के नैन नहीं जिमि'।

राग नट

नयनन नंदनंदन ध्यान।
तहाँ लै उपदेश दीजै जहाँ निरगुन ज्ञान॥
पानिपल्लव-रेख गनि गुन-अवधि विधि-बंधान।
इते पर कहि कटुक बचनन हनत जैसे प्रान॥
भृकुटि कोटि कुदंड रुचि अवलोकनी संधान।
चंद कोटि प्रकास मुख, अवतंस कोटिक भान।
कोटि मन्मथ वारि छबि पर, निरखि दीजित दान॥
कोटि वारिज बंक नयन कटाच्छ कोटिक बान॥
कंबु ग्रीवा रतनहार उदार उर मनि जान।
आजानुबाहु उदार अति कर पद्म सुधानिधान॥
स्याम तन पटपीत की छवि करै कौन बखान ?
मनहु निर्तत नील घन में तड़ित अति दुतिमान॥
रासरसिक गोपाल मिलि मधु अधर करती पान।
सूर ऐसे रूप बिनु कोउ कहा रच्छक आन ?॥ 73 ॥

शब्दार्थ—पानि-पल्लव = पत्ते के समान कोमल हथेली। रेख = हथेली की रेखाएँ। गनि = समझाकर। गुन अवधि = गुणों की सीमा (अत्यंत गुणयुक्त)। बिधि बंधान = ब्रह्मा की रचना। इते पर = इस पर। हनत = चोट करते हैं, मारते हैं। अवतंस = भूषण (कानों के कुंडल)। भान = भानु (सूर्य)। कोटि मन्मथ = करोड़ों कामदेव। वारि = निछावर कर दो। कुदण्ड = कोदण्ड, धनुष। रुचि = सुन्दर। अवलोकनी = चितवन। संधान = धनुष खींचना। वारिज = कमल। कंबुग्रीवा = शंख जैसी गर्दन। उदार = विशाल। मनि = मणि (कौस्तुभ मणि से अभिप्राय है)। आजानुबाहु = घुटने तक लम्बी भुजा। उदार = सुंदर। सुधा निधान

= अमृत का भण्डार। निर्तत = नृत्य करती है, चमकती है। तड़ित = बिजली। दुतिमान = चमकती हुई। मधु अधर = अमृत सदृश ओष्ठ। आन = अन्य, दूसरा।

संदर्भ—इसमें गोपियों ने श्रीकृष्ण के नखशिख सौन्दर्य का वर्णन किया है। उद्धव के निराकार ब्रह्म की तुलना में श्रीकृष्ण का अनिर्वचनीय लावण्य कितना मोहक और आकर्षक है, इसे गोपियों ने पूर्णतया सिद्ध कर दिया।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, हमारे ये नेत्र श्रीकृष्ण का ही ध्यान करते रहते हैं (इन नेत्रों में श्रीकृष्ण की शोभा के अतिरिक्त अन्य कोई रूप धँसता ही नहीं)। अतः तुम अपने इस निर्गुण ज्ञान का उपदेश वहाँ दो, जहाँ ऐसे ज्ञान के मर्मी रहते हैं—यहाँ तो तुम्हारा यह निर्गुण ज्ञान कोई जानता भी नहीं। किन्तु हम सब तो ब्रह्मा द्वारा निर्मित अपने पत्ते के समान कोमल हथेली की भाग्य रेखाओं को जानकर प्रसन्न हैं कि गुणशाली श्रीकृष्ण से हमसे संयोग हुआ। इधर तो हम सब अपनी वियोग-व्यथा से स्वयं पीड़ित हैं, इस पर आप अपनी कठोर और कड़वी वाणी से हमारे प्राणों को मार रहे हैं (उन्हें असह्य पीड़ा दे रहे हैं)। हमारे श्रीकृष्ण की रूप माधुरी इस प्रकार है—उनके मुखमण्डल का प्रकाश करोड़ों चन्द्रमा के समान है और कानों में शोभित कुंडल की दीप्ति करोड़ों सूर्य के सदृश है। उनकी शोभा पर तो करोड़ों कामदेव को निछावर कर दो (क्योंकि वे करोड़ों कामदेव से बढ़कर हैं)। हम सब तो उन्हें देखकर अपने आप को उन्हें दान दे देती हैं (उन्हें अपने आपको समर्पित कर देती हैं)। उनकी भौंहें करोड़ों धनुष के समान हैं और सुंदर चितवन (देखना) ही उस धनुष को खींचना है। उनके बाँके नेत्र करोड़ों कमल के समान और कटाक्ष (चितवन) करोड़ों वाण के सदृश तीक्ष्ण है। उनकी शंख के समान गर्दन में रत्नों का हार शोभित होता रहता है और विशाल छाती में कौस्तुभमणि शोभित होती है। उनकी अतिशय सुन्दर भुजाएँ घुटने तक लम्बी हैं और उनके कमलवत् हाथ अमृत का भण्डार हैं (वे अपने इन हाथों से अपने भक्तों की रक्षा करते हैं और अमर बनाते हैं)। उनके श्याम शरीर पर शोभित पीताम्बर का कौन वर्णन कर सकता है, उसे देखकर ऐसा लगता है कि मानो नील बादलों में चमकती हुई बिजली नृत्य कर रही हो (यहाँ पीताम्बर की उपमा बिजली से दी गयी है)। हम सब तो रास-क्रीड़ा में रुचि लेने वाले रसिक श्रीकृष्ण से मिल कर उनके अधरामृत का पान किया करती हैं। भला ऐसे अनुपम सौन्दर्यशाली श्रीकृष्ण के बिना हमारी रक्षा कोई दूसरा कैसे कर सकता है (कहने का आशय यह है कि हम सबों को एक मात्र श्रीकृष्ण का ही सहारा है)।

टिप्पणी—

(1) श्रीकृष्ण के अलौकिक सौन्दर्य का नख-शिख वर्णन।

(2) निर्गुण ब्रह्म की नीरसता की तुलना में सगुण भगवान श्रीकृष्ण के रूपाकर्षण का उल्लेख।

(3) सूर के सौन्दर्य-बोध की एक झलक इसमें मिल जाती है।

(4) कवि की कल्पना और बिम्बात्मक विधान का एक रूप।

(5) 'पानि पल्लव' में वाचक समान धर्मलुप्तोपमा, 'चन्द्र कोटि . . . . . भान' में भी उपमा अलंकार है। कोटि मन्मथवारि में प्रतीप अलंकार, (सातवीं और आठवीं पंक्ति में साङ्गरूपक अलंकार है। कंबु-ग्रीव में वाचक समान धर्मलुप्तोपमा अलंकार है। 'कर पद्म' में रूपक है। बारहवीं पंक्ति में वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार है।

(6) अंतिम पंक्ति में श्रीकृष्ण के सौन्दर्य के साथ ही उनकी शक्ति का भी संकेत किया गया है।

राग जैतश्री

देन आए ऊधो मत नीको ॥
आवहु री ! सब सुनहु सयानी, लेहु न जस को टीको ॥
तजन कहत अंबर, आभूषन, गेह नेह सब ही को।
सीस जटा, सब अंग भस्म, अति सिखवत निर्गुण फीको ॥
मेरे जान यहै जुबतिन को देत फिरत दुख पी को।
तेहि सर-पंजर भए श्याम तन अब न गहत डर जी को ॥
जाकी प्रकृति परी प्रानन सो, सोच न पोच भली को।
जैसे सूर व्याल डसि भाजत का मुख परत अमी को ? ॥ 74 ॥

शब्दार्थ—जस को टीको = यशस्वी बनना। अंबर = वस्त्र। गेह = घर। नेह सबही को = सभी का प्रेम। सर-पंजर = बाणों का घेरा या समूह। स्यामतन = काला शरीर। न गहत डर = डरता नहीं। प्रानन सों = प्राण ग्रहण करने के साथ ही (जन्मजात)। पोच = बुरा। व्याल = सर्प। का मुख परत अमी को = क्या उसके मुख में अमृत पड़ जाता है ?

सन्दर्भ—इसमें गोपियों ने व्यंग्यगर्भित शैली में उद्धव की क्रूर प्रकृति का निरूपण किया है। वे निर्गुणोपासना के उपदेश रूपी बाणों से सब को बेधना चाहते हैं।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव की क्रूर प्रकृति और उनकी अविवेकशीलता का उल्लेख करती हुई परस्पर कह रही हैं—हे सखियो, उद्धव जी यहाँ हम सबको अपना बहुत अच्छा विचार (सिद्धान्त) देने आए हैं, अब तुम सब ऐसे शुभ अवसर को गँवाओ नहीं आ जाओ और हे चतुर सखियो अब अच्छा होगा कि इनसे (इनके उपदेशों को सुनकर) यश का टीका ले लो (आशय यह है कि इनकी बातों को ग्रहण करने में तुम सब संसार में यशस्विनी के रूप में परिगणित होगी। व्यंग्यार्थ यह है कि इसके फेर में मत पड़ना, अन्यथा संसार में तुम सबों को कलंकिनी बनना पड़ेगा। ये महाशय हमें अपने मार्ग में लगाना चाहते हैं और आभूषण, वस्त्र, गृह और सबों के प्रेम को छोड़ देने की बात पर बराबर जोर दे रहे हैं अर्थात् ये पूरी तरह से हमें बीतराग बनाना चाहते हैं। यही नहीं, योगिनी के रूप में ये हमें सीस पर जटा रखने और अंगों में राख लगाने के लिए कह रहे हैं और शुष्क एवं नीरस निर्गुण ब्रह्म का हमें ज्ञान सिखाते फिरते हैं। हमारी समझ में यही ऐसा व्यक्ति है जो हम जैसी भोली-भाली युवतियों को प्रियतम के वियोग का दुख देता फिरता है अर्थात् इसके अतिरिक्त ऐसा निष्ु ‾ प्राणी इस ब्रज में अभी तक नहीं देखा गया। यद्यपि ऐसे उपदेश के काले बाणों से इसका सारा शरीर काला हो गया है। यह अपने उपदेश के बाणों से दूसरों को विद्ध करता रहता है और इसका सारा शरीर इन बाणों (उपदेशों) से घिरा रहता है (आपूरित है)। इसी से यह डरता नहीं। कहा गया है कि बाणों की भाँति यह काला हो गया है लेकिन अपने काले उपदेश से इसका काला हो जाना स्वाभाविक है, फिर भी यह अपनी शरारत से बाज नहीं आता। अरी सखी, जिसका स्वभाव प्राण ग्रहण करने के साथ ही बन जाता है अर्थात् जिसका जन्मजात स्वभाव होता है उसे अच्छे और बुरे की चिन्ता नहीं होती (इस दृष्टि से यह अत्यंत ढीठ और निर्लज्ज है)। जिस प्रकार सर्प जब किसी को काट

कर भागता है तो क्या उसके मुख में अमृत की बूँद पड़ जाती है—काटने से क्या वह अमर हो जाता है—किन्तु काटना उसका जन्मजात स्वभाव है—उद्धव की भी यही जन्मजात प्रकृति बन गयी है, वह बदल नहीं सकती।

टिप्पणी—

(1) प्रथम एवं द्वितीय पंक्ति में विपरीत लक्षणा का प्रयोग हुआ है, यहाँ वाच्यार्थ का अत्यंत तिरस्कार हुआ है।

(2) छठीं में हेतूत्प्रेक्षा अलंकार की झलक है—भ्रमर स्वभावतया श्याम होता है, लेकिन बाणों के घेरों के प्रभाव से श्याम होने में अहेतु में हेतु की संभावना की गयी है।

(3) अन्तिम पंक्ति में दृष्टान्त की झलक है।

(4) 'लेहु न जस को टीको' में सुन्दर मुहावरे का प्रयोग हुआ है।

राग सारंग

प्रीति करि दीन्हीं गरे छुरी।
जैसे बधिक चुगाय कपटकन पाछे करत बुरी॥
मुरली मधुर चोंप करि काँपो मोरचंद्र ठटबारी।
बंक बिलोकनि लूक लागि बस सकी न तनहिं सम्हारी॥
तलफत छाँड़ि चले मधुबन को फिरि कै लई न सार।
सूरदास वा कलप-तरोवर फेरि न बैठी डार॥ 75॥

शब्दार्थ—दीन्हीं गरे छुरी = गले में छूरी दी—गले को छूरी से काट डाला (दुर्व्यवहार करना)। कपट-कन = कपट का दाना। पाछे = बाद में। चोंप = लासा जिससे चिड़िया फँसाई जाती है। करि काँपो = हाथ को कम्पा, बाँस की पतली तीलियाँ बनाया जिसमें लासा लगा कर बहेलिया चिड़िया फँसाता है। ठटबारी = टटिया। लूक = आग। मधुबन = मथुरा। फिरि कै = पलट कर। सार = खोज-खबर। कलप तरोवर = कल्पवृक्ष।

सन्दर्भ—इसमें गोपियाँ श्रीकृष्ण के कपटपूर्ण व्यवहार का उल्लेख उद्धव से कर रही हैं और उलाहना दे रही हैं कि प्रेम के क्षेत्र में उन्होंने हमारे साथ धोखा किया। यहाँ श्रीकृष्ण को बहेलिया और गोपियों को चिड़िया के रूप में अभिहित किया गया है।

व्याख्या—(उद्धव से गोपियाँ श्रीकृष्ण की निष्ठुरता के प्रति कह रही हैं—हे उद्धव, श्रीकृष्ण ने प्रेम करने के बाद हमारे गले में छूरी फेर दी (हमारे साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया)। उन्होंने तो यह किया कि जैसे बहेलिया पहले तो कपट का अन्न खिलाता है—धोखा देकर उन्हें अन्न के कण खाने के लिए डाल देता है और जब वे अन्न कण के खाने में लग जाती हैं तो उन्हें पकड़ लेता है और उनके साथ बुरा व्यवहार करता है—उन्हें धीरे-धीरे मार डालता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण ने पहले तो अपने प्रेम-जाल में हमें फँसाया अब वियोग की पीड़ा में हमें मार रहे हैं। उन्होंने अपनी मुरली की मधुर ध्वनि रूपी लासा को अपने हाथ रूपी बाँस में लगाकर कम्पा (छोटी-छोटी तीलियाँ) बनाया और मोर पंख रूपी टटिया के पीछे छिप कर गोपियों रूपी चिड़ियों को फँसा लिया (उन्हें पकड़ लिया) और अपनी तिरछी चितवन रूपी आग की लपटों में डाल दिया (चिड़ीमार चिड़ियों को भूनने के लिए आग में डाल देता है) उन लपटों के वशीभूत हम

सब अपने शरीर को सम्हाल न सकीं। तात्पर्य यह है कि पहले तो उन्होंने प्रेम किया और जब हम सब उनके प्रेम-जाल में फँस गयीं तो उन्होंने बंक चितवन की आग में डाल कर कष्ट दिया। इस प्रकार चितवन की आग में तड़फती हुई हमें छोड़कर वे मथुरा चले गये और उलट कर हम सबों की खोज-खबर नहीं ली। सूरदास के शब्दों में गोपियाँ कह रही हैं कि पुनः उस कृष्ण रूपी कल्पवृक्ष की डाल पर बैठ न सकीं (आशय यह है कि जब श्रीकृष्ण के साथ हम सब रहती थीं तो उनसे हमारी समस्त कामनाएँ कल्पवृक्ष की भाँति पूरी होती रहीं।

टिप्पणी—

(1) समस्त पद में सांगरूपक अलंकार की प्रधानता है।
(2) इसमें चिड़ीमार के सन्दर्भ में जिन शब्दावलियों का प्रयोग सूर ने किया है उनसे उनके ग्राम्य जीवन विषयक व्यापक अनुभव का आभास मिलता है।
(3) अन्तिम पंक्ति में गोपियों की निराशा और दैन्यभाव की अभिव्यक्ति हुई है।
(4) प्रथम पंक्ति में प्रयुक्त 'दीन्हीं गरे छुरी' में रूढ़ि लक्षणा का प्रयोग हुआ है—इसका आशय असह्य पीड़ा से है।
(5) उपालम्भ काव्य की दृष्टि से यह निश्चय ही एक महत्वपूर्ण रचना है।

राग धनाश्री

कोउ ब्रज बाँचत नाहिंन पाती।
कत लिखि लिखि पठवत नँदनंदन कठिन बिरह की काती॥
नयन, सजल, कागद अति कोमल, कर अंगुरी अति ताती।
परसत जरै, बिलोकत भीजै दुहूँ भाँति दुख छाती॥
क्यों समुझैं ये अंक सूर सुनु कठिन मदन-सर-घाती।
देखे जियहिं स्यामसुंदर के रहहिं चरन दिन-राती॥ 76॥

शब्दार्थ—बाँचत = पढ़ता है। कत = क्यों, किसलिए। काती = छूरी। सजल = अश्रु पूरित। कागद = काग़ज़। अतिताती = अत्यंत गर्म है। परसत = छूने से। अंक = अक्षर। क्यों समुझै = कैसे समझ में आएँ। कठिन = कठोर। मदन सरघाती = कामदेव के कठोर घातक बाण के समान। पाती = पत्री, चिट्ठी।

सन्दर्भ—श्रीकृष्ण की भेजी हुई पत्री को गोपियाँ पढ़ नहीं पातीं। कोई अन्य भी इसे पढ़ने में समर्थ नहीं है। अतः व्याकुलमन—गोपियाँ श्रीकृष्ण को उलाहना देकर कहती हैं कि ऐसी चिट्ठी वे क्यों लिख कर भेजते हैं। इसमें चिट्ठी को उद्दीपन विभाव के रूप में चित्रित किया गया है।

व्याख्या—कोई गोपी श्रीकृष्ण के द्वारा भेजी हुई चिट्ठी के सम्बन्ध में कह रही है—हे सखी, इस ब्रज मण्डल में कोई भी श्रीकृष्ण की चिट्ठी नहीं पढ़ता (जो इसे पढ़ता है उसे श्रीकृष्ण की स्मृति-जनित पीड़ा होती है और उसकी मनोदशा ऐसी हो जाती है कि वह चाहते हुए भी इस पत्र को बाँच नहीं पाता)। अरी सखी, विरह में चुभने वाली कठोर छूरी के समान ऐसी पत्री श्रीकृष्ण क्यों लिख-लिखकर भेजा करते हैं ? गोपियों के कहने का आशय यह है कि वियोग में उनकी पत्री हृदय में उसी प्रकार चोट पहुँचाती है जैसे छूरी। इस पत्री को न पढ़ने की विवशता

से और कष्ट होता है, वह यह कि वियोग में हमारे नेत्र तो सदैव अश्रु से भरे रहते हैं, और इस पत्री का कागज अत्यंत कोमल है तथा हाथ की उँगलियाँ अतिशय गर्म रहती हैं (वियोग की आग से जलती रहती हैं) अतः यदि इसे स्पर्श करती हैं तो यह जलने लगती है—क्योंकि कागज कोमल है और नेत्रों से यदि पढ़ने का प्रयास करती हैं तो आँसुओं के गिरने से अक्षर परस्पर मिल जाते हैं (सभी अक्षर अस्पष्ट हो जाते हैं) इस तरह हमारी छाती में दोनों प्रकार से कष्ट होता है (न पढ़ने का और अक्षरों के नष्ट हो जाने का)। सूर के शब्दों में विरहिणी गोपी अपनी सखी को सम्बोधित करती हुई कह रही है कि अरी सखी, ये अक्षर कैसे समझ में आएँ, ये तो वास्तव में कामदेव के तीक्ष्ण कठोर बाणों की भाँति घातक हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि जब इन अक्षरों को समझने का प्रयास करती हूँ तो श्रीकृष्ण की याद आ जाने से कामोद्दीपन होने लगता है (इस दृष्टि से ये अक्षर नहीं हैं काम की पीड़ा से हृदय को संतप्त कर देने वाले तीखे बाण हैं) अब तो श्यामसुंदर को देखकर और उनके चरणों में रहकर ही जीवित रह सकती हूँ। तात्पर्य यह है कि अब हमें एक मात्र सहारा उनके चरणों का ही है।

टिप्पणी—

(1) यह पत्री नहीं है, विरह की कठोर छूरी है में अपह्नुति अलंकार है।

(2) चौथी पंक्ति में अक्रमत्व दोष है, क्योंकि पहले 'बिलोकत भीजे' का और फिर 'परसत रै' क्रिया का प्रयोग करना चाहिए था।

(3) पाँचवी पंक्ति में अपह्नुति अलंकार है (ये अक्षर नहीं हैं, घातक कामदेव के तीक्ष्ण एवं कठोर बाण हैं)। 'लिखि-लिखि' में पुनरुक्ति प्रकाश है।

(4) अंतिम पंक्ति में दैन्य संचारी भाव, तृतीय में अश्रु संचारी भाव और चतुर्थ में विषाद संचारी भाव की प्रधानता है।

(5) सूर के इस पद का भाव जगन्नाथ दास रत्नाकर के इस छन्द में भी देखने को मिला है।

सूखि जाति स्याही लेखिनी कैं नैंकु डंक लागैं,
अंक लागैं कागद बररि बरि जात है।

(6) 'परसत जरै ....ताती' में अतिशयोक्ति अलंकार और ऊहात्मक प्रवृत्तियों का संकेत।

राग जैतश्री

मुकुति आनि मंदे में मेली।
समुझि सगुन लै चले न, ऊधो ! ये सब तुम्हरे पूँजि अकेली॥
कै लै जाहु अनत ही बेचन, कै लै जाहु जहाँ विष-बेली।
याहि लागि को मरै हमारे बृंदाबन पायँन तर पेली॥
सीस धरे घर-घर कत डोलत, एकमते सब भई सहेली।
सूर वहाँ गिरधरन छबीलो जिनकी भुजा अंस गहि मेली॥ 77 ॥

शब्दार्थ—मुकुति = मुक्ति, मोक्ष। आनि = ले आकर। मंदे में = मंद या सस्ता बाजार में। मेली = उतारी। समुझि सगुन = शकुन विचार करके। ये सब = योग, जप, व्रत आदि।

अनत = अन्यत्र। कै = अथवा। विष बेली = कुब्जा से अभिप्राय है। याहि लागि = इसके लिए। हमारे = हमारे यहाँ (इस ब्रजमंडल में) पायँन तर पेली = पैरों के नीचे कुचल दिया (तिरस्कार कर दिया)। एकमते = एक ही विचार की। अंस = कंधा। मेली = डाली, रखी।

सन्दर्भ—इस पद में गोपियों ने उद्धव के मोक्ष सिद्धान्त का उपहास किया है। वे श्रीकृष्ण प्रेम के समक्ष योगियों की मुक्ति को नगण्य और तुच्छ समझती हैं। व्यंग्यगर्भित शैली का यह एक उत्कृष्ट नमूना है।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, तुमने तो अपनी मुक्ति का यह सौदा मंदे बाजार में उतारा। आशय यह है कि जब बाजार के भाव में गिरावट आ गयी तो ऐसी दशा में तुम्हारे मुक्ति रूपी सौदा का अधिक मूल्य यहाँ नहीं लगेगा। लगता है, तुम शकुन विचार कर इसे लेकर नहीं चले (इसे बेचने के लिए शुभ घड़ी में नहीं निकले) और यही तुम्हारे पास एकमात्र पूँजी है अर्थात् योग, जप, व्रत आदि की बातें ही तो तुम्हारे पास हैं इनके अतिरिक्त तुम्हारे पास कुछ है भी नहीं। कहीं इस सस्ते बाजार में यह माल न बिका तो तुम्हारा बहुत बड़ा घाटा हो जायगा। अधिक पूँजी भी नहीं है कि दुबारा अपना यह व्यापार चला सको। अतः हम सब की राय यह है कि या तो तुम यहाँ से दूसरी जगह ले जाकर बेचो अथवा वहाँ ले जाओ जहाँ विष की लता कुब्जा निवास करती है—वह इसे अवश्य खरीद लेगी, क्योंकि तुम्हारी मुक्ति का मार्ग वह भली भाँति जानती है और उससे तुम्हें अच्छी रकम मिल जाएगी। इस मुक्ति के लिए हमारे यहाँ कौन मरे (कौन परेशान हो)। इसे तो हम वृन्दाबन में श्रीकृष्ण के साथ केलि करते समय पैरों के नीचे डाल देती थी (इसे पैरों से कुचल देती थी) आशय यह है कि श्रीकृष्ण के साथ वृन्दावन में रासलीलादि करते समय जो सुख मिलता था उसकी तुलना में हम सब मुक्ति को तिरस्कृत कर देती थीं—मुक्ति में वैसे सुख का अनुभव नहीं करती थीं। अब तुम व्यर्थ में क्यों इसे सिर पर लादे घर-घर बेंच रहे हो ? स्मरण रखो कि यहाँ इसे पूछने वाला कोई नहीं है, क्योंकि हमारी सभी सहेलियाँ एक ही विचार की हैं, इनमें कोई भी इसे पसन्द नहीं करेगा। सूर के शब्दों में गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे उद्धव, हमारे गिरिधारी, वहाँ (मथुरा में) अवश्य चले गये हैं, लेकिन एक ऐसा भी समय था जब वे ब्रजमण्डल में बसते थे तो हम सब प्यार में अपने कंधे पर उनकी भुजाएँ रख कर (गलबाहीं डाल कर) खूब क्रीड़ा करती थीं (व्यंजना यह है कि उस आनन्द के समक्ष तुम्हारी मुक्ति क्या है ?)

टिप्पणी—

(1) इसमें सांगरूपक अलंकार है। मुक्ति में सौदा का आरोप किया गया है और इसी के आधार पर उद्धव को व्यापारी बना कर साङ्गरूपक खड़ा किया गया है।

(2) समस्त पंक्तियों में व्यंजना का चमत्कार दृष्टव्य है।

(3) 'विष बेली' कुब्जा के लिए प्रयुक्त है, इसमें रूपकातिशयोक्ति अलंकार और शुद्धा साध्यवसाना लक्षणा की प्रधानता है। असूया संचारी भाव भी है।

(4) चौथी पंक्ति में लक्षणा का प्रयोग हुआ है। इसके अतिरिक्त इसमें मुहावरे गर्भित भाषा का भी चमत्कार है।

(5) अन्तिम पंक्ति में स्मृति संचारी भाव है।

राग कान्हरो

हम, अलि, गोकुलनाथ अराध्यो।
मन बच क्रम हरि सों धरि पतिब्रत प्रेमयोग-तप साध्यो ॥
मातु-पिता हित-प्रीति निगम-पथ तजि दुख-सुख भ्रम नाख्यो।
मानपमान परम परितोषी अस्थिर थित मन राख्यो ॥
सकुचासन, कुलसील परस करि, जगतबंद्य करि बंदन।
मानअपवाद पवन-अवरोधन हित-क्रम काम-निकंदन ॥
गुरुजन-कानि अगिनि चहुँदिसि, नभ-तरनि-ताप बिनु देखे।
पिवत धूम-उपहास जहाँ तहँ, अपजस श्रवन-अलेखे ॥
सहज समाधि बिसारि बपु करी, निरखि निमेख न लागत।
परम ज्योति प्रति अंग-माधुरी धरत यहै निसि जागत ॥
त्रिकुटी सँग भ्रूभंग, तराटक नैन नैन लगि लागे।
हँसन प्रकास, सुमुख कुंडल मिलि चंद्र सूर अनुरागे ॥
मुरली अधर श्रवन धुनि सो सुनि अनहद शब्द प्रमाने।
बरसत रस रुचि-बचन-संग, सुखपद-आनंद-समाने ॥
मंत्र दियो मनजात भजन लगि, ज्ञान ध्यान हरि ही को।
सूर, कहौं गुरु कौन करै, अलि, कौन सुने मत फीको ॥ 78 ॥

शब्दार्थ—अराध्यो = आराधना की, उपासना की। क्रम = कर्म। बच = वाणी। हित = हितैषी, हितुआ। निगम-पथ = वेद-मार्ग। नाख्यो = पार कर लिया, लांघा, दूर किया। परितोषी = संतुष्ट। अस्थिर = चंचल। थित राख्यो = स्थिर कर रखा। सकुचासन = संकोच ही आसन है। कुलसील परसि कर = कुल की शील को स्पर्श करके (त्याग करके)। जगतबंद्य = श्रीकृष्ण। मानअपवाद = मान (सम्मान) और अपवाद (निंदा)। पवन-अवरोधन = हवा को रोकना (प्राणायाम)। हित-क्रम = प्रेम का कर्म, साधना या योग। नभ तरनि-ताप = आकाश स्थित सूर्य का ताप। पिवत-धूम = धूम पान करना। गुरुजन-कानि = गुरुजनों की मर्यादा या लज्जा। अलेखे = सुनी अनसुनी कर दिया। बिसारि बपु = शरीर को भुलाकर। निमेख न लागत = पलकें नहीं गिरतीं। काम-निकंदन = काम को नष्ट करना, काम पर विजयी होना। परमजोति = ब्रह्म ज्योति। त्रिकुटी = दोनों भौहों के बीच का स्थान, त्रिकुट चक्र। तराटक = त्राटक (योग के छः कर्मों में से एक)।—अनिमेष रूप में किसी बिंदु पर दृष्टि गड़ाने का अभ्यास। हँसनि प्रकास = श्रीकृष्ण की मुस्कराहट ही प्रकाश है। सुमुख कुंडल = श्रीकृष्ण का सुंदर चंद्रमुख और सूर्य के सदृश कुंडल। चन्द्र सूर अनुरागे = चन्द्रमा और सूर्य के प्रकाश में अनुरक्त हुआ (योगी-इड़ा पिंगला और सुषुम्ना नाड़ियों के मूल प्रदेश में क्रमशः चन्द्रमा, सूर्य और अग्नि का क्रमशः प्रकाश मानते हैं)। अनहद = अनाहत शब्द । प्रमाने = समान। समाने = ब्रह्मानन्द में समा जाने की अवस्था। बरसत रस = आनन्द की वृष्टि हो रही है। बचन संग = उनकी वाणी के साथ ही (मधुर वाणी बोलते समय)। सुख-पद = श्रीकृष्ण के आनन्दस्वरूप चरण। मनजात = कामदेव।

संदर्भ—उद्धव ने बार-बार गोपियों के समक्ष ब्रह्म-दर्शन के लिए जिस योग-साधना पर बल दिया उसे सुनकर गोपियों ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि वे योग-साधना की भाँति प्रेम-साधना

और प्रेम-योग में निरत हैं, उन्हें इन्हीं से अवकाश नहीं मिलता अत: उद्धव के ब्रह्म की उपासना वे कब करें। प्रेम-साधना का तत्कालीन योगियों के लिए यह करारा जवाब था।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, अब तो हमने श्रीकृष्ण की आराधना आरम्भ कर दी है और मनसा, वाचा और कर्मणा श्रीकृष्ण से पातिव्रत धर्म का पालन करती हुई प्रेम-योग और तप को साध लिया है। योगियों की भाँति हमने माता, पिता और हितैषियों के प्रेम और वेद-मार्ग की मर्यादाओं को त्यागकर सुख और दुख के भ्रम को पार कर गयीं (सुख और दुख से दूर हो गयीं)। कहने का तात्पर्य यह है कि योगियों की भाँति सुख और दुख के बन्धन से सर्वथा मुक्त हो गयी हैं। हमने इस साधना द्वारा अपने चंचलमन को स्थिर कर लिया है और इस कारण मान और अपमान दोनों ही से संतुष्ट हैं। हमने संकोच रूपी आसन पर बैठकर कुल के शील को परित्यक्त कर दिया और इस प्रकार जगत वंद्य भगवान श्रीकृष्ण की वन्दना में निरत हो गयीं। आशय यह है कि श्रीकृष्णोपासना के लिए हमने संकोच (लज्जा) और कुल की मर्यादा का ध्यान नहीं दिया। सांसारिक मान और निंदा ही हमारे लिए योगियों का प्राणायाम है अर्थात् सांसारिक मान और निन्दा का हमारे ऊपर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता (दोनों ही समतुल्य हैं) ऐसे भावों का निरोध कर रखा। प्रेम-कर्म (प्रेम-साधना) ही हमारे लिए काम-वासनाओं को नष्ट करना है। श्रीकृष्ण की प्रेम-साधना में हमें काम-वासनाएँ स्पर्श तक नहीं कर पातीं। हमारे लिए गुरुजनों की लज्जा ही योगियों की पंचाग्नि है अर्थात् जैसे योगी पंचाग्नि में तप-साधना करके अपने शरीर को कष्ट देते हैं उसी प्रकार हम भी अपने चारों ओर गुरुजनों की मर्यादा और लज्जा की आग में जलती रहती हैं (कष्ट के साथ उनकी मर्यादा का भी पालन करती हैं) और जिस प्रकार योगी पाँचवीं अग्नि (सूर्य ताप) में तपता है, उसी प्रकार हम सब भी आकाश स्थित सूर्य को देखे बिना ही वियोगाग्नि के सूर्य-ताप में संतप्त होती रहती हैं। हम सब निरन्तर यत्र तत्र होने वाले जग-उपहास और निन्दा का धूम्र-पान उसी प्रकार करती हैं जैसे योगी पंचाग्नि के धुएँ को पान करता है। आशय यह है कि श्रीकृष्ण की प्रेम-साधना में जग के उपहास और निन्दा का प्रभाव हम सब पर नहीं पड़ता। हम सब संसार के अपयश को सुनी-अनसुनी कर देती हैं अर्थात् जिस प्रकार योगी अपनी चित्तवृत्तियों को संसार से हटा कर अन्तर्मुखी कर लेता है और उसके कानों में सांसारिक शब्द सुनाई नहीं पड़ते उसी प्रकार श्रीकृष्ण प्रेम में तन्मय हमारे मन को सांसारिक अपयश का कुछ भी भान नहीं होता। योगियों की भाँति हमने अपने शरीर को भुलाकर (उसकी चिन्ता न करके) सहज समाधि में लीन हो गयी और श्रीकृष्ण के सौन्दर्य को देखते हुए हमारे नेत्रों की पलकें गिरती नहीं, वे निर्निमेष देख रहे हैं। और प्रेम में समाधिस्थ हो कर रात-रात भर जागती हुई हम सब ब्रह्म की परम ज्योति के सदृश श्रीकृष्ण के प्रत्येक अंग की रूप माधुरी को ग्रहण करती रहती हैं—आशय यह है कि योगियों की भाँति हमने मुक्तावस्था को सिद्ध कर लिया है—अब आपके योग के इन प्रपंचों की आवश्यकता को हम व्यर्थ समझती हैं। योगियों की भाँति हम सब भी श्रीकृष्ण के भ्रूभंग (भौंहों के संचालन-वक्र चितवन) के साथ ही त्रिकूट-चक्र में (दोनों भौंहों के बीच स्थान में) त्राटक मुद्रा के द्वारा ध्यान को केन्द्रित करके अपने नेत्रों को श्रीकृष्ण के नेत्रों में मिलाकर निर्निमेष देखा करती हैं (योगी जैसे त्राटक मुद्रा में अपने नेत्रों को वहीं गड़ा देता है, उसी प्रकार हमारे नेत्रों की भी यह दशा है कि वे निरन्तर श्रीकृष्ण की ओर देखा करते हैं। हम श्रीकृष्ण के सुन्दर चन्द्रमुख और सूर्यवत् प्रकाशमान कानों के कुण्डल तथा मंद मुस्कुराहट के प्रकाश का अनुभव उसी प्रकार करती हैं जैसे योगी इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ियों के मूल प्रदेश में स्थित क्रमशः चन्द्रमा, सूर्य और अग्नि प्रकाश का अनुभव

करते हैं। यह योग की साधना की उस अवस्था का बोधक है जिसमें वह इड़ा और पिंगला को नियंत्रित करके कुंडलिनी को जागृत करता है, और उसकी कुंडलिनी योग के छः चक्रों को पार करती हुई ब्रह्मरंध्र में पहुँचती है। साधक इसी अवस्था में परम ज्योति का दर्शन करता है। गोपियाँ भी श्रीकृष्ण की परम-ज्योति का अनुभव कर रही हैं—उन्हें वंशी की मधुर ध्वनि उसी प्रकार प्रतीत होती है, जैसे योगियों को अनाहत शब्द सुनाई पड़ता है। मुरली से निकलने वाली श्रीकृष्ण की मधुर वाणी के साथ ही आनन्द की वृष्टि उसी प्रकार होती है जैसे योगियों को अनाहत नाद के सुनते समय आनन्द की वृष्टि का अनुभव होता है। गोपियाँ श्रीकृष्ण के चरणों में तन्मय होकर जिस सुख को प्राप्त करती हैं, वह यहाँ योगियों की ब्रह्मानंद में लीन होने की अवस्था का बोधक है। योगी जैसे किसी गुरु से मंत्र लेते हैं, उसी प्रकार हमारे गुरु कामदेव ने हमें भजन का मंत्र देकर अपनी शिष्या बनाया है। अतः अब तो श्रीकृष्ण के ही ज्ञान और ध्यान में लगी रहती हैं। सूर के शब्दों में गोपियाँ उद्धव से पूछ रही हैं कि तुम्हीं बताओ कि अब अन्य किसको गुरु बनाएँ, क्योंकि गुरुमुख तो ले चुकी हैं और ऐसी दशा में तुम्हारे निर्गुण ब्रह्म के शुष्क ज्ञान की बातें कौन सुने (श्रीकृष्ण की प्रेम-साधना में जो रस मिला, वह यहाँ कहाँ ?)

टिप्पणी—

(1) समस्त पद में सांगरूपक अलंकार का प्रयोग किया गया है। प्रेम-योग में निर्गुणोपासकों की योग-साधना की समस्त बातों का आरोप किया गया है।

(2) यौगिक शब्दावली के प्रयोग के कारण रचना में काव्योचित सरसता का बहुत कुछ अभाव हो गया।

(3) कुछ टीकाकारों ने इसमें अप्रतीतत्व दोष माना है, हमारे विचार से अर्थ स्पष्ट है अप्रतीत का प्रश्न ही नहीं उठता।

(4) इसमें सूर की कलात्मक दृष्टि का बड़ा ही परिष्कृत रूप व्यक्त हुआ है।

(5) इसमें तत्कालीन योग-साधकों के लिए प्रेम-साधकों की जबर्दश्त चुनौती है।

राग सारंग

कहिबे जीय न कछु सक राखो।
लावा मेलि दए है तुमको बकत रहौ दिन आखो॥
जाकी बात कहौ तुम हमसौं सो धौं कहौ को काँधी।
तेरो कहो सो पवन भूस भयो, बहो जात ज्यों आँधी॥
कत श्रम करत, सुनत को ह्याँ है, होत जो बन को रोयो।
सूर इते पै समुझत नाहीं, निपट दई को खोयो॥ 79॥

शब्दार्थ—लावा मेलि दए है = तुम्हें किसी ने जादू करके पागल बना दिया है (मुहावरा)। आखो = पूरा, सारा (सं० अक्षय)। को कांधी = किसने स्वीकार किया है। पवन भूस भयो = हवा का भूसा हो गया (गायब हो गया)। बन को रोयो = अरण्यरोदन (मुहावरा) अर्थात् जिसको कोई सुनने वाला न हो। इतै पर = इतने पर भी। निपट = अतिशय। दई को खोयो = गया बीता (स्त्रियों की गाली)।

सन्दर्भ—उद्धव द्वारा बार-बार निर्गुण ब्रह्म की चर्चा करने पर गोपियाँ नाराज हो गयीं और

उन्हें ऐसा लगा कि किसी ने उद्धव को जादू कर दिया है, इसीलिए वे मना करने पर भी निर्गुण ब्रह्म की रट बारम्बार लगाए हुए हैं। इसमें गोपियों की झुँझलाहट का बहुत सरस वर्णन हुआ है।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, कहने के लिए अपने मन में कुछ शक मत रखो। तुम निस्संदेह जो कुछ भी कहना चाहते हो कह डालो। तुम्हारे इतने बोलने पर मुझे संदेह होता है कि तुम्हें किसी ने टोना कर दिया है और तुम सारा दिन पागलों की भाँति बकते रहते हो। यह तो बताओ कि तुम जिसकी बात (जिस निर्गुण ब्रह्म की चर्चा) हमसे कर रहे हो उसे किसने अंगीकार किया है। (सत्य तो यह है कि तुम्हारा यह निर्गुण ब्रह्म विषयक कथन हमें ऐसा लगा जैसे वह पवन का भूसा हो जो तेज आँधी में बह गया अर्थात् तुम्हारी बातें यहाँ उसी प्रकार गायब हो गयीं जैसे तेज आँधी में भूसा का पता नहीं लगता। तुम्हारी बातों का यहाँ कुछ भी प्रभाव नहीं है। तुम व्यर्थ ही श्रम कर रहे हों, तुम्हारी बातें यहाँ कौन सुनने वाला है। तुम्हारा यह कथन तो हमारी दृष्टि में अरण्यरोदन के समान है अर्थात् वह सर्वथा प्रभावहीन है। लेकिन तुम इतने पर भी हमारी बातों पर ध्यान नहीं देते, लगता है तुम सर्वथा गए बीते लोगों में हो (बहुत ही निर्लज्ज और नगण्य हो)।

टिप्पणी—

(1) अन्तिम पंक्ति में ब्रज का ठेठ मुहावरा प्रयुक्त हुआ है। इसके साथ ही इसमें अमर्ष संचारी भाव है, क्योंकि इसमें गोपियों का क्रोध व्यंजित हुआ है।
(2) 'पवन को भूस' और बन को रोयो में लोकोक्ति का चमत्कार द्रष्टव्य है।
(3) 'लावा मेलना' भी एक विशिष्ट मुहावरा है।
(4) 'सक' फारसी के शक शब्द का विकृत रूप है।

राग धनाश्री

अब नीके कै समुझि परी।
जिन लगि हुती बहुत उर आसा सोऊ बात निबरी॥
वै सुफलकसुत, ये सखि ! ऊधो मिली एक परिपाटी।
उन तो वह कीन्ही तब हमसों, ये रतन छँड़ाइ गहावत माटी॥
ऊपर मृदु भीतर तें कुलिस सम, देखत के अति भोरे।
जोड़-जोड़ आवत वा मथुरा तें एक डार के तोरे॥
यह सखि, मैं पहिले कहि राखी असित न अपने होहीं।
सूर कोटि जो माथो दीजै चलत आपनी गौंहीं॥ 80 ॥

शब्दार्थ—जिन लगि = जिनके लिए (जिनसे)। हुती = थी। निबरी = समाप्त हो गयी, छूट गयी। सुफलकसुत = अक्रूर। मिली-एक परिपाटी = एक ही रीति या परम्परा दोनों को मिली है—दोनों की रीतियों में फर्क नहीं है। गहावत = पकड़ाते हैं। कुलिस = वज्र के समान कठोर। भोरे = भोले-भाले। एक डार के तोरे = एक समान स्वभाव के। असित = काले। गौं = दाँव, घात।

सन्दर्भ—गोपियाँ अक्रूर से जितनी निराश हो चुकी थीं उतनी ही उद्धव के आने पर उनमें आशा बँधी थी। लेकिन उद्धव से भी गोपियों के प्रयोजन की सिद्धि न हो सकी और दोनों एक

ही साँचे में ढले हुए लगे। इनके सम्बन्ध में गोपियाँ परस्पर अपने हृदय की निराशा व्यक्त कर रही हैं।

व्याख्या—(सखी के प्रति गोपियों का कथन) हे सखी, अब अच्छी तरह समझ में आ गया कि जिनसे कुछ हृदय में आशा थी, वह बात भी समाप्त हो गयी (अब तो इनसे आशा की बात करना बेकार है) अक्रूर के जाने पर गोपियों को उद्धव से बहुत बड़ी आशा थी कि वे श्रीकृष्ण के दर्शन कराने में सहायक होंगे, लेकिन ये सब बातें निराशा में परिणत हो गयीं। वास्तव में, हे सखी, वे अक्रूर और ये उद्धव दोनों एक ही परम्परा के पोषक हैं—दोनों की रीतियों में कुछ भी फर्क नहीं है, वे तो (अक्रूर) उस समय हमारे श्रीकृष्ण और बलराम को छीन कर हमसे ले गये और ये (उद्धव जी) श्रीकृष्ण के प्रेम रूपी रत्न को हमसे छीन कर हमें मिट्टी (निर्गुण ब्रह्मोपासना) पकड़ा रहे हैं। कहने का आशय यह है कि ये सगुणोपासना की जगह हमें निर्गुण की उपासना का पाठ पढ़ा रहे हैं। ये ऊपर से तो बड़े ही सुशील और कोमल स्वभाव के प्रतीत होते हैं, लेकिन हृदय से वज्र के समान कठोर हैं (बड़े निर्दयी हैं) और लोगों के देखने में तो ऐसे लगते हैं, जैसे बड़े भोले-भाले हैं, कुछ जानते ही नहीं (व्यंजना यह है कि ये अतिशय कठोर और धूर्त हैं) हमें तो ऐसा लगता है कि मथुरा से जो भी आते हैं, सब एक ही पेड़ के तोड़े हुए फल के समान हैं ? (अर्थात् सभी का स्वभाव एक समान है)। हे सखी, हमारी बात को कोई माने या न माने हमने पहले ही बता रखा था कि काले वर्ण वाले कभी अपने सगे नहीं होते। इनका विश्वास कभी नहीं करना चाहिए। क्योंकि काले श्याम, काले अक्रूर और काले उद्धव तीनों ही धोखेबाज निकले। सूर के शब्दों में गोपियाँ कह रही हैं कि यदि इन कालों के लिए अपने मस्तक भी कटवा दीजिए (प्राण भी दे दीजिए) तो भी ये अपने ही दाँव में लगे रहते हैं अर्थात् ये बड़े ही अविश्वासी होते हैं।

टिप्पणी—

(1) इसमें गोपियों की निराशा का एक सजीव चित्र अंकित है।

(2) 'इसमें एक डार के तोरे' 'रतन छँड़ाइ गहावत माटी' में लोकोक्ति अलंकार की सरसता सराहनीय है।

(3) अंतिम पंक्ति में मुहावरे का सुन्दर प्रयोग हुआ है।

(4) 'असित' शब्द में व्यंजना का चमत्कार द्रष्टव्य है।

(5) पाँचवीं पंक्ति में उपमा अलंकार है।

(6) सारी रचना में मुहावरे और ब्रज की लोकोक्तियों के सहज प्रयोग के कारण पर्याप्त वक्रता आ गयी है।

राग मलार

मधुकर रह्यो जोग लौं नातो।
कतहिं बकत बेकाम काज बिनु, होय न ह्याँ ते हातो॥
जब मिलि मिलि मधुपान कियो हो तब तू कहि धौं कहाँ तो।
तू आयो निर्गुन उपदेसन सो नहिं हमैं सुहातो॥
काँचे गुन लै तनु ज्यों बेधौ; लै बारिज को ताँतो।

मेरे जान गह्यो चाहत हौ फेरि कै मैगल मातो ॥
यह लै देहु सूर के प्रभु को आयो जोग जहाँ तो।
जब चहिहैं तब माँगि पठैहैं जो कोउ आवत-जातो ॥ 81 ॥

शब्दार्थ—कतहिं = क्यों। बेकाम = व्यर्थ में। ह्याँ = यहाँ से। हातो = दूर, विलग। मधुपान = अधरामृत-पान। धौं = न जाने। हो = था। तो = था। काँचे गुन = कच्चा तागा। बेध्यो = बेधना चाहते हो। बारिज को ताँतो = कमल तन्तु, कमल नाल की पतली रेखा। गह्यो चाहत हौ = पकड़ना चाहते हो। फेरि कै = लौटा कर, वापस करके। मैगल = हाथी। मातो = मस्त। जहाँ तो = जहाँ से।

सन्दर्भ—गोपियाँ उद्धव की बातों से क्रुद्ध होकर कहती हैं कि क्या हमारा उनका नाता योग तक ही है ? उन्हें इस बात का विश्वास नहीं है कि श्रीकृष्ण ने ही यह योग का सन्देश हम लोगों के पास तक भेजा है।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, पहले तो हमें विश्वास नहीं है कि श्रीकृष्ण ने हम लोगों के पास यह योग का संदेश भेजा है और यदि तुम्हारी बातों में विश्वास कर लें तो हम तुमसे यही जानना चाहती हैं कि श्रीकृष्ण से हमारा सम्बन्ध क्या इन योग की बातों तक ही है और किसी प्रकार का सम्बन्ध उनसे नहीं है। तुम इस प्रकार की व्यर्थ और प्रयोजनहीन बातें हमारे सामने क्यों करते हो—हम तुम्हारी इन बातों को नहीं सुनना चाहतीं—तुम यहाँ से दूर क्यों नहीं होते। भला, यह तो बताओ जब श्रीकृष्ण ब्रज में थे और हमारे अधरों का रसपान करते थे तो तुम कहाँ थे ? अब तुम हमें निर्गुण ब्रह्म का उपदेश देने आये हो, किन्तु हमें यह बिल्कुल अच्छा नहीं लगता। हम अबलाओं को निर्गुण ब्रह्म का उपदेश देना उसी प्रकार है जैसे कच्चे धागे से शरीर को बेधना (यह नितान्त असंभव है) और हमारी समझ में तुम्हारा यह प्रयास उसी प्रकार का है जैसे कमल नाल के तन्तुओं से मस्त हाथी को लौटाकर बाँधना—यह संभव नहीं। यह योग तो श्रीकृष्ण को ले जाकरके दे दें क्योंकि यह वहीं से आया है। आशय यह है कि योग की आवश्यकता श्रीकृष्ण जैसे योगियों के लिए ही उपयुक्त है, वे ही इसका उपयोग कर सकते हैं। हाँ, हमें जब इसकी आवश्यकता पड़ेगी तो किसी आने-जाने वाले से मँगवा लेंगे—वैसे इसकी हमें आवश्यकता नहीं पड़ेगी।

टिप्पणी—

(1) यह व्यंग्यगर्भित शैली का एक उत्कृष्ट पद है।

(2) पाँचवीं और छठीं पंक्ति में निदर्शना अलंकार है।

(3) अंतिम पंक्ति में बड़ा तीखा व्यंग्य है। 'माँगि पठैहैं' में अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि की झलक है।

(4) अमर्ष संचारी भी है।

(5) 'तो' अपादान कारक में प्रयुक्त है, लेकिन तुक के कारण 'ते' की जगह सूर ने 'तो' जैसे विकृत प्रयोग किए हैं। यह 'तो' भूतकालिक सहायक क्रिया के रूप में भी प्रयुक्त हुआ है।

राग नट

मोहन माँग्यौ अपनो रूप।
या ब्रज बसत अँचै तुम बैठीं, ता बिनु तहाँ निरूप॥
मेरो मन, मेरो अलि ! लोचन लै जो गए धुपधूप।
हमसों बदलो लेन उठि धाए मनो धारि कर सूप॥
अपनो काज सँवारि सूर, सुनु हमहिं बतावत कूप।
लेवा-देइ बराबर में है, कौन रंक को भूप॥ 82 ॥

शब्दार्थ—अँचै तुम बैठी = तुमने पी लिया। निरूप = निराकार, रूप रहित। अलि = सखी। धुपधूप = चोखा, धुला हुआ। सूपधारिकर = हाथ में सूप लेकर (मुहावरा) अर्थात् किसी के पीछे हाथ धोकर पड़ जाना। लेवा-देइ = लेन-देन में। कूप बताना = कुएँ में ढकेलना।

सन्दर्भ—इसमें गोपियों ने निराकार ब्रह्म की अतिशय व्यंग्य गर्भित शैली में उपहास किया है। गोपियाँ राधा से कह रही हैं कि तुम जब श्रीकृष्ण ब्रज में थे तो उनके रूप को पी बैठीं। अब वे मथुरा में निरूप (आकार हीन) हो गये हैं, अतः अपना रूप उन्होंने उद्धव के द्वारा मँगवाया है।

व्याख्या—उद्धव को सुनाती हुई गोपियाँ राधा को सम्बोधित करती हुई कह रही हैं—हे सखी राधा, मोहन ने अपने उस रूप को जिसे तुमने ध्यान द्वारा आत्मसात् कर लिया था, उद्धव द्वारा मँगाया है, क्योंकि उस रूप के बिना वे वहाँ रूप रहित हो गये हैं तात्पर्य यह है कि जब तक श्रीकृष्ण ब्रज में थे तब तक तो उन्होंने निराकार की चर्चा नहीं की अब साकार की जगह निराकार की बात करने लगे हैं। इस बात को सुनकर राधा से रहा न गया और उन्होंने प्रत्युत्तर में कहा कि हे सखि, श्रीकृष्ण ने भी तो मेरे शुद्ध और चोखे मन (एकमात्र श्रीकृष्ण प्रेम में अनुरक्त मन) को अपनी तिरछी चितवन द्वारा अपहृत कर ले गये, अतः हमने कौन-सा अक्षम्य अपराध किया है। उनका यदि मैं रूप पी बैठी तो वे भी तो हमारा विशुद्ध मन उठा ले गये (यह तो जैसा का तैसा व्यवहार है) और अंधेर तो देखिए, उद्धव वहाँ से हमसे बदला लेने के लिए हाथों में सूप लेकर चले आए तात्पर्य यह है कि वे श्रीकृष्ण के रूप को खूब फटक कर अच्छी तरह देखकर लेना चाहते हैं और इसके लिए हमारे पीछे बुरी तरह से पड़े हैं और हमारे मन के वापस करने की बात नहीं करते, उलटे अपना कार्य पूरा करके (अपने स्वार्थ की पूर्ति करके) हमें कुएँ में ढकेलना चाहते हैं—इनका काम सध जाय, हम चाहे जहन्नम में जायँ इससे मतलब नहीं। लेकिन लेन-देन की बात का तो समान महत्व है—इसमें राजा और गरीब का प्रश्न नहीं है (दोनों ही बराबर हैं) आशय यह है कि यदि हमने उनके रूप को लिया है तो उन्होंने हमारे मन को लिया है (इसमें कौन छोटा और कौन बड़ा है—लेन-देन में दोनों बराबर हैं)।

टिप्पणी—

(1) इस पद की आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अतिशय प्रशंसा की है। उनके अनुसार इसमें हृदय की प्रेरणा से वाणी ने यह वक्रता उठते हुए भावों की लपेट में ग्रहण की है। इसके तह में भाव स्रोत छिपा हुआ है।

(2) वाग्विदग्धता और वचन वक्रता का यह उत्कृष्ट नमूना है।

(3) अलंकार की दृष्टि से द्वितीय पंक्ति में हेतूत्प्रेक्षा और पूरे पद में परिवृत्त अलंकार है।

(4) 'अचै बैठी' में रूढ़ि लक्षणा है।
(5) लेन-देन की रीति के सम्बन्ध में रहिमन का यह कथन यहाँ चरितार्थ होता है—रहिमन ये न सराहिए लेन-देन की रीति, प्रानन बाजी राखिए हार होय या जीत।
(5) 'मनो धरिकर सूप और हमहिं बतावत कूप' जैसे ब्रज के गाँवों में प्रचलित सुन्दर मुहावरों के प्रयोग के कारण सूर की भाषा की व्यंजकता बढ़ गयी है।

राग नट

हरि सों भलो सो पति सीता को।
बन बन खोजत फिरे बंधु-सँग कियो सिंधु बीता को॥
रावन मार्‌यो, लंका जारी, मुख देख्यो भीता को।
दूत हाथ उन्हें लिखि न पठायो निगम-ज्ञान गीता को॥
अब धौं कहा परेखो कीजै कुबजा के मीता को।
जैसे चढ़त सबै सुधि भूली, ज्यों पीता चीता को ?
कीन्हीं कृपा जोग लिखि पठयो, निरखु पत्र री ! ताको।
सूरदास प्रेम कह जानै लोभी नवनीता को॥ 83 ॥

शब्दार्थ—बीता = बीते भर का (बहुत छोटा)। भीता को = डरी हुई (सीता) के। पीता चीता को = किस पीने वाले ने चेता ? निगम = ब्रह्म ज्ञान। परेखो = विश्वास। कुब्जा के मीता = कुब्जा के मित्र, श्रीकृष्ण। लोभी नवनीता को = मक्खन का लोभी (श्रीकृष्ण)।

सन्दर्भ—इस पद में गोपियों ने श्रीकृष्ण से अच्छा पति तो सीता का बताया है। प्रकारान्तर से गोपियों ने उद्धव के समक्ष श्रीकृष्ण की निष्ठुरता का उल्लेख किया है। गोपियों के अनुसार सीता भी हमारी जैसी वियोगिनी थी, लेकिन राम ने ऐसा व्यवहार उसके साथ नहीं किया जैसा व्यवहार श्रीकृष्ण ने हम लोगों के साथ किया।

व्याख्या—कोई सखी किसी सखी से कह रही है—हे सखी, श्रीकृष्ण से तो सीता के पति अच्छे थे जो सीता के खो जाने पर अपने अनुज लक्ष्मण के साथ उन्हें बन-बन ढूँढ़ते रहे और जब यह ज्ञात हुआ कि सीता को रावण चुराकर लंका ले गया है तो उस पर चढ़ाई करने के लिए विशाल समुद्र को बीता भर (अत्यंत छोटा) कर दिया (अपनी प्रियतमा के लिए उनका यह पौरुष और त्याग सराहनीय है) और वहाँ पहुँच कर उन्होंने रावण को मारा, लंका जलायी, और अन्त में राक्षसों से भयभीता सीता के मुख को देखा—यह तो राम का व्यवहार था। उन्होंने श्रीकृष्ण की भाँति उद्धव जैसे दूत के हाथ ब्रह्म ज्ञान और गीता का ज्ञान लिख कर नहीं भिजवाया। अब कुब्जा से दोस्ती करने वाले का कौन विश्वास करे (यह तो विश्वासघाती निकला जो हम लोगों के प्रेम को भूलकर कुब्जा के प्रेम में फँस गया)। वास्तव में यह कथन सर्वथा सत्य है कि जैसे मदिरा पान करने वाला जब मदिरा के नशे में चूर हो जाता है, तब उसे कहाँ होश-हवास रहती है—जब तक मदिरा का नशा नहीं चढ़ता तब तक ठीक है, चढ़ने पर वह अपने को सम्हाल नहीं पाता। ठीक उसी प्रकार कुब्जा के प्रेमासव में छके श्रीकृष्ण हम सब की सुध भूल गये। अरी सखी, श्रीकृष्ण ने बड़ी कृपा की जो उन्होंने अपने पत्र में योग का संदेश लिखकर भिजवाया है, जरा उनके पत्र को देख तो। व्यंजना यह है कि जरा उनकी निष्ठुरता तो देखिए, हमारी खोज-खबर लेना तो दूर रहा उलटा निर्गुण ब्रह्म का संदेश भिजवा रहे हैं। भला, जो मक्खन का

जीवन भर लोभी और चोर रहा वह प्रेम तत्व के मर्म को क्या समझे।

टिप्पणी—

(1) 'सिंधु बीता को' में लक्षणा का प्रयोग हुआ है। आशय यह है कि समुद्र की विशालता को कम कर दिया।
(2) छठीं पंक्ति में उदाहरण अलंकार है।
(3) 'किन्हीं कृपा' में विपरीत लक्षणा का प्रयोग हुआ है।
(4) पाँचवीं पंक्ति में असूया संचारी भाव है।
(5) गीता, मीता आदि की तुलना में चीता शब्द का प्रयोग खटकता है। इस प्रकार के तुकों का प्रयोग अच्छा नहीं माना जाता।

राग सोरठ

निरमोहिया सों प्रीति कीन्हीं काहे न दुख होय ?
कपट करि करि प्रीति कपटी लै गयो मन गोय॥
काल मुख तें काढ़ि आनी बहुरि दीन्हीं ढोय।
मेरे जिय की सोई जानै जाहि बीती होय॥
सोच, आँखि मँजीठ कीन्हीं निपट काँची पोय।
सूर गोपी मधुप आगे दरकि दीन्हों रोय॥ 84 ॥

शब्दार्थ—मन गोय = मन चुरा लिया। काल-मुख तें ...... ढोय = काल के मुख से बचा कर फिर उसी में डाल दिया। मंजीठ = मँजीठ की तरह लाल। आँखि मँजीठ ..... पोय = आँखें भी मजीठ की तरह लाल (धुएँ आदि से) की, कच्चा पकाया भी। काँची पोय = कच्ची रोटी बनाकर अर्थात् प्रेम का कच्चा व्यवहार करके। दरकि = फूटफूट कर।

सन्दर्भ—इसमें गोपियाँ उद्धव के समक्ष कृष्ण के कपटपूर्ण प्रेम-व्यवहार की चर्चा करते-करते रो पड़ती हैं। इसमें गोपियों की वियोग-पीड़ा का बड़ा ही मार्मिक और प्रभावशाली वर्णन किया गया है।

व्याख्या—निष्ठुर कृष्ण के प्रेम के सम्बन्ध में गोपियाँ कह रही हैं कि निर्मोही से प्रेम नहीं करना चाहिए, यदि कोई ऐसे निर्मोही से प्रेम करता है तो अन्ततः उसे दुख झेलना पड़ता है। हमें तो श्रीकृष्ण से प्रेम करने पर काफी निराशा हुई, क्योंकि उस कपटी ने अपने कपटपूर्ण प्रेम व्यवहार के द्वारा हमारे मन को चुरा लिया (वशीभूत कर लिया) और हम सबों को काल के मुख से निकाल कर पुनः उसी में झोंक दिया। उसने दिखावटी ढंग से हम लोगों के प्रति सहानुभूति दिखाई—हम सबों को क्या कभी विश्वास था कि वे तमाम संकटों से रक्षा करके पुनः वियोग की ज्वाला में झोंक देंगे—यदि उन्हें झोंकना ही था तो हमारी रक्षा पहले ही न करते। उनके इस कपटपूर्ण प्रेम से हमें जो पीड़ा हुई है, उसे दूसरा क्या समझ सकता है, क्योंकि घायल की गति तो घायल ही जानता है—जिस पर बीतती है वही दूसरे के दुख-दर्द को समझता है। हमें दुख इस बात का है कि हमने अपनी आँखों को धुएँ आदि से मजीठ की भाँति लाल भी कर दिया और रोटी भी कच्ची बनायी। तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्ण के साथ जो प्रेम किया वह परिपक्व न होकर अपरिपक्व निकला और उस प्रेम में (उनके झूठे प्रेम में) हम सदैव जलती भी रहीं। उनके

साथ सच्चे प्रेम की सार्थकता सिद्ध नहीं हुई। सूर के शब्दों में इतना कहते-कहते गोपियाँ उद्धव के समक्ष फूट-फूटकर रोने लगीं।

टिप्पणी—

(1) समस्त पद में निष्ठुर प्रेमी की निष्ठुरता का सहज संकेत किया गया है।
(2) चौथी पंक्ति का भाव सूर के अन्य पदों में भी देखने को मिला है—'जाहि लगै सोई पै जाने प्रेम बान अनियारो'।
(3) पाँचवीं पंक्ति में लोकोक्ति का प्रयोग काव्योचित सरसता के साथ हुआ है।
(4) 'दरकि दीन्हो रोय' में दैन्य और विषाद संचारीभाव की प्रधानता है।
(5) 'ढोय' शब्द ब्रजभाषा में डालने के अर्थ में असाधारण प्रयोग कहा जा सकता है।

राग सारंग

बिन गोपाल बैरिनि भईं कुंजैं।
तब ये लता लगति अति सीतल, अब भईं विषम ज्वाल की पुंजैं॥
बृथा बहति जमुना, खग बोलत, बृथा कमल फूलैं, अलि गुंजैं।
पवन पानि घनसार सँजीवनि दधिसुत किरन भानु भइं भुंजैं॥
ए, ऊधो, कहियो माधव सों बिरह कदन करि मारत लुंजैं।
सूरदास प्रभु को मग जोवत अँखियाँ भईं बरन ज्यों गुंजैं॥ 85 ॥

शब्दार्थ—विषम ज्वाल = भयंकर अग्नि। पुंजैं = राशि। अलि = भ्रमर। पानि = पानी। धनसार = कर्पूर। संजीवनि = संजीवनी बूटी। दधिसुत = (उदधि-सुत) चन्द्रमा। भानु भईं = सूर्य होकर (सूर्य की भाँति)। भुंजैं = भूँज रही हैं—जला रही हैं। कदन = छूरी। लुंजैं = लँगड़ों को, पंगु को। मग जोवत = रास्ता देखते, प्रतीक्षा करते। बरन = वर्ण, रंग। गुंजैं = घुँघची जिसका रंग श्याम एवं रक्त होता है।

सन्दर्भ—इसमें प्रकृति का उद्दीपन विभाव से चित्रण किया गया है। संयोग से गोपियों को प्रकृति की जो वस्तुएँ अच्छी लगती थीं आज श्रीकृष्ण के बिना (वियोगावस्था में) वे सब काटने दौड़ती हैं। गोपियाँ परिस्थिति-जन्य इस विषमता का उल्लेख उद्धव से कर रही हैं, और उन्हें बता रही हैं कि श्रीकृष्ण से जाकर कह देना कि उन्हें देखते-देखते गोपियों की आँखें गुंजा की भाँति लाल हो गयीं। दर्शनातुर गोपियों की मनःस्थिति का यह एक सजीव चित्र कहा जा सकता है।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, बिना कृष्ण के ये कुंज, ये बन हमारे लिए शत्रु तुल्य बन गये हैं। तब (जब श्रीकृष्ण इस ब्रज में थे) ये लताएँ जो शीतल प्रतीत होती थीं आज वे ही लताएँ भयंकर अग्नि-राशि जैसी लग रही हैं (श्रीकृष्ण के वियोग में जब इन लताओं को देखती हैं तो मानस वेदना और पीड़ा की ज्वाला में झुलस जाता है)। हमें तो प्रकृति के सारे व्यापार निरर्थक प्रतीत होते हैं। हमारी दृष्टि में यमुना का बहना और पक्षियों का बोलना व्यर्थ लग रहा है। कमलों का फूलना और उन पर भौंरों का गुंजार करना भी व्यर्थ लग रहा है। कहने का तात्पर्य यह है कि वह यमुना जहाँ श्रीकृष्ण रास रचाया करते थे अपने सुन्दर प्रवाह, और मन्द-मन्द बहने के कारण कितनी सुखद प्रतीत होती थी, और निकटस्थ कुंज के पक्षियों के

कलरव में कितनी मादकता थी, कमलों में कितना आकर्षण था भौंरों की ध्वनि कितनी मधुर थी, वे सब आज व्यर्थ से हैं)। आज स्थिति यह है कि हम लोगों के लिए पवन, पानी, कर्पूर, संजीवनी बूटी, और चन्द्र किरणें आदि शीतलोपचार की वस्तुएँ सूर्य की ज्वाला की भाँति जला रही हैं। अतः हे उद्धव, श्रीकृष्ण से स्पष्ट रूपेण कह देना कि पंगु गोपियों को वियोग छूरी चुभा कर मार रहा है (वियोग की पीड़ा उन्हें ऐसी लग रही है जैसे किसी पंगु व्यक्ति को कोई छूरी चुभा रहा हो) सूरदास के शब्दों में गोपियों का कथन है कि हे उद्धव, श्रीकृष्ण से यह भी बता देना कि हम सबों की आँखें उनका मार्ग देखते-देखते गुंजा की भाँति लाल हो गयीं (प्रतीक्षा की यह सीमा है)।

टिप्पणी—

(1) प्रकृति का उद्दीपन विभाव से चित्रण।

(2) अन्तिम पंक्ति में अनुभाव विभाव का चित्रांकन सहज रूप में हुआ है।

(3) औत्सुक्य, विषाद, चिन्ता आदि संचारी भावों की प्रधानता है।

(4) बिरह कदन . . . . . लुंजैं में मानवीकरण की भी प्रवृत्ति है।

(5) लुंजै लक्षणा से असहाय के अर्थ में प्रयुक्त है।

(6) अंतिम पंक्ति में उपमा और पाँचवीं पंक्ति में रूपकातिशयोक्ति अलंकार है। इसमें वधिक उपमान लुप्त है।

(7) मानस में भी तुलसी ने सीता-वियोग के अन्तर्गत इसी प्रकार का वर्णन किया है।

नव तरु किसलय मनहुँ कृसानू। कालनिसा सम
निसि ससि भानू। जेहित रहे करत ते पीरा।
उरग स्वास सम त्रिबिधि समीरा।

राग नट

सँदेसो कैसे कै अब कहौं ?
इन नैनन्ह तन को पहरो कब लौं देति रहौं ?
जो कछु बिचार होय उर-अंतर रचि पचि सोचि गहौं।
मुख आनत ऊधौं-तन चितवत न सो बिचार, न हौं॥
अब सोई सिख देहु, सयानी ! जातें सखहिं लहौं।
सूरदास प्रभु के सेवक सों बिनती कै निबहौं॥ 86॥

शब्दार्थ—कब लौं = कब तक। रचि-पचि = अच्छी तरह। सोचि गहौ = बहुत सोच करके उन्हें ग्रहण करती हूँ (उन्हें कहना चाहती हूँ)। मुख आनत = मुख तक ले आते ही। ऊधो तन = उद्धव की ओर। न सो बिचार, नहौं = न वह विचार रह जाता है और न मैं अर्थात् सब सुध बुध भूल जाती है। सखहिं = श्रीकृष्ण को। प्रभु के सेवक = उद्धव। निबरौं = निर्वाह करूँ। जातें = जिससे। लहौं = प्राप्त कर सकूँ।

संदर्भ—इसमें गोपियों की जटिल मानसिक स्थिति का बड़ा ही सजीव वर्णन किया गया है। गोपियाँ न निष्ठुर कृष्ण से कुछ कहने की स्थिति में हैं और न शुष्क हृदय उद्धव से। इस कारण अन्तर्द्वन्द्व से गोपियाँ जूझ रही हैं।

व्याख्या—कोई सखी अपनी सखी से कह रही है—हे सखी, कृष्ण के प्रति अब अपने प्रेम-संदेश को कैसे कहूँ (वस्तुतः दोनों ही निष्ठुर हैं, अतः किससे संदेश भेजूँ और किसके पास भेजूँ)। हमारी तो यह दशा है कि अब भी श्रीकृष्ण के दर्शन की आशा मन में बनी हुई है, नेत्र उन्हें देख रहे हैं कि कदाचित उनका दर्शन भविष्य में हो जाय इसी से ये नेत्र शरीर का पहरा दिया करते हैं (शरीर को दर्शन की आशा से जीवित रख रहे हैं—लेकिन इसे कब तक दिलासा दिया जा सकता है। मैं सन्देश विषयक जो कुछ विचार अच्छी तरह सोचकर प्रस्तुत करना चाहती हूँ वह मुँह तक आता है किन्तु जब उद्धव की ओर देखती हूँ तब न वह विचार रह जाता है और न मैं अर्थात् सब सुध-बुध भूल जाती हूँ। (उद्धव जैसे नीरस व्यक्ति को देखकर मन खिन्न हो जाता है) और—इस कारण मैं संदेश के जो भी विचार सोचती हूँ वे सब भूल जाते हैं)। अतः हे चतुर सखी, अब मुझे तुम वही शिक्षा दो जिससे प्रियतम श्रीकृष्ण को प्राप्त कर सकूँ और यदि उद्धव से हमारा काम बनता है तो उन्हीं से विनती करूँगी और उनके साथ सद्‌भाव का निर्वाह करूँगी (यहाँ मन की ऐसी स्थिति का संकेत है जहाँ श्रीकृष्ण के दर्शन के लिए गोपियाँ परस्पर राग-द्वेष को भी भूल जाती हैं)।

टिप्पणी—

(1) दैन्य संचारी भाव का निरूपण अंतिम पंक्ति में किया गया है।

(2) उद्धव की खुशामद करने से यह आशय व्यक्त होता है कि अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए नगण्य व्यक्ति को भी सम्मानित करना चाहिए। ठाकुर कवि के शब्दों में—'अपने अटके सुनि एरी भटू, नित सौत के माइके जैइयतु है।'

(3) चौथी पंक्ति में जड़ता संचारी भाव है।

राग कान्हरो

बहुरो ब्रज यह बात न चाली।
वह जो एक बार ऊधो कर कमलनयन पाती दै घाली॥
पथिक ! तिहारे पा लागति हौं मथुरा जाव जहाँ बनमाली।
करियो प्रगट पुकार द्वार ह्वै 'कालिंदी फिरि आयो काली'॥
जबै कृपा जदुनाथ कि हम पै रही, सुरुचि जो प्रीति प्रतिपाली।
माँगत कुसुम देखि द्रुम ऊँचे गोद पकरि लेते गहि डाली॥
हम ऐसी उनके केतिक हैं अंग-प्रसंग सुनहु री, आली !
सूरदास प्रभु रीति पुरातन सुमिरि-सुमिरि राधा-उर साली॥ 87 ॥

शब्दार्थ—बहुरो = पुनः। कमलनयन = श्रीकृष्ण। घाली = भेजी। बनमाली = श्रीकृष्ण। द्वार ह्वै = द्वार पर। सुरुचि = प्रेमभाव। द्रुम = वृक्ष। गहिडाली = डाली पकड़ लेती थी। केतिक = कितनी ही। अंग-प्रसंग = कथा उपकथाएँ। साली = पीड़ा हुई।

सन्दर्भ—ब्रज से उद्धव के जाने के बाद श्रीकृष्ण को पुनः कोई प्रेम संदेश न मिला। राधा किसी पथिक से इसकी चर्चा कर रही हैं।

व्याख्या—राधा किसी पथिक से श्रीकृष्ण वियोग की पीड़ा व्यक्त करती हुई कह रही हैं—हे पथिक, एक बार उद्धव के हाथ से श्रीकृष्ण ने अपनी जो पत्रिका भेजी उसके बाद फिर

उनके प्रेम-संदेश की कोई चर्चा ब्रज में नहीं चली। तब से श्रीकृष्ण का कोई समाचार हमें नहीं मिला। हे पथिक, मैं तुम्हारे पैर पड़ रही हूँ। तुम हमारा संदेश लेकर बनमाली के पास चले जाओ और प्रत्यक्ष रूप में द्वार पर पुकार कर कहना कि पुनः यमुना में काली नाग आ गया है। शायद इसी बहाने श्रीकृष्ण लौट आएँ। जब ब्रज में रहते थे तो श्रीकृष्ण की हमारे प्रति अपार कृपा थी और उन्होंने सुरुचिपूर्वक हम लोगों के साथ प्रेम का निर्वाह किया था। हमारे ऊपर उनकी इतनी कृपा रहती थी कि जब भी ऊँचे वृक्षों के फूल की कामना करती थी तो वे हमें अपनी गोद में लेकर वृक्ष की डाली पकड़ा देते थे हम डाली पकड़कर फूल तोड़ लेती थीं। हमारी जैसी उनकी न जाने कितनी प्रेमिकाएँ हैं—हे सखी, सुनो इसी प्रकार उनके प्रेम की न जाने कितनी छोटी-बड़ी कथाएँ भी हैं। सूरदास के शब्दों में इस प्रकार श्रीकृष्ण की पुराप्रीति को याद करके राधा का हृदय अत्यधिक पीड़ित हुआ।

टिप्पणी—

(1) इसमें वियोग के अन्तर्गत गुण-कथन और स्मरण का उल्लेख हुआ है।

(2) अंतिम पंक्ति में स्मृति संचारी भाव है।

(3) सातवीं पंक्ति का भाव बहुत से कवियों में देखने को मिला है—यथा, कहा कछू चंदहि चकोरनि की कमी है।

(4) तीसरी पंक्ति में दैन्य संचारी भाव लक्षित होता है।

राग गौरी

ऊधो ! क्यों राखौं ये नैन ?
सुमिरि सुमिरि गुन अधिक तपत हैं सुनत तिहारो बैन॥
हैं जो मनोहर बदनचंद के सारद कुमुद चकोर।
परम-तृषारत सजल स्यामघन के जो चातक मोर॥
मधुप मराल चरनपंकज के, गति-बिलास-जल मीन।
चक्रबाक, मनिदुति दिनकर के, मृग मुरली आधीन॥
सकल लोक सूनो लागतु है, बिन देखे वा रूप।
सूरदास प्रभु नँदनंदन के नखसिख अंग अनूप॥ 88 ॥

शब्दार्थ—बदन चन्द = चन्द्रमुख। सारद कुमुद = शारदीय कुमुद (शरद काल में विकसित होने वाले कुमुद)। परम तृषारत = अत्यंत प्यासे। सजल = जल से भरे हुए (बादलों का विशेषण)। मधुप = भ्रमर। मराल = हंस। गति-बिलास-जल = चंचल चाल रूप जल। चक्रबाक = चकवा पक्षी। मनिदुति = सूर्यकान्त मणि।

सन्दर्भ—इसमें गोपियों ने कृष्ण-प्रेम में अनुरक्त अपने नेत्रों की दशा का उल्लेख उद्धव से किया है। नेत्रों के जितने प्रचलित उपमान कवि-परम्परा में बताए गये हैं, उन सभी का उपयोग-विनियोग सूर ने बहुत भावात्मक प्रक्रिया से किया है।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं—हे उद्धव, हम अपने इन नेत्रों को कैसे रखें—इन्हें किस प्रकार समझाएँ। ये तो आपकी कठोर वाणी सुनते ही श्रीकृष्ण के गुणों को स्मरण करके और अधिक संतप्त होने लगते हैं (तुम्हारी कठोर वाणी का ऐसा प्रभाव पड़ता है

कि उन्हें श्रीकृष्ण के समस्त गुण याद आने लगते हैं और वे रो पड़ते हैं)। हमारे नेत्र श्रीकृष्ण के अंग-प्रत्यंग के सौन्दर्य के उपासक हैं। ये श्रीकृष्ण के सुन्दर चन्द्रमुख के सौन्दर्य रस-पान करने के लिए शारदीय कुमुदिनी और चकोर बने रहते हैं (आशय यह है कि शरद काल के चन्द्रोदय को देखकर कुमुदिनी और चकोरों को परम आनन्द होता है)। ये सजल-बादल (जल से भरे बादल जो बहुत सुंदर लगते हैं) के सदृश श्रीकृष्ण के शरीर के सौन्दर्य रस को पान करने के लिए अतिशय प्यासे चातक और मोर बने रहते हैं (सजल बादलों को देखकर इन दोनों को बड़ी प्रसन्नता होती है)। ये श्रीकृष्ण के कमलवत् चरणों का रस पान करने के लिए भ्रमर और हंस के समान हैं (भ्रमर और हंस को कमल से अतिशय प्रेम है) और उनके चंचल गति रूप जल प्रवाह में ये मछली के समान आनन्द मग्न रहते हैं (जिस प्रकार मछलियों को सच्चा सुख जल-प्रवाह में मिलता है उसी प्रकार श्रीकृष्ण की मनोहर चाल को देखते समय ये उसमें रस-मग्न हो जाते थे)। ये श्रीकृष्ण के कानों में शोभित सूर्य के सदृश कुंडलों को देखकर चक्रवाक पक्षी और सूर्यकान्त मणि के तुल्य प्रसन्न हो जाते हैं (सूर्य की प्रभा को देखकर चक्रवाक पक्षी प्रसन्न होता है और सूर्यकान्त मणि भी उसकी प्रभा से द्रवित हो उठती है)। श्रीकृष्ण की मधुर मुरली के स्वरों को सुनकर ये मृग की भाँति मोहित हो जाते थे (कहा जाता है कि बहेलिया अपने मधुर संगीत से मृगों को अपने वश में कर लेता है, ये नेत्र भी मृग की भाँति कृष्ण की मधुर मुरली से मोहित हो उठते थे) हे उद्धव, श्रीकृष्ण के उस लोकोत्तर सौन्दर्य को देखे बिना हमारे इन नेत्रों को समस्त संसार सूना-सूना लगता है (ऐसा प्रतीत होता है, जैसे संसार में किसी प्रकार का आकर्षण रह ही नहीं गया है। सूरदास के शब्दों में गोपियों का कथन है कि श्रीकृष्ण का सर्वांग सौन्दर्य में अनुपम एवं अप्रतिम है।

टिप्पणी—

(1) तीसरी पंक्ति में प्रयुक्त 'सादर' शब्द का अर्थ लोगों ने बहुत खींच-तानकर श्रद्धायुक्त किया है। मेरे विचार से यह विकृत पाठ है और शुद्ध पाठ 'सारद' है और यह कुमुद का विशेषण है। (शारदीय कुमुद)। प्रसंग से यही अर्थ तर्कसंगत प्रतीत होता है।

(2) रूपक और यथासांख्य अलंकारों की प्रधानता है।

(3) सूर के अप्रस्तुत विधान का यह एक उत्कृष्ट नमूना है।

(4) इसमें जिन उपमानों का प्रयोग किया गया है, वे सब कवि प्रौढ़ोक्ति के अन्तर्गत आते हैं।

(5) श्रीकृष्ण के नखशिख सौन्दर्य का चित्रात्मक निरूपण।

राग मलार

सँदेसनि मधुबन-कूप भरे।
जो कोउ पथिक गए हैं ह्याँ ते फिरि नहिं अवन करे॥
कै वै स्याम सिखाय समोधे कै वै बीच मरे ?
अपने नहिं पठवत नँदनंदन हमरेउ फेरि धरे॥
मसि खूँटी कागर जल भींजे, सर दव लागि जरे।
पाती लिखैं कहो क्यों करि जो पलक-कपाट अरे ?॥ 89 ॥

शब्दार्थ—मधुबन-कूप = मथुरा के कुएँ। अवन करे = आगमन होना। समोधे = समझा-बुझा दिया। कै = अथवा, या तो। मसि खूँटी = स्याही समाप्त हो गयी। कागर = कागज। सर = सरकंडा, जिसकी कलम बनाई जाती है। दव = आग, दावाग्नि। पलक-कपाट = पलक रूप दरवाजे।

सन्दर्भ—श्रीकृष्ण के पास पथिकों द्वारा गोपियों ने अनेकों संदेश भिजवाया लेकिन उन्हें एक भी संदेश का उत्तर नहीं मिला। उत्तर न मिलने के कारणों पर विचार करती हुई गोपियाँ परस्पर कह रही हैं।

व्याख्या—हे सखि, श्रीकृष्ण के पास इतने संदेश भेजे गए, शायद इन संदेशों से मथुरा के कुएँ भी भर गए होंगे। आश्चर्य है कि जो भी संदेशवाहक पथिक यहाँ से संदेशा लेकर गए हैं, उन्होंने पुनः यहाँ तक आने का कष्ट नहीं किया। लगता है या तो श्रीकृष्ण ने उन्हें समझा-बुझा दिया कि वहाँ अब मत जाना या वे मथुरा पहुँचने के पूर्व ही बीच में मर गये और श्रीकृष्ण तक हम लोगों का संदेश पहुँचा नहीं सके। कृष्ण की जरा धृष्टता तो देखो, वे अपना संदेश तो भेजते नहीं पुनः हमारे संदेश भी रख लेते हैं (उसका उत्तर नहीं देते)। संदेश न आने का एक कारण यह भी हो सकता है कि मथुरा में स्याही ही समाप्त हो गयी (स्याही रही ही नही) सारे कागज जल में भीज कर सड़ गये और सरकंडे में आग लग गयी, वे जल कर राख हो गये, अतः बिना स्याही, कागज और सरकंडा (जिससे कलम बनती है) की कलम के पत्र कैसे लिखा जाय। जब लेखन के सभी साधन समाप्त हो गये तो वहाँ से पत्र का न आना स्वाभाविक है। और जिनकी आँखों पर पलक रूपी कपाट खड़े रहते हैं। (पलकें बंद रहती है—जो हमारी ओर देखना ही नहीं चाहते, वे कैसे पत्र लिखकर संदेश भिजवाएँ)।

टिप्पणी—

(1) पूरे पद में 'शंका' संचारी भाव की प्रधानता है।
(2) 'सँदेसनि मधुवनकूप भरे' में अतिशयोक्ति अलंकार है।
(3) तीसरी पंक्ति में गोपियों की झुँझलाहट के साथ उनके अमर्ष भाव की व्यंजना हुई है।
(4) 'कूप भरना' में रूढ़ि लक्षणा है।
(5) तीसरी पंक्ति में संदेहालंकार है और अंतिम पंक्ति के पलक कपाट शब्द में रूपक है।
(6) बिरह का ऊहात्मक शैली में वर्णन।

राग नट

नँदनंदन मोहन सों मधुकर ! है काहे की प्रीति ?
जौ कीजै तौ है जल, रबिकर औ जलधर की सी रीति॥
जैसे मीन, कमल, चातक की ऐसे ही गइ बीति।
तलफत, जरत, पुकारत सुनु सठ ! नाहिं न है यह रीति॥
मन हठि परे, कबंध-जुद्ध ज्यों, हारेहू भइ जीति।
बँधत न प्रेम-समुद्र सूर बल कहुँ बारुहि की भीति॥ 90॥

शब्दार्थ—काहे की प्रीति = किस बात का प्रेम, किसलिए उनसे प्रेम किया जाय ? गई बीति = बीत गयी। कबंध = धड़। बिना सिर का (सिर के कट जाने पर भी शूरों का शरीर युद्ध करता है)। बल = बलपूर्वक। बारुहि की भीति = बालू की दीवाल।

सन्दर्भ—इसमें गोपियों ने प्रियतम की निष्ठुरता का बड़ा ही सच्चा और सजीव चित्र प्रस्तुत किया है। वास्तव में प्रेम की विषमता की स्थिति अत्यंत कष्टप्रद होती है। गोपियों के हृदय में कृष्ण के लिए जैसा प्रेम है वैसा प्रेम श्रीकृष्ण के हृदय में नहीं है—यह प्रेम के एकपक्षीय रूप को प्रतिपादित करता है। अतः गोपियाँ उद्धव से कृष्ण-प्रेम के सम्बन्ध में कह रही हैं।

व्याख्या—हे भ्रमर (उद्धव), नंदनंदन श्रीकृष्ण से हमारा कैसा प्रेम (उनसे प्रेम क्यों किया जाय ?) क्या वे प्रेम के पात्र हैं (प्रेम तो उभयपक्षीय होने से सार्थक होता है—यहाँ श्रीकृष्ण का प्रेम तो एक पक्षीय है)। उनसे प्रेम करना तो जल, सूर्य और बादल जैसा है। जिस प्रकार मछली जल से प्रेम करती है, लेकिन निष्ठुर-जल उसकी कभी परवाह नहीं करता और वह जल के वियोग में तड़प-तड़पकर मर जाती है। इसी प्रकार कमल सूर्य से प्रेम करता है और उसकी प्रखर ज्वाला में सारा दिन जलता रहता है, लेकिन सन्ध्या समय सूर्य कमल की परवाह न करके अस्त हो जाता है (यह है कमल के प्रति सूर्य की निष्ठुरता)। यही दशा चातक की भी होती है, वह स्वाति की बूँदों के लिए बादल जैसे प्रियतम की रट लगाते-लगाते अपने समस्त जीवन को बिता देता—लेकिन बादलों को कब चातक की चिन्ता होती है। इसी प्रकार के प्रेम की विषमता की व्यथा और पीड़ा में इन प्रेमियों की बीत गई (इनके दिन गुजर गए)। हे दुष्ट मधुकर सुनो, इसे प्रेम की रीति नहीं कहते—यह तो प्रियतम की निष्ठुरता है। क्या करें हमारे मन की यह विवशता ही है जिसने श्रीकृष्ण से प्रेम करने की जिद् (हठ) कर ली है—और प्रेम के क्षेत्र में सिरविहीन धड़ की भाँति अब भी संघर्ष कर रहा है और हार जाने पर भी अपनी विजय घोषित करता है (जिस प्रकार शूरों का धड़ (कबंध) बहुत देर तक युद्ध करता रहता है और हार जाने पर भी विजय का अनुभव करता है और यश का भागी होता है उसी प्रकार श्रीकृष्ण के प्रेम से निराश हो जाने पर भी हम अपनी विजय और जीवन की सार्थकता अनुभव करती हैं। सूर के शब्दों में गोपियों का कथन है कि हे उद्धव, तुम निर्गुण ब्रह्म के उपदेशरूपी बालू की दीवाल से बलपूर्वक हमारे हृदय के अपार प्रेम-समुद्र को बाँधना चाहते हो, लेकिन प्रेम-समुद्र का यह निर्बंध प्रवाह किसी भी प्रकार रोका नहीं जा सकता।

टिप्पणी—

(1) प्रेम की विषमता और गोपियों की त्याग-निष्ठा का सुंदर चित्रांकन हुआ है।

(2) यह निष्काम भाव से प्रेम-मार्ग पर चलने वालों का एक उत्कृष्ट नमूना है।

(3) द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ पंक्ति में यथासांख्य (क्रमालंकार) अलंकार है। पाँचवीं पंक्ति में निदर्शना और अंतिम पंक्ति में उदाहरण अलंकार और प्रेम-समुद्र में रूपक है।

(4) इसमें प्रेमियों के जिन प्रतीकों का उल्लेख हुआ है, वे निश्चय ही आदर्श प्रेमी के रूप में परिगणित होते हैं।

(5) जायसी आदि हिंदी कवियों में भी प्रेम की विषमता का चित्रण कई स्थलों पर हुआ है।

राग नट

मधुबनियाँ लोगनि को पतिआय ?
मुख औरे अंतर्गत औरे पतियाँ लिखि पठवत हैं बनाय ॥
ज़्यों कोइलसुत काग जिआवत भाव-भगति भोजनहिं ख़वाय ॥
कुहकुहाय आए बसंत ऋतु, अन्त मिलै कुल अपने जाय ॥
जैसे मधुकर पुहुप-बास लै फेरि न बूझै बातहुं आय।
सूर जहाँ लौं स्यामगात है तिनसों क्यों कीजिए लगाय ? ॥ 91 ॥

शब्दार्थ—मधुबनियाँ = मथुरा वाले। को पतिआय = कौन विश्वास करे ? बनाय = बना-बनाकर (झूठी)। भाव-भगति = प्रेमपूर्वक। कुहकुहाय = कूकती है। अन्त = अन्त में। पुहुप-बास = फूल की सुगंध। स्यामगात = श्याम शरीर वाले। लगाय = प्रेम-सम्बन्ध। जहाँ लौं = जहाँ तक।

सन्दर्भ—इसमें गोपियों ने मथुरा वालों के प्रति कटाक्ष किया है और उद्धव से बताया कि मथुरा के रहने वाले तो सभी अविश्वसनीय हैं, लेकिन जो श्याम वर्ण वाले (उद्धव, अक्रूर और श्रीकृष्ण) हैं वे विशेषरूपेण धोखेबाज हैं।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, मथुरा वालों का कौन विश्वास करे ? ये बड़े धोखेबाज होते हैं, इनके मुख में कुछ होता है और मन में कुछ और अर्थात् ये मनसा और वाचा एक नहीं है—इनकी कथनी और करनी में अन्तर है और बनावट (बनावटी, झूठी) चिट्ठियाँ लिख-कर भेजा करते हैं। इनकें कपट का नमूना तो इस प्रकार है जैसे कौवा कोयल के बच्चे को प्रेमपूर्वक भोजन खिलाकर जीवित रखता है—उनका बड़े प्यार से पोषण करता है, लेकिन बसन्तागमन के समय वह कोयल का बच्चा कूकने लगता है और अन्ततः अपने कुल (कोकिल-परिवार) में जाकर मिल जाता है, फिर कौवा की याद उसे नहीं रह जाती। श्रीकृष्ण ने भी ऐसा ही किया—बिचारे नंद और यशोदा ने इन्हें बचपन मे पालन-पोषण किया लेकिन जब बड़े हुए (यौवन अवस्था को प्राप्त हुए) तो जाकर अपने वंश वसुदेव और देवकी में मिल गए और नंद-यशोदा को भूल गये। जिस प्रकार भ्रमर पुष्प की सुगन्ध ग्रहण करने के पश्चात् (पुष्पों के मकरन्द और पराग का रस लेने के अनंतर) फिर उनसे बात भी नहीं पूछता, उसी प्रकार श्रीकृष्ण ने हमारे प्रेम का रस लेने के पश्चात् हमें याद भी नहीं किया। सूर के शब्दों में गोपियों का उद्धव से कथन है कि जहाँ तक श्यामवर्ण की बात है—इनसे प्रेम-सम्बन्ध कभी भी नहीं करना चाहिए, क्योंकि ये सभी (उद्धव, अक्रूर और श्रीकृष्ण) अविश्वसनीय हैं।

टिप्पणी—

(1) यह पद व्यंग्यगर्भित शैली की एक महत्वपूर्ण रचना है।
(2) 'मधुबनियाँ' शब्द मुख्यतया श्रीकृष्ण, उद्धव और अक्रूर के लिए प्रयुक्त है।
(3) प्रथम पंक्ति में काकुवक्रोक्ति अलंकार है।
(4) 'स्यामगात' में अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि है।
(5) तृतीय, चतुर्थ और पंचम पंक्ति में उदाहरण अलंकार है।

राग नट

हरि हैं राजनीति पढ़ि आए।
समुझी बात कहत मधुकर जो ? समाचार कछु पाए ?
इक अति चतुर हुते पहिले ही, अरु करि नेह दिखाए।
जानी बुद्धि बड़ी, जुवतिन को जोग-सँदेस पठाए॥
भले लोग आगे के, सखि री ! परहित डोलत धाए।
वे अपने मन फेरि पाइए जे हैं चलत चुराए॥
ते क्यों नीति करत आपुन जे औरनि रीति छुड़ाए ?
राजधर्म सब भए सूर जहँ प्रजा न जायँ सताए॥ 92 ॥

शब्दार्थ—हुते = थे। आगे के = पहले के, पुराने जमाने के।

सन्दर्भ—गोपियों के पास श्रीकृष्ण ने योग-संदेशा भेजा है। इससे अब गोपियों के मन में किसी भी प्रकार की शंका नहीं रह गयी कि श्रीकृष्ण राजनीति के एक चतुर खिलाड़ी है। प्रस्तुत पद में उनके राजनैतिक दाँव-पेंच का संकेत किया गया है।

व्याख्या—(गोपियाँ परस्पर कह रही हैं) हे सखियो, जरा देखो तो, श्रीकृष्ण अब राजनीति शास्त्र के ज्ञाता हो गये (मथुरा जाते ही ऐसे छल और कपटपूर्ण व्यवहार करने लगे) क्यों सखियो, जो बात उद्धव जी कह रहे हैं क्या उन्हें तुम सबों ने कुछ समझा अर्थात् राजनीति शास्त्र पढ़ने के बाद उन्होंने जो बातें उद्धव द्वारा भेजी हैं क्या वे तुम्हारी समझ में कुछ आयी) क्या तुम्हें उनके राजनीति विशारद होने और इस प्रकार योग-संदेश भेजने का कुछ समाचार मिला ? एक तो श्रीकृष्ण पहले ही बहुत चतुर थे, दूसरे गोपियों से जो प्रेम व्यवहार किया उसमें भी अपनी चतुराई दिखाई (आशय यह है कि वे बनते बड़े होशियार हैं लेकिर जो काम किया उसमें उनकी अज्ञानता ही झलकती है।) उनकी बुद्धि का परिचय तो इसी में मिल गया कि उन्होंने ब्रज की युवतियों को योग-साधना का संदेश भिजवाया है (भला, युवतियाँ योग की साधना कैसे कर सकती हैं—युवतियाँ और योग—दोनों में कितना अन्तर है—क्या ऐसे संदेश के द्वारा श्रीकृष्ण की अज्ञानता नहीं प्रकट होती ?) अरी सखी, पहले के लोग कितने भले और सज्जन होते थे जो दूसरों के हित के लिए बराबर घूमते-फिरते थे और एक कृष्ण को देखो जो दूसरे के मन को चोरी किए फिरते हैं। नीति तो यही है कि गोपियों को अपने वे मन मिल जायँ जिन्हें वे (श्रीकृष्ण) चुराए फिर रहे हैं (देना ही नहीं चाहते भला), जो दूसरों की मर्यादा और रीति को समाप्त करने में लगे हैं वे नीति और धर्म का पालन क्यों करने लगे अर्थात् जो गोपियों को प्रेम-मार्ग से हटा करके योग-मार्ग पर लगाने का प्रयत्न करते हैं वे नीति को स्वयं कैसे ग्रहण करेंगे—वे क्या नीति और धर्म का पालन करते होंगे जो दूसरे को अच्छी नीति से हटाकर बुरी नीति पर लगाना चाहते हैं। सूर के शब्दों में गोपियों का कथन है कि राजधर्म (राजा का धर्म और कर्तव्य) तो वहीं देखा जाता है जहाँ प्रजा को किसी प्रकार कष्ट न हो (जहाँ राजा के धर्म से प्रजा दुखी है, उसे राजधर्म की सच्ची संज्ञा नहीं दी जा सकती)।

टिप्पणी—

(1) तीसरी और चौथी पंक्ति में अत्यंत तिरस्कृत वाच्य ध्वनि का प्रयोग हुआ है।

(2) इसमें वाणी की वक्रता और वचन-विदग्धता का सुंदर प्रयोग हुआ है।
(3) अंतिम पंक्ति में आदर्श राजा के धर्म का उल्लेख हुआ है और तत्कालीन शासक वर्ग का भी संकेत किया गया है जिससे प्रजा को प्रायः कष्ट मिलता था।
(4) व्यंग्यगर्भित शैली का यह एक अच्छा पद है।

राग नट

जोग की गति सुनत मेरे अंग आगि बई।
सुलगि सुलगि हम रही तन में फूँक आनि दई॥
जोग हमको भोग कुबजहि, कौन सिख सिखई ?
सिंह गज तजि तृनहि खंडत सुनी बात नई॥
कर्म रेखा मिटति नाहीं जो बिधि आनि ठई।
सूर हरि की कृपा जापै सकल सिद्धि भई॥ 93 ॥

शब्दार्थ—बई = लगी। सिख = शिक्षा। खंडत = तोड़ना; खाना। ठई = बनाई, की। गति = रीति।

संदर्भ—उद्धव द्वारा बार-बार योग की रीतियों को सुनकर गोपियाँ नाराज हो जाती हैं और कहने लगती हैं कि हे उद्धव, तुम्हारे इस योग-चर्चा से तो हमारे अंग में आग लग गई।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, तुम्हारी इन योग-रीतियों को (योग-साधना विषयक इन बातों को) तो सुनते ही हम लोगों के अंग-प्रत्यंग में आग लग गई (अंग-अंग वियोग की ताप से जलने लगा), हम तो वियोगाग्नि से पहले ही धीरे-धीरे सुलगती रही, किन्तु तुमने तो आकर योग-चर्चा रूपी फूँक से उस आग को और उद्दीप्त कर दिया। तुम हमारे लिए तो योग साधना का संदेश देते हो और कुब्जा को भोग की ओर प्रवृत्त करते हो, यह शिक्षा तुम्हें किसने दी है ? आज एक नयी बात सुनने को मिल रही है वह यह कि सिंह हाथी को छोड़ कर तिनके तोड़ रहा है। अर्थात् सिंह हाथी के मांस को न खाकर तिनकों को चर रहा है—यह एक असम्भव बात है। ठीक इसी प्रकार गोपियों को योग-साधना की ओर प्रवृत्त करना भी असम्भव है—प्रकृति के विरुद्ध है। हे उद्धव, ब्रह्मा ने जो भाग्य की रेखाएँ बनायी हैं वे मिटती नहीं अर्थात् भाग्य में जो लिखा है उसे तो भोगना ही है। सूर के शब्दों में गोपियों का कथन है कि भगवान की कृपा जिस पर होती है उसे समस्त सिद्धियों की प्राप्ति हो जाती है। आशय यह है कि भगवान की कृपा जब हमारे ऊपर भी होगी तब हमें भी सभी वस्तुओं की सिद्धि सहज रूप में हो जायगी।

टिप्पणी—

(1) 'सुलगि-सुलगि' में पुनरुक्ति प्रकाश अलंकार है।
(2) चौथी पंक्ति में अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार है।
(3) 'सूर हरि की कृपा .... सिद्धि भई' में पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त के प्रति संकेत है जिसमें भगवान के सहज अनुग्रह का उल्लेख होता है।
(4) 'कर्मरेख ...... ठई' में मध्यकालीन भाग्यवादी दृष्टिकोण का उल्लेख हुआ है।

राग धनाश्री

ऊधो ! जान्यो ज्ञान तिहारो।
जानै कहा राजगति-लीला अन्त अहीर बिचारो॥
हम सबै अयानी, एक सयानी, कुबजा सों मन मान्यो।
आवत नाहिं लाज के मारे, मानहु कान्ह खिस्यान्यो॥
ऊधो ! जाहु बाँह धरि ल्याओ सुन्दरस्याम पियारो।
ब्याहौ लाख, धरौ दस कुबरी, अन्तहि कान्ह हमारो॥
सुन री सखी ! कछू नहिं कहिए माधव आवन दीजै।
जबहीं मिलैं सूर के स्वामी हाँसी करि करि लीजै॥ 94 ॥

शब्दार्थ—राजगति = राजनीति। लीला = रहस्य, मर्म। अन्त = अन्ततः। अयानी = अज्ञानी। मनमान्यो = पसन्द किया, प्रिय लगीं। लाज के मारे = लज्जा के कारण। खिस्यान्य = लज्जित हो गया है। बाँह धरि = हाथ पकड़ कर। अंतहि = अन्त में। हाँसी करि-करि लीजै = उनका उपहास किया जाय। धरो = बिठा लो, रख लो।

सन्दर्भ—गोपियाँ उद्धव के ज्ञान की आलोचना करती हुई श्रीकृष्ण के व्यवहारों की निंदा कर रही हैं और उन्हें यह विश्वास है कि अहीर होने के नाते श्रीकृष्ण मथुरा की राजनीति को क्या समझें ? इसमें गोपियों के उपहास और व्यंग्य के अन्तर्गत उनकी संवेदनशीलता और कृष्ण के प्रति सहज अनुरक्ति का भाव अन्तर्हित है।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, अब तुम्हारे ज्ञान को हमने समझ लिया (हमने तुम्हारी चालाकी पकड़ ली—यह निर्गुण ज्ञान जो तुम हम सब को दे रहे हो, वह श्रीकृष्ण द्वारा प्रेषित नहीं हैं यह सब तुमने स्वयं सोचकर हमारे समक्ष रखा है) हमारा श्रीकृष्ण तो अन्ततः अहीर ही है (भोला-भाला, अज्ञानी) वह इस प्रकार मथुरा की राजनीति को क्या समझे। तुम्हारी दृष्टि में हम सभी गोपियाँ अज्ञानी थीं और एक मात्र कुब्जा ही चतुर और बुद्धिमान थी, इसी से श्रीकृष्ण ने हमें छोड़ कर चतुर कुब्जा को वरण किया—उसे पसन्द किया। लगता है कुब्जा से प्रेम करने पर उन्हें दुख हुआ, वे बहुत लज्जित हैं, क्योंकि कुब्जा से तो प्रेम सम्बन्ध तुमने करवाया था और उन्हें इस जाल में फँसा दिया। अब वे अपनी इस गलती को अनुभव करके लज्जित हैं, इसीलिए यहाँ मुँह दिखाना नहीं चाहते। लेकिन उद्धव जी, आप प्रिय श्याम सुंदर के हाथ को पकड़ कर हमारे पास ले आवें, हम उनकी इस भूल की कुछ भी निंदा नहीं करेंगी, वे भले ही लाखों विवाह करें—एक नहीं दस कूबरी को बिठा लें, हमें इसका लेशमात्र भी दुख नहीं है, क्योंकि हम सब जानती हैं कि अन्ततः श्रीकृष्ण हमारे ही हैं (यहाँ गोपियों के एकनिष्ठ प्रेमभाव का निरूपण है) गोपियाँ इसके पश्चात् अपनी सखियों से कहने लगीं—हे सखी, सुनो अभी तो श्रीकृष्ण को आने दो, उन्हें कुछ मत कहो। हाँ, जब वे यहाँ आ जायें तो इस अज्ञानता का बोध कराने के लिए उनसे कुछ हँसी-मजाक करके अपने मन को संतुष्ट कर लेना।

टिप्पणी—

(1) 'अन्त अहीर विचारो' में हाव की दृष्टि से इसमें 'बिब्बोक' हाव है, क्योंकि गोपियाँ कृत्रिम रूप से श्रीकृष्ण का उपहास कर रही हैं, लेकिन इसमें उनके हृदय की सच्ची प्रेमानुभूति की अभिव्यक्ति हुई है।

(2) उपहास और व्यंग्य की दृष्टि से यह एक उत्तम रचना है।
(3) छठीं पंक्ति में वस्तु से वस्तु व्यंजित है। अर्थात् श्रीकृष्ण भले ही कुबरी जैसी दासी से प्रेम करें हमें आपत्ति नहीं है किन्तु अन्ततः हमारे ही हैं—वे कुब्जा के नहीं हो सकते। दूसरा व्यंग्य यह है कि कुब्जा के वासनात्मक प्रेम में वे भूल कर भी नहीं फँसेंगे, वे तो अन्ततः हम सबों के अनाविल एवं स्वार्थरहित प्रेम की कद्र करेंगे।
(4) 'ब्याहो लाख धरो दस कुबरी' में असूया संचारी भाव है।
(5) सातवीं पंक्ति में गोपियों की तितिक्षा का भाव व्यंजित है।

राग केदारो

उर में माखनचोर गड़े।
अब कैसेहू निकसत नहिं ऊधो ! तिरछे ह्वै जु अड़े॥
जदपि अहीर जसोदानंदन तदपि न जात छँड़े।
वहाँ बने जदुबंस महाकुल हमहिं न लगत बड़े॥
को बसुदेव, देवकी है को, ना जानैं औ बूझैं।
सूर स्यामसुन्दर बिनु देखे और न कोऊ सूझैं॥ 95 ॥

शब्दार्थ—गड़े = चुभ गये। कैसेहू = किसी भी प्रकार। छँड़े = छोड़े। बूझैं = समझती हैं। सूझैं = दिखाई देता है।

सन्दर्भ—श्रीकृष्ण की त्रिभंगी मुद्रा के प्रति गोपियों का ऐसा अनुराग है कि उसे किसी प्रकार से विस्मृत नहीं किया जा सकता। अपनी यह विवशता गोपियाँ उद्धव जी को बतला रही हैं।

व्याख्या—गोपियाँ श्रीकृष्ण के त्रिभंगी रूप का ध्यान हृदय से न निकलने का कारण उद्धव से बताती हुई कह रही हैं—हे उद्धव, हमारे हृदय में मक्खन चोर (श्रीकृष्ण) का त्रिभंगी रूप ऐसा गड़ गया है—ऐसा चुभ गया है—जो निकालने पर किसी भी प्रकार नहीं निकल पा रहा है। आशय यह है कि वे टेढ़े ढंग से हृदय में अड़ गये हैं (त्रिभंगी रूप में—तीन जगह से टेढ़े रूप में हृदय में धँसे हैं—यदि एक जगह टेढ़े हों तो निकल भी आवें, लेकिन वे तो तीन जगहों से टेढ़े हैं सीधी वस्तु में टेढ़ी वस्तु—वह भी यदि तीन जगह से टेढ़ी हो—अटक जाय तो उसे निकालना अति कठिन बात है—उसी प्रकार सरल हृदय में त्रिभंगी मूर्ति ऐसी अड़ गयी है कि उसे कैसे निकाला जाय ? यद्यपि आपके कथनानुसार वे यशोदा के पुत्र और अहीर हैं फिर भी हमारा उनसे ऐसा प्रेम है कि उन्हें छोड़ते नहीं बनता (हमारे लिए वे सब कुछ हैं आप भले ही उन्हें साधारण मानें)। मथुरा में जाकर वे भले ही महान यदुवंश के राजा बन गये हों—लेकिन उनका यह गौरव पूर्ण पद हमें अच्छा नहीं लगता। हमें तो उनका वह अहीर जाति का रूप ही मोहक है। हम सब यह नहीं जानती और नहीं समझतीं कि वसुदेव कौन हैं और देवकी कौन हैं ? कहने का आशय यह है कि हम उन्हें नन्द और यशोदा के नन्दन के रूप में ही देखती हैं। (श्रीकृष्ण का यही रूप हम लोगों के हृदय में बस गया है)। सूरदास के शब्दों में गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि हे उद्धव, हमें श्याम सुन्दर के रूप को देखे बिना अन्य कुछ भी दिखाई नहीं देता तात्पर्य यह है कि हमें उनके बिना कुछ भी अच्छा नहीं लग रहा है।

टिप्पणी—

(1) पूरे पद में भाव-प्रेरित वचन-वक्रता की प्रधानता है।
(2) उक्ति वैचित्र्य विधान का यह एक अच्छा नमूना है।
(3) कदाचित सूर की इस उक्ति के आधार पर ही बिहारी ने इस दोहे की रचना की है—

करौ कुबत जग कुटिलता तजौं न दीन दयाल।
दुखी होहुगे सरल चित बसत त्रिभंगी लाल॥

राग सारंग

गोपालहिं कैसे कै हम देति ?
ऊधो की इन मीठी बातन निर्गुन कैसे लेति ?
अर्थ, धर्म, कामना सुनावत सब सुख मुकुति-समेति।
जे व्यापकहिं बिचारत बरनत निगम कहत हैं नेति॥
ताकी भूलि गई मनसाहू देखहु जौ चित चेति।
सूर स्याम तजि कौन सकत है, अलि, काकी गति एति॥ 96 ॥

शब्दार्थ—कैसे कै हम देति = कैसे दे सकती हैं ? कैसे लेति = कैसे ग्रहण कर सकती हैं। कामना = काम। ब्यापकहिं = व्यापक ब्रह्म के सम्बन्ध में। निगम = वेद। नेति—न + इति = (जिसका अन्त नहीं है)। ताकी = उसकी। मनसाहू = बुद्धि भी। भूलि गई = चकरा गई, चकित हो गयी। चित चेति = मन में विचार करके। काकी गति = किसी क्षमता। एति = इतनी।

सन्दर्भ—गोपियाँ उद्धव को सुनाती हुई परस्पर कह रही हैं कि उद्धव की इन मीठी बातों में पड़ कर कौन गोपाल की उपासना (सगुणोपासना) को छोड़ सकता है ? गोपियाँ किसी भी रूप में सगुणोपासना का त्याग निर्गुणोपासना के लिए नहीं कर सकतीं, यही इस पद का मुख्य भाव है।

व्याख्या—गोपियाँ परस्पर कह रही हैं—हे सखी, हम सब गोपाल को कैसे दे सकती हैं ? और उद्धव की इन खुशामद भरी मीठी-मीठी बातों में पड़ गोपाल को देकर (उनकी उपासना छोड़कर) कौन निर्गुण ब्रह्म की उपासना को ग्रहण करेगा ? अरी सखी, जो उद्धव मुक्ति (मोक्ष) सहित धर्म, अर्थ और काम की साधना से सब सुखों की प्राप्ति की बात करते हैं और जो ब्रह्म की व्यापकता पर सदैव विचार करते हैं और उसका निरूपण करते फिरते हैं जिसे वेद नेति-नेति (जिसका अन्त नहीं है=जो अनन्त है) कहते हैं, उनकी भी बुद्धि यदि विचार करके देखें तो चकरा जाती है, वे निर्गुण ब्रह्म के सम्बन्ध में कुछ कह नहीं पाते अतः ऐसी दशा में श्रीकृष्ण को छोड़ने में कौन समर्थ हो सकता। सूर के शब्दों में गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि हे भ्रमर (उद्धव), किसकी इतनी गति (क्षमता) है जो उस निर्गुण के लिए अपने सगुण गोपाल को त्याग दे।

टिप्पणी—

(1) गोपियाँ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के सुख से बढ़कर गोपाल की सगुणोपासना में सुख का अनुभव करती हैं।

(2) प्रथम पंक्ति में काकुवक्रोक्ति अलंकार है।
(3) गोपियों ने इसमें निर्गुणोपासना का खण्डन बहुत ही तर्क-संगत पद्धति से किया है।
(4) प्रथम और अंतिम पंक्ति में गोपियों का गोपाल के प्रति सच्चा मोह और आसक्ति व्यंजित हुई है।

राग गौरी

उपमा एक न नैन गही।
कबिजन कहत कहत चलि आए सुधि, करि करि काहू न कही॥
कहे चकोर, मुख-बिधु बिनु जीवन; भँवर न, तहँ उड़ि जात।
हरिमुख-कमलकोस बिछुरे तें ठाले क्यों ठहरात ?
खंजन मनरंजन जन जौ पै, कबहुँ नाहि सतरात।
पंख पसारि न उड़त, मंद ह्वै समर-समीप बिकात॥
आए बधन व्याध ह्वै ऊधो, जौ मृग, क्यों न पलाय ?
देखत भागि बसै घन बन में जहँ कोउ संग न धाय॥
ब्रजलोचन बिनु लोचन कैसे ? प्रति छिन अति दुख बाढ़त।
सूरदास मीनता कछू इक, जल भरि संग न छाँड़त॥ 97 ॥

शब्दार्थ—गही = ग्रहण की, उपयुक्त समझना। उपमा = उपमान। सुधिकरि = विचारपूर्वक। काहू = किसी ने भी। मुख-बिधु = चन्द्रमुख। ठाले = अभाव में। ठहरात = ठहरते, रुकते। मनरंजन जन = लोगों को प्रसन्न करने वाले। जोपै = यदि। सतराज = नाराज होना, खीझना। पसारि = फैलाकर। मन्द है = शिथिल होकर। समर = (सं० स्मर) कामदेव। बिकात = वशीभूत हो जाते हैं। ब्याध = बहेलिया। क्यों न पलाय = भाग क्यों नहीं जाते। घन बन = सघन जंगल। धाय = दौड़ना। ब्रजलोचन = श्रीकृष्ण। मीनता = मछली का गुण। जल भरि संग न छांड़त = जल भर कर उसका (जल का) साथ नहीं छोड़ते (नेत्र आँसुओं से भरे रहते हैं)।

सन्दर्भ—इस पद में गोपियों का कथन है कि उनके नेत्रों के सम्बन्ध में जो भी उपमाएँ दी गयीं वे सब की सब अनुपयुक्त और झूठी हैं। इसका कारण बताती हुई कह रही हैं।

व्याख्या—(गोपियों के कथनानुसार नेत्रों की एक भी उपमा उपयुक्त नहीं प्रतीत हुई। हमारे नेत्रों ने कवियों द्वारा दी गयी किसी भी उपमा को ग्रहण नहीं किया—किसी भी उपमान को उपयुक्त नहीं समझा।) यद्यपि परम्परा से कविगण नेत्रों की उपमाएँ देते चले आए हैं, किन्तु विचारपूर्वक किसी भी कवि ने नेत्रों के उपयुक्त उपमान नहीं चुना। कवियों ने इन नेत्रों की उपमा चकोर पक्षी से दी है, लेकिन यदि ये चकोर होते तो श्रीकृष्ण के चन्द्रमुख के बिना कैसे जीवित रहते ? (चकोरों का तो जीवन चन्द्र-रस पान के आधार पर चलता है, इसके बिना वे जीवित नहीं रहते, अतः सिद्ध है कि चकोर उपमान भी नेत्रों के लिए ठीक नहीं है। नेत्रों की उपमा भ्रमर से दी जाती है, किन्तु ये भ्रमर होते तो श्रीकृष्ण के कमलमुख पर मँडराते रहते और उनके चले जाने पर वहीं उड़ कर चले जाते, पर ये तो यहीं हैं, भला श्रीकृष्ण के कमल मुख कोश के अभाव में यहाँ क्यों ठहरते—यहाँ क्या स्थिर बने रहते ? अब निश्चित हो गया कि ये भ्रमर भी नहीं हैं और भ्रमर की जो उपमा इन नेत्रों के सम्बन्ध में दी गयी है, वह गलत है। लोग नेत्रों की उपमा

खंजन पक्षी से देते हैं, इस आधार पर यदि ये लोगों का मनरंजन करने वाले खंजन पक्षी हैं और ये कभी नाराज नहीं होते, सदैव प्रसन्न रहते हैं तो श्रीकृष्ण के जाने पर पंख फैला कर वहीं ये उड़ क्यों नहीं जाते और उन्हें प्रसन्न क्यों नहीं करते ? ये तो शिथिल होकर काम के निकट बिक जाते हैं—काम के वशीभूत हो जाते हैं—तात्पर्य यह है कि इनमें काम का प्रभाव बना रहता है। अतः इन्हें खंजन पक्षी कहना निराधार है। इन्हें मृग की भी उपमा दी जाती है, किन्तु ये मृग होते तो जो बधिक रूप उद्धव बध करने के लिए (अपने निर्गुण-ज्ञान की नीरस और कठोर वाणी से प्रहार करने के लिए) यहाँ आए हैं, उन्हें देख कर भाग क्यों नहीं गये क्योंकि मृग तो बधिकों को देखते ही ऐसे सघन वन में भाग जाते हैं जहाँ कोई उनके पीछे वहाँ तक नहीं पहुँच पाता। इन्हें लोचन (लुच् धातु से यह शब्द बना है जिसका अर्थ देखना है) भी कैसे कहा जाय, क्योंकि ये ब्रजलोचन श्रीकृष्ण के दर्शन के बिना भी जीवित हैं और प्रत्येक क्षण इनका दुख बढ़ रहा है। सूरदास के शब्दों में गोपियों का कथन है कि इन नेत्रों में कुछ मछली का गुण अवश्य है—एक मात्र मीनत्व ही इनमें बचा है—क्योंकि जल भर कर भी ये उसे छोड़ते नहीं, सदैव आँसुओं से भरे रहते हैं। आशय यह है कि जिस प्रकार मीन जल का साथ नहीं छोड़ता ठीक मीन के गुणों वाले हमारे नेत्र भी सदैव जल से भरे रहते हैं (जल की कमी नहीं रहती)।

टिप्पणी—

(1) कवि प्रसिद्धि के अन्तर्गत कवियों ने जिन उपमानों का कथन किया है प्रायः सभी प्रमुख उपमानों का इसमें उल्लेख हुआ है।
(2) तृतीय, चतुर्थ और षष्ठ चरणों में रूपक का प्रयोग हुआ है।
(3) नेत्र विषयक उक्ति-भंगिमा का यह एक सुंदर उदाहरण है।
(4) मीनता में परिकरांकुर अलंकार का प्रयोग हुआ है।
(5) प्रथम में व्यतिरेक और द्वितीय पंक्ति में उपमानों की अनुपयुक्तता का सकारण उल्लेख होने के कारण काव्य लिंग अलंकार है।
(6) 'ब्रजलोचन' में परिकर अलंकार है।

राग गौरी

हरिमुख निरखि निमेख बिसारे।
ता दिन तें मनो भए दिगंबर इन नैनन के तारे॥
घूँघट-पट छाँड़े बीथिन महँ अहनिसि अटत उघारे।
सहज समाधि रूप रुचि इकटक टरत न टक तें टारे॥
सूर, सुमति समुझति, जिय जानति, ऊधो ! बचन तिहारे।
करैं कहा ये कह्यो न मानत लोचन हठी हमारे॥ 98 ॥

शब्दार्थ—निमेख = (सं. निमेष) पलक। बिसारे = पलक गिराना भूल गये। दिगम्बर = नग्न। बीथिन = गलियों में। घूँघट-पट = घूँघट रूपी वस्त्र। अहनिसि = दिन-रात। अटत = घूमते रहते हैं। उघारे = नग्न। रूप रुचि = श्रीकृष्ण के सौन्दर्यानुराग में। टक = निर्मिमेष, टकटकी बाँधना। टरत = हटना। टारे = हटाने से भी।

सन्दर्भ—इसमें श्रीकृष्ण के रूपाकर्षण में मुग्ध गोपियों के नेत्रों का वर्णन किया गया है।

गोपियों के हठी नेत्र बहुत प्रयास करने पर भी श्रीकृष्ण के सौन्दर्याकर्षण से मुक्त नहीं हो पाते। वे टकटकी बाँधकर निरन्तर उन्हीं को देखा करते हैं। गोपियाँ अपने हठी नेत्रों की इस विवशता का उल्लेख उद्धव से कर रही हैं।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, हमारे इन नेत्रों ने श्रीकृष्ण के मुख-सौन्दर्य को देखते ही अपनी पलकों को गिराना भूल गये (श्रीकृष्ण के मुख सौन्दर्य को ये निर्निमेष देखा करते हैं) ऐसा लगता है कि इन नेत्रों के तारे (पुतलियाँ) उसी दिन से पलक रूपी वस्त्रों को त्याग कर मानो दिगम्बर (नग्न) साधु हो गये हों (क्योंकि जिस दिन से श्रीकृष्ण को देखा है इन नेत्रों की पुतलियाँ बन्द नहीं होतीं)। ये लज्जा-मर्यादा को भी भूल गये और घूँघट रूपी वस्त्रों को त्याग कर सर्वथा नग्न गलियों में दिन-रात घूमा करते हैं। ये श्रीकृष्ण के सौन्दर्यानुराग में सहज रूप से योगियों की भाँति समाधिस्थ हो गये हैं और टकटकी बाँधकर एकटक (निर्निमेष) उन्हें देखा करते हैं, बहुत हटाने पर भी अपनी इस मुद्रा (टकटकी बाँधकर देखने की मुद्रा) से हटते नहीं। हे उद्धव, हम अपनी अच्छी बुद्धि से तुम्हारी बातों को समझती हैं और मन में अनुभव भी करती हैं, लेकिन करें भी तो क्या करें, ये हमारे हठी नेत्र हमारा कहना ही नहीं मानते (ये श्रीकृष्ण के सौन्दर्य में इस प्रकार मग्न रहते हैं कि किसी की भी बात इन्हें अच्छी नहीं लगती)।

टिप्पणी—

(1) दूसरी पंक्ति में उत्प्रेक्षा अलंकार है।
(2) 'घूँघट-पट' में रूपक अलंकार है।
(3) नेत्रों में मानवीकरण की प्रवृत्ति है।
(4) श्रीकृष्ण के लोकोत्तर सौन्दर्य के प्रभाव का निरूपण है।

राग सारंग

दूर करहु बीना कर धरिबो।
मोहे मृग नाहीं रथ हाँक्यो, नाहिंन होत चंद को ढरिबो॥
बीती जाहि पै सोई जानै कठिन है प्रेम-पास को परिबो।
जब तें बिछुरे कमलनयन, सखि, रहत न नयन नीर को गरिबो॥
सीतल चंद अगिनि-सम लागत कहिए धीर कौन बिधि धरिबो।
सूरदास प्रभु तुम्हरे दरस बिनु सब झूठो जतननि को करिबो॥ 99॥

शब्दार्थ—बीना कर धरिबो = हाथ में वीणा धारण करना। ढरिबो = अस्त होना। जाहि पै = जिस पर। प्रेम-पास = प्रेम-पाश (प्रेम का जाल)। परिबो = पड़ना। गरिबो = गिरना। झूठे = निरर्थक। जतननि = प्रयत्नों को।

सन्दर्भ—इसमें राधा की वियोगावस्था का एक मार्मिक चित्र प्रस्तुत किया गया है। राधा की वियोग-पीड़ा को दूर करने के लिए किसी सखी ने हाथ में वीणा लेकर बजाना आरम्भ कर दिया। वीणा की मधुर ध्वनि सुनकर चन्द्रमा के रथ के मृग मोहित हो गये और रात्रि बड़ी हो गयी। राधा को रात्रि के बढ़ जाने से बहुत कष्ट हुआ अतः वह अपनी सखी से निवेदन कर रही है कि वह अपने हाथ की वीणा को दर रख दे उसे न बजाए।

व्याख्या—वियोगिनी राधा अपनी सखी से कह रही है, हे सखी, तुम अपने हाथ में वीणा मत धारण करो, उसे हटा दो (आशय यह है कि इस वीणा से मधुर ध्वनियाँ मत निकाल) क्योंकि इसकी मधुर ध्वनियों को सुनकर चन्द्रमा के रथ में जुता हुआ मृग मोहित हो गया और इससे रथ का चलना बंद हो गया तथा चन्द्रमा भी अस्त नहीं हो रहा है व्यंजना यह है कि इसके कारण रात्रि बढ़ गयी (रात्रि का बढ़ना वियोगिनियों के लिए अत्यंत कष्टप्रद होता है)। हे सखी, जिस पर बीतता है वही इस कष्ट को जानता है, वस्तुतः प्रेम के पाश में पड़ना बहुत ही दुखदायी होता है। ईश्वर करे कोई प्रेम-जाल में न फँसे। हमारी दशा तो यह है कि जब से श्रीकृष्ण से वियोग हुआ है हमारे नेत्रों से अश्रु-पात का होना बन्द नहीं होता। हे सखी, मुझे तो इस वियोग में शीतल चन्द्रमा भी अग्नि के समान तापदायक लगता है, अतः तुम्हीं बताओ ऐसी विषम स्थिति में किस प्रकार धैर्य धारण करें। सूरदास के शब्दों में राधा अपनी सखी से कह रही है कि तुम हमें सुख पहुँचाने के लिए बहुत प्रयत्न कर रही हो, लेकिन श्रीकृष्ण के दर्शन के बिना ये सभी प्रयत्न निरर्थक और बेकार हैं—इनसे किसी भी प्रकार का सुख नहीं मिल सकता।

टिप्पणी—

(1) इस प्रकार की उक्ति जायसी के पद्मावत में भी मिली है 'गहे बीन मकु रैन बिहाई। ससि वाहन तहँ रहे ओनाई।'

(2) इसमें चाँदनी रात का उद्दीपन की दृष्टि से वर्णन हुआ है।

(3) दूसरी पंक्ति में अतिशयोक्ति अलंकार और जड़ता संचारी भाव है।

(4) चौथी पंक्ति में अश्रु संचारी भाव है।

(5) 'सीतल .....लागत' में धर्मलुप्तोपमा अलंकार है। इसके अतिरिक्त इस पद में विषादन अलंकार भी है। इसमें अलंकार से वस्तु ध्वनि भी है। शीतल चन्द्रमा का अग्नि के समान तापदायक प्रतीत होना वियोगिनी के दुख की अतिशयता रूप वस्तु व्यंजित करता है।

(6) 'मोहे मृग ....रथ हाँक्यो' में उत्प्रेक्षा की झलक है।

(7) अंतिम पंक्ति में विशेष कारण होने पर भी कार्य-सिद्धि नहीं हो पा रही है, इस कारण इसमें विशेषोक्ति अलंकार है।

राग जैतश्री

अति मलीन वृषभानुदुलारी।
हरि-स्रमजल अंतर-तनु भीजे ता लालच न धुआवति सारी॥
अधोमुख रहति उरध नहिं चितवति ज्यों गथ हारे थकित जुआरी।
छूटे चिहुर बदन कुम्हिलाने, ज्यों नलिनी हिमकर की मारी॥
हरि-सँदेस सुनि सहज मृतक भई, इक बिरहिनि दूजे अलि जारी।
सूर स्याम बिनु यों जीवति हैं ब्रजबनिता सब स्यामदुलारी॥ 100॥

शब्दार्थ—मलीन = उदासीन। वृषभानु दुलारी = राधा। हरि श्रम-जल = श्रीकृष्ण के सात्विक प्रेमोद्रेक से उत्पन्न पसीना। अन्तर तनु = हृदय और शरीर। अधोमुख = नीचे किए मुख। उरध = ऊर्ध्व, ऊपर। चितवति = देखती है। गथ = धन, पूँजी। जुआरी = जुँआ

खेलने वाला। थकित = उदासीन। चिहुर = बाल। बदन = मुख। नलिनी = कमलिनी। हिमकर = तुषार, पाला। अलि = भ्रमर (उद्धव)।

सन्दर्भ—इसमें वियोगिनी राधा की मार्मिक दशा का वर्णन किया गया है। राधा एक तो वियोग की व्यथा से संतप्त थी ही दूसरे उद्धव ने योग-संदेश की चर्चा से उसे और जला दिया। इसी बात को लेकर गोपियाँ परस्पर चर्चा कर रही हैं।

व्याख्या—अरी सखी, राधा तो अत्यंत मलीन दीखती है (वह मन और शरीर दोनों से ही मलीन है) श्रीकृष्ण के सात्विक प्रेमोद्रेक-जन्य पसीना से उसका हृदय और शरीर दोनों ही भीग उठा है। इसके कारण उसकी साड़ी मैली हो गयी है (उस पसीने से उसकी साड़ी मैली हो गयी है)। वह अपनी साड़ी इस लालच से नहीं धुलवा रही है कि इसमें श्रीकृष्ण के सात्विक प्रमोद्रेक-जन्य पसीने की गन्ध मिलती है जो सम्बन्ध भावना के कारण अति प्रिय है, साड़ी को धुलवाने पर उस पसीने की गन्ध नहीं मिलेगी। वह सदैव अपने मुख को नीचे किए हुए (आनत मुख) बैठी रहती है, ऊपर की ओर देखती ही नहीं। उसकी ऐसी दशा देखकर ऐसा लगता है जैसे कोई जुआड़ी जुएँ में अपनी पूँजी हार कर उदासीन आनत मुख बैठा हो। राधा के बाल बिखरे हुए हैं (शृंगार न करने के कारण इसके बाल बिखर गए हैं) इसका मुख कुम्हलाया हुआ दिखाई पड़ता है—ऐसे मुख को देखकर लगता है कि जैसे कमलिनी तुषार पड़ने पर जल गयी हो (कमल या कमलिनी पर जब तुषार का प्रभाव पड़ता है तो उसका सौन्दर्य भी नष्ट हो जाता है)। वह श्रीकृष्ण के वियोग में पहले ही संतप्त थी, दूसरे जब उद्धव द्वारा श्रीकृष्ण का सन्देश (योग-साधना का संदेश) सुना तो सहज ही मृतक तुल्य हो गयी। सूर के शब्दों में ऐसी दशा केवल राधा की ही नहीं है बल्कि श्रीकृष्ण की सभी प्रियतमाएँ वियोग की ऐसी दारुण पीड़ा को सहती हुई जीवित रह रही हैं।

टिप्पणी—

(1) द्वितीय पंक्ति में सात्विक अनुभाव है।

(2) तीसरी पंक्ति में चाक्षुष बिम्ब की प्रधानता है और उपमा अलंकार है।

(3) प्रथम दो चरणों में सकारण पूर्व कथन का उत्तर कथन द्वारा संपुष्टि हो रही है, इससे इसमें काव्य लिंग है।

(4) नायिका भेद की दृष्टि से इसमें प्रोषितपतिका नायिका है।

(5) पाँचवीं पंक्ति में विरह की दसवीं अवस्था 'मरण' का उल्लेख हुआ है।

(6) विषाद, विवर्ण, चिन्ता आदि संचारी भावों की प्रधानता है।

(7) चौथी पंक्ति में उत्प्रेक्षा अलंकार है।

राग मलार

ऊधो ! तुम हौ अति बड़भागी।
अपरस रहत सनेहतगा तें, नाहिंन मन अनुरागी॥
पुरइनि-पात रहत जल-भीतर ता रस देह न दागी।
ज्यों जल माँह तेल की गागरि बूँद न ताके लागी॥
प्रीति-नदी में पावँ न बोर्‌यो, दृष्टि न रूप परागी।
सूरदास अबला हम भोरी गुर चींटी ज्यों पागी॥ 101 ॥

शब्दार्थ—अपरस = अनासक्त, दूर। सनेहतगा = स्नेहसूत्र। पुरइनि-पात = कमल का पत्र (पद्मपत्रमिवाम्भसा)। देह न दागी = देह में दाग नहीं लगाया। प्रीति नदी = प्रेम की नदी। बोर्‌यो = डुबाया। रूप-परागी = सौन्दर्य के पराग में अनुरक्त। भोरी = भोली-भाली। गुर चीटी ज्यों = जैसे गुड़ में चींटी। पागी = चिपट गयी।

सन्दर्भ—इस पद में गोपियाँ उद्धव की नीरसता और शुष्कता के सम्बन्ध में व्यंग्य गर्भित शैली में कह रही हैं कि सचमुच उद्धव जी ही सबसे भाग्यशाली हैं जो किसी से प्रेम करना नहीं जानते।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, तुम्हीं सबसे अच्छे और भाग्यशाली हो जो समस्त प्रेम-सूत्रों (प्रेम-बंधनों) से अनासक्त (दूर) हो और किसी में भी तुम्हारा मन अनुरक्त नहीं है। तात्पर्य यह है कि तुम अत्यंत अभागे हो जो प्रेम-रस को नहीं समझते, क्योंकि जीवन में सबसे महान् प्रेम ही है। तुम्हारी दशा तो उस कमल-पत्र की भाँति है जिसने जल के भीतर रहते हुए भी जल से अपने शरीर में दाग नहीं लगाया (जल का प्रभाव कमल-पत्र पर बिल्कुल नहीं पड़ा) आशय यह है कि तुम रहते तो श्रीकृष्ण के निकट हो, लेकिन उनके प्रेम से सदैव अनासक्त रहे। यही नहीं, जैसे जल में तेल की गगरी (घट) को डुबा दिया जाय तो उस पर जल की एक बूँद भी ठहर नहीं पाती, उसी प्रकार तुम्हारा मानस भी तेल की गगरी की भाँति है जिस पर प्रेम की एक बूँद भी नहीं रुकती (तुम प्रेम को लेशमात्र भी नहीं समझते)। तुम प्रेम के सम्बन्ध में क्या जानो जब कि तुमने कभी न तो प्रेम की नदी में अपने पाँव को निमज्जित किया और न श्रीकृष्ण के सौन्दर्य पराग में तुम्हारी दृष्टि ही अनुरक्त हुई। सूरदास के शब्दों में गोपियों का कथन है कि सबसे पगली और भोली-भाली हम अबलाएँ ही हैं जो गुड़ और चींटी की भाँति श्रीकृष्ण की रूप-माधुरी में चिपट गयीं।

टिप्पणी—

(1) अति बड़भागी में अत्यंत तिरस्कृत वाच्य ध्वनि है, क्योंकि यहाँ इसका अर्थ अभागा से है।

(2) तीसरी और चौथी पंक्ति में उपमा अलंकार है और प्रीति-नदी में रूपक है।

(3) गुड़ और चींटी की भाँति चिपट जाने में श्रीकृष्ण के प्रति गोपियों के प्रेम-भाव की अनन्यता व्यंजित हुई है। इसमें उपमा भी है।

राग मलार

ऊधो ! यह मन और न होय।
पहिले ही चढ़ि रह्यो स्याम-रँग छुटत न देख्यो धोय॥
कैतव-बचन छाँड़ि हरि हमको सोइ करैं जो मूल।
जोग हमैं ऐसो लागत है ज्यों तोहि चंपक फूल॥
अब क्यों मिटत हाथ की रेखा ? कहौ कौन बिधि कीजै ?
सूर स्याममुख आनि दिखाओ जाहि निरखि करि जीजै॥ 102 ॥

शब्दार्थ—और न होय = दूसरा नहीं हो सकता—बदल नहीं सकता। स्यामरंग = कृष्ण का रंग (प्रेम)। कैतव = छल, कपट। हमको = हमारे लिए। जो मूल है, जो वास्तविक है अर्थात्

प्रेम। कौन बिधि = कौन उपाय। आनि = ले आकर। जाहि निरखि = जिसे देखकर। जीजै = जीवित रह सकूँ।

सन्दर्भ—उद्धव निर्गुण की चर्चा द्वारा गोपियों के मन को बदलना चाहते हैं, लेकिन गोपियाँ अपनी विवशता व्यक्त करती हुई कह रही हैं कि उनका मन तो पहले ही से श्याम-वर्ण में रंग चुका है, अतः अब इस मन पर दूसरा प्रभाव नहीं पड़ सकता।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, यह मन दूसरा नहीं हो सकता—इस पर अन्य प्रभाव नहीं पड़ सकता, क्योंकि तुम्हारे निर्गुण ब्रह्म के उपदेश के पूर्व इस पर श्याम-रंग (कृष्ण का प्रगाढ़ प्रेम) चढ़ चुका है—और हमने भली-भाँति धोकर देख लिया कि वह किसी भी प्रकार छूट नहीं रहा है आशय यह है कि हमारा मन श्रीकृष्ण के प्रेम में इतना रंग गया है कि उसे बदलना संभव नहीं, उसे तुम चाहो भी तो निर्गुणोपासना की ओर उन्मुख नहीं कर सकते। तुम्हें इसमें सफलता नहीं मिलेगी। और श्रीकृष्ण से यह अवश्य कह देना कि वे ऐसे छप-कपट की वाणी को छोड़कर (योग संदेश को न भेज कर) जो वास्तविक प्रेम की बातें हैं, वहीं हम लोगों के साथ करें—वे मूल तत्व (प्रेम) को भूलकर अब छल-कपट की बातें करने लग गये हैं, हमारे लिए इस प्रकार का व्यवहार करना उन्हें शोभा नहीं देता। हे भ्रमर (उद्धव) हमें तो तुम्हारा योग उसी प्रकार लगता है जैसे तुम्हें चम्पा का पुष्प (कहा जाता है कि भ्रमर चम्पा के पुष्प के पास नहीं जाता, उसके प्रति उसका किसी भी प्रकार का लगाव नहीं है)। अब हमारी हस्त-रेखा को कौन मिटा सकता है ? तात्पर्य यह है कि भाग्य में तो श्याम का वियोग लिखा है और उसी की पीड़ा में जीवन समाप्त करना है अब दूसरी दिशा में—अन्य मार्ग पर कैसे जा सकती है। तुम्हीं बताओ कि इस रेखा को मिटाने का क्या उपाय है। सूर के शब्दों में गोपियों का उद्धव से कथन है कि हे उद्धव, यदि तुम हमें जीवित रखना चाहते हो तो श्रीकृष्ण के मुख का दर्शन करा दो जिसे देखकर इस निकलते हुए प्राणों की रक्षा कर सकें।

टिप्पणी—

(1) चम्पक और भ्रमर की काव्य रूढ़ियाँ अन्यत्र भी मिली हैं—मानस में इसका उल्लेख इस प्रकार हुआ है—

तेहि बन बसत भरत बिनु रागा।
चंचरीक जिमि चम्पक बागा॥

किसी अन्य कवि की एक उक्ति यों है—

चम्पा तोमें तीन गुण, रूप रंग औ बास।
अवगुण तो में एक हैं भ्रमर न आवै पास॥

(2) दूसरी पंक्ति का भाव सूर के पद में अन्यत्र भी मिला है। सूरदास की कारी-कामरि चढ़ै न दूजो रंग। पद्माकर ने इस उक्ति को इस रूप में ग्रहण किया है—

हौं तो स्याम रंग में चोराय चित्त चोराचोरी,
बोरत तौ बोर्‌यो पै निचोरत बनै नहीं॥

(3) रंग चढ़ना, हाथ की रेखा मिटाना जैसे मुहावरों से रचना की प्रभावशालिता बढ़ गयी है।

(4) 'स्यामरंग में श्लेष, चतुर्थ पंक्ति में उपमा और द्वितीय में लोकोक्ति अलंकार का प्रयोग हआ है।

राग गौड़

ऊधो ! ना हम बिरही, ना तुम दास।
कहत सुनत घट प्रान रहत है, हरि तजि भजहु अकास॥
बिरही मीन मरत जल बिछुरे छाँड़ि जियन की आस।
दास भाव नहिं तजत पपीहा बरु सहि रहत पियास॥
प्रकट प्रीति दसरथ प्रतिपाली प्रीतम के बनवास।
सूर स्याम सों दृढ़ब्रत कीन्हों मेटि जगत-उपहास॥ 103 ॥

शब्दार्थ—घट = शरीर। अकास = शून्य (निराकार ब्रह्म से अभिप्राय है)। बरु = बल्कि। प्रगट = प्रत्यक्ष, प्रामाणिक। प्रीतम = श्रीराम।

सन्दर्भ—इस पद में गोपियों का कथन यह है कि सच्चे अर्थों में न तो वे विरहिणी हैं और न उद्धव जी भगवान श्रीकृष्ण के सच्चे दास हैं। इन सब बातों का सकारण उल्लेख वे आगे कह रही हैं।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, सच्चे अर्थ में न हम विरहिणी हैं और न तुम श्रीकृष्ण के सेवक हो, क्योंकि जब तुम यह कहते हो कि श्रीकृष्ण को छोड़कर निर्गुण ब्रह्म की उपासना करो तो इसे सुनकर भी हमारे शरीर में प्राण बने रहते हैं—निकल नहीं जाते। तात्पर्य यह है कि यदि हम सब में कृष्ण के प्रति सच्चा प्रेम होता तो ऐसी बातें सुनते ही शरीर से प्राण निकल जाते और यदि तुम श्रीकृष्ण के सच्चे दास होते तो उन्हें छोड़कर निर्गुण ब्रह्म का गुण-गान न करते। सच्ची विरहिणी तो मछलियाँ हैं जो जल के न मिलने पर जीने की आशा छोड़ देती हैं। अर्थात् जल-विहीन होने पर वे एक क्षण के लिए भी जीवित नहीं रहतीं। सच्चा दास तो पपीहा है जो चाहे प्यासा भले रह जाए, लेकिन बादल के प्रति अपना दास भाव नहीं त्यागता। वह दासवृत्ति को बनाए हुए उसी से याचना करता है और प्यास के कष्ट को बर्दाश्त करता है। सच्चा प्रेम का निर्वाह तो राजा दशरथ ने किया जिन्होंने अपने प्रियतम श्रीराम के वन जाते ही अपने प्राणों को त्याग दिया—पुत्र-प्रेम में प्राणों का मोह नहीं किया। इन सबों की तुलना में हम सबका प्रेम एक दिखावा मात्र है। यद्यपि संसार के उपहास और मर्यादा की परवाह न करके हमने श्रीकृष्ण के प्रति सच्चे प्रेम का दृढ़ संकल्प ले लिया, किन्तु यह संकल्प सच्चे प्रेम को प्रभावित न कर सका (हम सब का यह संकल्प पूरा न हो सका)। और उनके वियोग में आज भी जीवित हैं (हमें मर जाना चाहिए था)।

टिप्पणी—

(1) इसमें सामान्य कथन की सकारण पुष्टि की गयी है, इस कारण काव्यलिंग अलंकार है। मीन, पपीहा और दशरथ का उदाहरण देने के कारण इसमें उदाहरण अलंकार है।

(2) इसमें आदर्श प्रेमियों का उल्लेख किया गया है।

(3) कथन की सहजता और स्वाभाविकता सराहनीय है।

(4) वस्तुतः सच्चा प्रेम तो आत्म-बलि पर निर्भर करता है। पं० रामनरेश त्रिपाठी ने इसी भाव की अभिव्यक्ति अपने एक छन्द यों में की है—

सच्चा प्रेम वही है जिसकी तृप्ति आत्मबलि पर है निर्भर।
त्याग बिना निष्प्राण प्रेम है, करो प्रेम पर प्राण निछावर॥

राग सोरठ

ऊधो ! कही सो बहुरि न कहियो।
जौ तुम हमहिं जिवायो चाहौ अनबोले ह्वै रहियो॥
हमरे प्रान अघात होत है, तुम जानत हौ हाँसी।
या जीवन तें मरन भलो है करवट लैबो कासी॥
जब हरि गवन कियौ पूरब लौं तब लिखि योग पठायो।
यह तन जरिकै भस्म ह्वै निबर्‌यो बहुरि मसान जगायो॥
कै रे ! मनोहर आनि मिलायो, कै लै चलु हम साथे।
सूरदास अब मरन बन्यो है, पाप तिहारे माथे॥ 104॥

टिप्पणी—बहुरि = पुनः, दुबारा। अनबोले = चुप, शान्त। अघात = आघात, चोट पहुँचना। करवट लैबो कासी = काशी में जाकर करपत्र (आरे) से अपने शरीर को चिरवा डालेंगी (पहले मोक्ष की कामना से लोग काशी में जाकर अपने शरीर को आरे से चिरवा डालते थे इसी को काशी करवट लेना कहते हैं।) पूरब लौं = पूर्व की ओर (यहाँ पूर्व से मथुरा का अभिप्राय है)। भस्म ह्वै निबर्‌यो = भस्म होकर ही रहा। मसान जगाना = शव पर बैठकर तंत्रशास्त्र के अनुसार सिद्धि प्राप्त करना। कै = या तो। आनि = ले आकर। मनोहर = श्रीकृष्ण। मरन बन्यो है = मरना निश्चित है।

सन्दर्भ—उद्धव द्वारा बार-बार निर्गुणोपासना पर बल देने के कारण गोपियाँ क्रुद्ध हो गयीं और कहने लगीं कि अब वे दुबारा निर्गुण-ज्ञान की चर्चा न करें, अन्यथा ठीक न होगा। गोपियों का मन उद्धव की अनर्गल बातों को सुनते-सुनते ऊब गया, अतः अब उनमें सहनशीलता की क्षमता नहीं रह गयी।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, जो तुमने निर्गुण ज्ञान विषयक तमाम बातें अभी तक कही हैं, अब दुबारा उन्हें मत कहना, क्योंकि ऐसी बातों को सुनना अब हमारे लिए असह्य है। हाँ, यदि तुम हमें जीवित रखना चाहते हो तो चुप होकर बैठिए—ज्यादा मत बोलो। तुम्हारे इन निर्गुण की बातों से हमारे हृदय में मर्मांतक चोट पहुँचती है, लेकिन तुम्हारे लिए यह मजाक जैसा है। अब तो इस जीवन से अच्छा तो मरना ही है (मर जाना अच्छा है, लेकिन वियोग की पीड़ा में निरन्तर जल-जल कर जीवित रहना अच्छा नहीं है)। अतः हम काशी जाकर अपने शरीर को करवट (आरे) से चिरवा लेंगी। जब तक श्रीकृष्ण ब्रज मण्डल में रहते रहे तब तक योग की एक भी बात उन्होंने नहीं की, लेकिन जब वे पूर्व की ओर (मथुरा) गये तभी से लिख-लिख कर योग का संदेशा भेजने लगे। लेकिन उन्हें जानना चाहिए कि उनके जाते ही वियोगाग्नि में यह शरीर भस्म होकर ही रहा, इस पर भी उन्होंने मृतक शरीर पर श्मशान न जगाया (शव पर बैठकर तंत्र शास्त्र के अनुरूप सिद्धि प्राप्त करने की चेष्टा की) कष्ट पर कष्ट दिया। आशय यह है कि हम सब तो पहले ही से पीड़ित थीं, इस पर हमें और जलाने के लिए अपना यह योग-संदेश उद्धव के द्वारा भिजवाया। ऐसी स्थिति में हे उद्धव, या तो तुम उन्हें लाकर हम सब को उनसे मिलाओ (उनका दर्शन कराओ) या तुम हमें अपने साथ मथुरा ही ले चलो। इन दोनों में यदि कोई बात नहीं मानते तो जान लो हमारा मरना अब निश्चित है और मर जाने पर यह पाप तुम्हारे ही सिर लगेगा (तुम्हें ही इस पाप को भोगना पड़ेगा)।

टिप्पणी—

(1) प्रथम पंक्ति में अमर्ष संचारी भाव है।

(2) मुहावरों के सफल प्रयोग के कारण भाषा की व्यंजकता बढ़ गयी है, 'करवट लैबो कासी', 'तुम जानत हौ हाँसी', 'मरन बन्यो हैं', 'पाप तिहारे माथे' जैसे प्रयोग निश्चय ही सूर के असाधारण भाषाधिकार की ओर संकेत करते हैं।

(3) गोपियों के आहत मन का यह एक विद्रोही स्वर है जो उनकी असहिष्णुता को व्यंजित करता है।

राग सारंग

ऊधो ! तुम अपनो जतन करौ।
हित की कहत कुहित की लागै, किन बेकाज ररौ ?
आय करौ उपचार आपनो, हम जो कहत हैं जी की।
कछू कहत कछुवै कहि डारत, धुन देखियत नहिं नीकी।
साधु होय तेहि उत्तर दीजै तुमसों मानी हारि।
याही तें तुम्हें नँदनंदनजू यहाँ पठाए टारि॥
मथुरा बेगि गहौ इन पायन, उपज्यौ है तन रोग।
सूर सुबैद बेगि किन ढूँढ़ौं भए अर्धजल जोग॥ 105 ॥

शब्दार्थ—जतन करौ = रोग से मुक्त होने का उपाय करो। हित की = भलाई की बातें। कुहित की = खराब। किन = क्यों। बेकाज = व्यर्थ। ररौ = रटते हो। (निर्गुण-निर्गुण की व्यर्थ रट लगाए फिरते हो)। उपचार = इलाज। धुन = रंग-ढंग। साधु होय = सज्जन हो। टारि = वहाँ से हटा कर। बेगि गहौ = जल्दी लौट जाओ। इन पायन = इन्हीं पाँवों से। सुबैद = अनुभवी वैद्य। किन ढूँढ़ौ = क्यों नहीं खोजते ? भये अर्धजल जोग = मरणासन्न हो गये हो, मरने के निकट हो गये हो (शव के दाह के पूर्व अर्घ जल देते हैं)।

सन्दर्भ—बार-बार निर्गुण ब्रह्म की वकालत करने पर गोपियाँ उद्धव से नाराज होकर उनका उपहास करती हैं और कहती हैं कि लगता है कि हे उद्धव, अब तुम विक्षिप्तावस्था को प्राप्त हो गये (क्योंकि तुम जितनी बातें करते हो वे तुम्हारे पागलपन को ही व्यंजित करती हैं, उत्तम यही होगा कि तुम शीघ्र यहाँ से निकल जाओ और किसी अनुभवी वैद्य से अपने शरीर और मन का इलाज करवाओ।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, अब हम समझ गयी हैं कि तुम बिल्कुल पागल हो चुके हो, तुम इससे बचने के लिए कुछ प्रयत्न करो। तुम जिस निर्गुण की बात हमारे हित के लिए करते हो वह हमें बुरी लगती है, फिर क्यों व्यर्थ में इसकी रट लगाए फिरते हो (क्यों बार-बार हमारी इच्छा के विरुद्ध निर्गुण का उपदेश देते फिरते हो)। हम तुम्हें हृदय से सलाह दे रही हैं कि तुम जाकर कहीं अपना इलाज करो, क्योंकि तुम कहने को कुछ और कह कुछ डालते हो, अर्थात् कहना कुछ और चाहते हो लेकिन तुम्हारे मुख से कुछ निकलता है, अतः तुम्हारा रंग-ढंग हमें कुछ अच्छा नहीं दिखाई पड़ता (आशय यह है कि तुम्हारा लक्षण खराब ही दिखलाई पड़ता है)। यदि कोई सज्जन और समझदार पुरुष हो तो उसकी बातों का उत्तर भी दिया जाय। तुम जैसे पागलों से तो हम सब अपनी हार स्वीकार करती हैं। लगता है,

तुम्हारे पागलपन से ऊब करके ही श्रीकृष्ण ने वहाँ से हटाकर तुम्हें हम लोगों के पास भेजा है। हमारी सलाह तो यह है कि तुम इन्हीं पाँवों शीघ्र मथुरा को लौट जाओ, क्योंकि तुम्हारे शरीर में जबर्दस्त रोग (सन्निपात) हो गया है। अब उत्तम यही होगा कि तुम शीघ्र ही किसी अनुभवी वैद्य को तलाश लो, क्योंकि तुम मरणासन्न हो चुके हो, तुम्हारी दशा तो अब अर्घजल देने के योग्य हो गयी है (जैसे शव को दाह के पूर्व जल देते हैं, ठीक उसी प्रकार तुम भी अब इसी अवस्था को प्राप्त हो चुके हो)।

टिप्पणी—

(1) इसमें व्यंग्यपूर्ण चुभती हुई भाषा का प्रयोग हुआ है।
(2) वस्तु से वस्तु व्यंग्य है—उद्धव की अनर्गल बातों से व्यंजित वस्तु यह है कि उद्धव के निर्गुण विषयक सिद्धान्त पागलों का प्रलाप है।
(3) जगह-जगह मुहावरों के प्रयोग के कारण सूर की भाषा का प्रभाव अपेक्षाकृत बढ़ गया है।

राग सोरठा

ऊधो ! जाके माथे भोग।
कुब्जा को पटरानी कीन्हीं, हमहिं देत बैराग॥
तलफत फिरत सकल ब्रजबनिता चेरी चपरि सोहाग।
बन्यो बनायो संग सखी री ! वै रे ! हंस वै काग॥
लौंड़ी के घर डौंड़ी बाजी स्याम राग अनुराग।
हाँसी, कमलनयन-सँग खेलति बारहमासी फाग॥
जोग की बेलि लगावन आए काटि प्रेम को बाग।
सूरदास प्रभु ऊख छाँड़ि कै चतुर चिचोरत आग॥ 106 ॥

शब्दार्थ—जाके माथे = जिसके भाग्य में। चेरी = दासी। चपरि = एकबारगी, शीघ्रता से। बन्यो बनायो = उचित। हंस = श्रीकृष्ण की ओर संकेत। काग = कुब्जा के प्रति संकेत। लौंड़ी = दासी। डौंड़ी बाजी = खुशी के नगाड़े बजे। स्यामराग = श्रीकृष्ण का प्रेम। अनुराग = अनुरक्त है, डूबी है। ऊख = गन्ना। आग = ऊख की आग या अंगोला (गन्ने के ऊपरी पत्तों वाला भाग (आचार्य शुक्ल ने आग का अर्थ मदार दिया है जो सन्दर्भ के अनुसार ठीक नहीं लगता, गन्ने के प्रसंग में अंगोला अर्थ ही उपयुक्त प्रतीत होता है)।

सन्दर्भ—इस पद में गोपियाँ श्रीकृष्ण और कुब्जा के परस्पर प्रेम का उपहास कर रही हैं। और उद्धव से कह रही हैं कि दोनों की जोड़ी भगवान ने अच्छी मिलायी है। यही भाग्य का चक्र है कि पटरानी दासी हो गयी और दासी पटरानी बन बैठी।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, जिसके मस्तक पर जो भाग्य की रेखाएँ लिखी होती हैं, उन्हें कौन मिटा सकता है ? आशय यह है कि भाग्यशालिनी तो आज कुब्जा है जिसे श्रीकृष्ण ने पटरानी बना दिया और हम सबों को वैराग्य की शिक्षा देते फिर रहे हैं। आज बिचारी ब्रजबालाएँ उनके वियोग में तड़प रही हैं और उनकी निष्ठुरता तो देखिए कि दासी कुब्जा को एकबारगी बिना सोचे-समझे सौभाग्यवती बना दिया। गोपियाँ सखियों से

परस्पर कह रही हैं, अरी सखी दोनों का साथ तो बना-बनाया है (बहुत उचित जोड़ा है) श्रीकृष्ण यदि हंस हैं तो वह (कुब्जा) कौवा है (तात्पर्य यह है कि भला कही हंस और कौवा का साथ हुआ है, फिर भी यहाँ तो हंस और कौवा दोनों में खूब मेल हो गया है, बलिहारी !) आज कुब्जा जैसी दासी का क्या कहना, वह श्याम के प्रेम में अनुरक्त है (काले-कलूटे पर मोहित है) इसी से उसके घर खुशी के नगाड़े बज रहे हैं। अरी सखी, हँसी तो इस बात की है कि वह दासी श्रीकृष्ण के साथ अब बारहमासी फाग खेल रही है (लोग साल में एक बार होली की खुशी मनाते हैं, लेकिन कुब्जा तो सदैव होली के उल्लास में मग्न रहती है) पुनः गोपियाँ उद्धव से कहने लगीं—हे उद्धव, आप तो प्रेम के बाग को काट कर (श्रीकृष्ण के प्रति हम लोगों के हृदय में जो प्रेम की धारा बह रही है—उसे दूर करके योग की लता (योग-साधना) का बीजारोपण करने आए हैं। प्रेम की जगह योग-साधना की ओर प्रवृत्त करने के प्रयोजन से यहाँ पधारे हैं। लेकिन क्या तुम नहीं जानते कि जो बहुत चतुर बनते हैं वे ईख का रस ग्रहण करने के बजाय अंगोला (गन्ने के ऊपरी भाग) को चूसा करते हैं (तात्पर्य यह है कि आप बनते बहुत बुद्धिमान हैं, लेकिन प्रेम के महत्व की अवहेलना करके नीरस अंगोला जैसे निर्गुण ब्रह्म के ज्ञान का महत्व बखानते फिरते हैं)। गोपियों के कथनानुसार उद्धव बुद्धिहीन हैं।

टिप्पणी—

(1) व्यंग्यगर्भित शैली की यह एक उत्कृष्ट रचना है।

(2) श्रीकृष्ण के लिए 'हंस' का प्रयोग तो ठीक है, लेकिन कुब्जा के लिए 'कौवा' शब्द का पुल्लिग में प्रयोग काव्यगत दोष है।

(3) पूरी रचना में सप्राणता का कारण, लौंड़ी के घर डौंडी बाजी, खेलत बारहमासी फाग, वै रे हंस वै काग, 'ऊख छाँड़ि कै चतुर चिचोरत आग' जैसे मुहावरे हैं।

(4) सातवीं पंक्ति में 'जोग की बेलि' और 'प्रेम को बाग' के अन्तर्गत रूपक अलंकार है।

(5) सूर की चलती लोकभाषा का यह निदर्शन सराहनीय है।

(6) कुब्जा पर व्यंग्य करते हुए रत्नाकर ने भी उद्धव शतक में कहा है—याही सोच माहिं हम होति दूबरी कै कहा कूबरीहू होती न पतोहू नंदराय की ?

(7) वक्रता और ध्वनि तत्व का प्रयोग काव्योचित सरसता के साथ किया गया है।

राग सारंग

ऊधो ! अब यह समुझ भई।
नँदनंदन के अंग अंग प्रति उपमा न्याय दई॥
कुंतल, कुटिल भँवर, भरि भाँवरि मालति भुरै लई।
तजत न गहरु कियो कपटी जब जानी निरस गई॥
आनन इंदुबरन-संमुख तजि करखे ते न नई।
निरमोही नहिं नेह, कुमुदिनी अंतहि हेम हई॥
तन घनस्याम सेइ निसिबासर, रटि रसना छिजई।
सूर विवेकहीन चातक-मुख बूँदौ तौ न सई॥ 107॥

शब्दार्थ—न्याय दई = उचित ही दी गयी। भुरै लई = मोहित कर लिया। गहरु = देरी। निरस गई = रसहीन हो गयी। आनन-इंदु-बरन = चन्द्रमुख के सौन्दर्य। करखे = खींचने पर। न नई = हटी नहीं। करखे ते न नई = हटाने या खींचने पर भी हटी नहीं। निरमोही नहिं नेह = उस निष्ठुर चंद्रमा में कुमोदिनी के प्रति किसी भी प्रकार का प्रेम नहीं था। अंतहि = अन्त में। हेम हई = पाले से मारा या पाला मार गई। घनस्याम = श्रीकृष्ण, बादल। रसना = जिह्वा। छिजई = क्षीण कर दिया, घिस डाला। न सई = नहीं गई। कुन्तल = बाल।

सन्दर्भ—इसमें सूर की उक्तिगत भंगिमा का संकेत है। गोपियों ने प्रस्तुत पद में परम्परागत गृहीत उपमानों की निष्ठुरता का उल्लेख तर्क-संगत ढंग से किया है—

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, श्रीकृष्ण के अंग-प्रत्यंग के लिए प्रयुक्त उपमानों की कुटिलता और निष्ठुरता का राज अब समझ में आया। अर्थात् जो उनके अंगों के लिए चुन-चुन करके उपमान इकट्ठे किए गये हैं, वे अपनी प्रकृतिगत विशेषताओं की दृष्टि से ठीक ही हैं यथा नामः तथा गुणः। अब उनके अंग के एक-एक उपमान की विशेषताओं पर विचार कीजिए। पहले घुँघराले बालों को लीजिए—इनकी उपमा भौंरों से दी जाती है, किन्तु भौंरे कितने कुटिल होते हैं, वे पहले तो मालती के चारों ओर बड़े प्रेम से मँडराते हैं और उसे मोहित करते हैं, फिर क्या है उसके समस्त मकरन्द को पीने के बाद जब देखा कि इसमें रस नहीं रह गया तो उसे त्यागने में किंचित देरी नहीं की और उसे छोड़कर अन्यत्र चले गये (यह भौंरों की कुटिलता का एक ज्वलन्त उदाहरण है)। इसी प्रकार श्रीकृष्ण के मुख की उपमा चन्द्रमा से दी जाती है लेकिन चन्द्रमा कितना कठोर है यह उसके प्रेम में मुग्ध कुमोदिनियों की दशा से जाना जा सकता है। विचारी कुमोदिनी तो चन्द्रानन के सौन्दर्य में इतनी मुग्ध हो गयी, उसके सौन्दर्य-रस-पान करने में इतनी मोहित हुई कि हटाने या खींचने से भी नहीं हटी, लेकिन उस निष्ठुर चन्द्रमा में कहाँ मोह था, उसने अन्ततः उसे पाले से मार दिया (कुमोदिनी पाला खाकर नष्ट हो गयी) अब उनके शरीर के लिए गृहीत बादल की करामात देखिए ! विचारे चातक ने तो दिन-रात बादल के प्रेम में (स्वाती की बूँदों के लिए) रटते-रटते अपनी जिह्वा क्षीण कर दी (घिस डाली) लेकिन निष्ठुर और अज्ञानी बादल ने उसके मुख में एक बूँद भी नहीं डाली। (एक भी बूँद उस चातक के मुख में नहीं गयी) तात्पर्य यह है कि विचारे चातक ने बिना विचारे बादल के लिए अपने जीवन को उत्सर्ग कर दिया लेकिन विवेकहीन बादल को किंचित दया नहीं आयी। यही दशा गोपियों की रही। वे श्रीकृष्ण के अंग-प्रत्यंग के आकर्षण में फँसी रहीं लेकिन अन्त में श्रीकृष्ण ने उनके साथ धोखा किया।

टिप्पणी—

(1) श्रीकृष्ण के उपमानों की निष्ठुरता का उल्लेख।

(2) समस्त पद में अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार है।

(3) सकारण-समर्थन करने से द्वितीय पंक्ति में काव्यलिंग है।

(4) अलंकार से वस्तु व्यंग्य है—श्रीकृष्ण के उपमानों की निष्ठुरता में श्रीकृष्ण की प्रकृति की निष्ठुरता व्यंजित है।

(5) 'मालति भुरै लई' और 'कुमोदिनि अंतहि हेम हई' में अन्योक्ति अलंकार है। ये दोनों उपमान गोपियों की ओर स्पष्ट संकेत करते हैं।

राग धनाश्री

ऊधो ! हम अति निपट अनाथ।
जैसे मधु तोरे की माखी त्यों हम बिनु ब्रजनाथ॥
अधर अमृत की पीर मुई, हम बालदसा तें जोरी।
सो तौ बधिक सुफलकसुत लै गयो अनायास ही तोरी॥
जब लगि पलक पानि मीड़ति रही तब लगि गए हरि दूरी।
कै निरोध निबरे तिहि अवसर दै पग रथ की धूरी॥
सब दिन करी कृपन की संगति, कबहुँ न कीन्हों भोग।
सूर बिधाता रचि राख्यो है, कुब्जा के मुख-जोग॥ 108 ॥

शब्दार्थ—निपट = बिल्कुल। मधु = शहद (शहद के छत्ते से अभिप्राय है)। अधर-अमृत = अधरामृत, ओष्ठों का मधु (शहद)। मुई = मरती रही। बालदसा तें जोरी = जिसे (जिस अधरामृत को) बचपन से जोड़ती रही—एकत्रित करती रही। पलक पानि मीड़ति रही = जब पलकों को हाथ से मींजती रही (जगने का प्रयास करती रही)। निरोध = रोक कर। निबरे = निकल कर जा सकें। पग रथ = रथ की पहिया। कुब्जा के मुख-जोग = उस अधरामृत पान करने के योग्य कुब्जा का ही मुख था।

सन्दर्भ—इस पद में गोपियाँ उद्धव से अपने दैन्य भाव को प्रदर्शित कर रही हैं। गोपियों के निराश मानस का यह अत्यंत कारुणिक और हृदय-विदारक चित्र है। गोपियों को बहुत बड़ी आशा थी कि वे श्रीकृष्ण के जिस मधुर अधरामृत को संचित कर रही हैं उसका भविष्य में उपभोग करेंगी, लेकिन मन की मन में ही रह गयी और उस अधरामृत की अधिकारिणी कुब्जा बन बैठी।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, अब हम सब (पहले से) सर्वथा अनाथ हो गयीं। इस समय हम तो श्रीकृष्ण के बिना उस मधुमक्खी की भाँति तड़प रही हैं और मारी-मारी फिर रही हैं जिसका मधुछत्ता तोड़ लिया गया हो। जैसे मधुमक्खियाँ बहुत समय तक मधु का संग्रह अपने मधुछत्ते में करती हैं उसी प्रकार हम सब भी बचपन से श्रीकृष्ण के अधरामृत के आनन्द का संग्रह करती रहीं और सोचा था कि समय आने पर इस अधरामृत को ग्रहण करेंगी, लेकिन यह सुखद संयोग प्राप्त न हो सका और हम सब उसके अभाव में मरती रहीं, क्योंकि उस अधरामृत रूपी मधु के छत्ते को बहेलिया रूपी अक्रूर अचानक तोड़ कर उठा ले गए (आशय यह है कि अचानक अक्रूर जी ब्रज पधारे और हमारे प्रिय श्रीकृष्ण और बलराम को बहाने से रथ पर बैठा कर मथुरा ले गये)। जब तक हम सब अपनी पलकों को हाथों से मींजती रहीं और सोते से जागृत अवस्था में आयीं तब तक श्रीकृष्ण बहुत दूर निकल चुके थे। हम सब उनके पीछे दौड़कर उन्हें रोकने की बहुत बड़ी चेष्टा की, लेकिन अक्रूर जी रथ के पहियों की धूल उड़ाते हुए निकल भागे—उनकी धूल में हम श्रीकृष्ण को देख न सकीं—अन्ततः निराश होकर लौट आयीं। हमने तो सदैव कंजूसों जैसा व्यवहार किया और कभी भी श्रीकृष्ण के उस सुख को भोगा नहीं, उसे छिपाती रहीं और खर्च करने में कतराती रहीं, लेकिन भाग्य की बात कौन जानता है ? सूर के शब्दों में गोपियों का कथन है कि जिस सुख को संग्रह किया आज ब्रह्मा ने उसे कुब्जा के भाग्य में रच दिया और वह भोग्य कुब्जा के उपयुक्त समझा गया और उसकी अधिकारिणी वह बन बैठी—तात्पर्य यह है कि आज श्रीकृष्ण के उस मधुर अधरामृत का पान कुब्जा कर रही है।

टिप्पणी—

(1) 'अमृत' ओष्ठों के माधुर्य के साथ 'मधु' या शहद का भी बोधक है। इस कारण इसमें श्लेष अलंकार है।

(2) इस पद में रूपक की प्रधानता है। मधुमक्खियों के छत्ते का रूपक बहुत ही कलात्मक और भाव-व्यंजक है। इसमें मधुमक्खियों के सारे गुणों का आरोप किया गया है।

(3) सातवीं पंक्ति में उपमा है।

राग सोरठ

ऊधो ! ब्रज की दसा बिचारौ।
ता पाछे यह सिद्धि आपनी जोगकथा बिस्तारौ॥
जेहि कारन पठए नँदनंदन सो सोचहु मन माहीं।
केतिक बीच बिरह परमारथ जानत हौ किधौं नाहीं॥
तुम निज दास जो सखा स्याम के संतत निकट रहत हौ।
जब बूड़त अवलंब फेन को फिरि फिरि कहा गहत हौ॥
वै अति ललित मनोहर आनन कैसे मनहिं बिसारौं।
जोग जुक्ति और मुक्ति विविध बिधि वा मुरली पर वारौं॥
जेहि उर बसे स्याम सुंदर घन क्यों निर्गुन कहि आवे।
सूर स्याम सोइ भजन बहावै जाहि दूसरो भावै॥ 109॥

शब्दार्थ—केतिक बीच = कितना अन्तर है। परमारथ = मुक्ति; अध्यात्म-चिन्तन। किधौं = अथवा। निज = खास। संतत = सदैव। कहा गहत हौ = क्या पकड़ते हो, क्या लेते हो ? घन = अतिशय, घनिष्ठ रूप में। बहावै = दूर करे। भावै = अच्छा लगे।

सन्दर्भ—गोपियाँ उद्धव की योग-चर्चा से ऊब कर अन्ततः कहने लगीं कि उद्धव को पहले ब्रज की दशा पर विचार करना चाहिए तब अपने निर्गुण ब्रह्म का उपदेश देना चाहिए। आश्चर्य है कि उद्धव इतना भी नहीं जानते कि गोपियों की मनःस्थिति और योग-साधना की स्थिति में कितना अन्तर है ? वे उद्धव से निवेदन कर रही हैं कि वे दोनों स्थितियों पर पहले विचार करें तब अपने अध्यात्म-चिन्तन का प्रसार करें।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, पहले तुम ब्रजवासियों की मानसिक दशा पर विचार करो कि वे तुम्हारी योग-साधना के उपयुक्त हैं या नहीं। फिर इसके पश्चात् सिद्धिदायिनी अपनी योग-कथा (योग-चर्चा) का विस्तारपूर्वक विवेचन करें। और जिस लिए अर्थात् जिस योग-साधना का प्रचार करने के लिए श्रीकृष्ण ने तुम्हें यहाँ भेजा है, उसके सम्बन्ध में अपने मन में विचार करो, उसे यहाँ बताने की आवश्यकता नहीं है (तुम स्वयं विवेकशील पुरुष हो, यदि नँदनंदन ने साग्रह हमें योग-मार्ग पर प्रवृत्त करने के उद्देश्य से भेजा है तो कम से कम हम सब की वियोगावस्था को तो तुम देख ही रहे हो, उचित और अनुचित का विचार तो प्रत्यक्ष देखकर कर ही सकते हो)। तुम्हें पता है कि नहीं जरा सोचो, वियोग और अध्यात्म चर्चा में कितना अन्तर है ? तुम तो श्रीकृष्ण के खास-सेवक हो और सदैव उनके पास रहते हो फिर

भी उनके विचारों को समझ नहीं सके हो। क्या सचमुच उन्होंने तुम्हें हमको योग-साधना में प्रवृत्त करने के लिए भेजा है या तुम बिना उनके वास्तविक विचारों को समझे इस प्रकार बकते चले जा रहे हो। भला, जो पानी में डूब रहा हो उसे फेन के सहारे बचने का क्या उपदेश दे रहे हो—क्या डूबता व्यक्ति पानी के बुल्ले को पकड़कर अपनी रक्षा कर सकता है ? (आशय यह है कि जो वियोग-व्यथा के सागर में डूब रहा हो क्या उसे अध्यात्म चिन्तन की बातों से संतोष प्राप्त हो सकता है ?)

हे उद्धव, यह कैसे संभव है कि हम सब श्रीकृष्ण के सुन्दर मुख को मन से भुला दें। (उनके मुख-सौन्दर्य की याद कैसे जा सकती है ?) हम लोग तो योग की युक्तियों (योग की साधनाओं) और अनेक प्रकार के मोक्षानन्द को तो श्रीकृष्ण की मधुर मुरली के आनन्द पर न्योछावर कर देती हैं अर्थात् जो सुख श्रीकृष्ण के वेणु-वादन से मिलता था, वह इस योग-साधना और मुक्ति में कहाँ है ? भला, जिसके हृदय में घनिष्ठ रूप में (अभिन्न रूप में) श्याम सुन्दर निवास कर रहे हों तुम्हीं बताओ निर्गुण ब्रह्म उसके हृदय में कैसे समा सकता है ? सूरदास के शब्दों में गोपियाँ कह रही हैं कि उस भजन को तो वह दूर कर देता है—उस भजन को तो वह पसन्द नहीं करता—वह उसके लिए व्यर्थ है जिसे अपने इष्टदेव के अतिरिक्त दूसरा प्रिय हो अर्थात् जो भजन किसी दूसरे इष्टदेव की ओर आकर्षित करता है, उसे वह दूर फेंक देता है—उधर दृष्टि नहीं डालता। तात्पर्य यह है कि हम सब श्रीकृष्ण की अनन्य उपासिका हैं और तुम्हारे निर्गुण का भजन करने में सर्वथा असमर्थ हैं।

टिप्पणी—

(1) गोपियों का श्रीकृष्ण के प्रति अनन्यभाव व्यक्त हुआ है।
(2) छठीं पंक्ति में उदाहरण अलंकार है।
(3) नवीं पंक्ति में काकुवक्रोक्ति अलंकार है।
(4) 'वै अति ललित मनोहर आनन' में स्मृति बिम्ब है।

राग सारंग

ऊधो ! यह हित लागे काहे ?
निसिदिन नयन तपत दरसन को तुम जो कहत हिय-माहे ॥
नींद न परति चहूँदिसि चितवति बिरह अनल के दाहै।
उर तें निकसि करत क्यों न सीतल जो पै कान्ह यहाँ है ॥
पा लागों ऐसेहि रहन दे अवधि आस-जल-थाहैं।
जनि बोरहि निर्गुन समुद्र में, फिरि न पायहौ चाहै ॥
जाको मन जाही तें राच्यो तासों बनै निबाहै।
सूर कहा लै करै पपीहा एते सर सरिता हैं ? ॥ 110 ॥

शब्दार्थ—काहे = किसलिए। हित = रुचिकर, अच्छी। तपत = संतप्त रहते हैं। हित-माहै = हित में, हमारी भलाई के लिए। दाहे = जलन में। जोपै = यदि। पालागों = पैर पकड़ती हूँ। अवधि आस-जल थाहैं = श्रीकृष्ण की अवधि की आशारूपी जल की थाह में। थाहैं = गहराई में। जनि-बोरहि = डुबाओ नहीं। चाहे = ढूँढ़ने पर भी। जाही तें राच्यो =

जिससे अनुरक्त है। तासों बनै निबाहे = उससे निर्वाह करते बनता है, उससे निर्वाह करना ही पड़ता है। कहा लै करै = लेकर क्या करे ? एते = इतने।

सन्दर्भ—उद्धव गोपियों को यह शिक्षा दे रहे हैं कि ब्रह्म घट-घट में व्याप्त है और श्रीकृष्ण भी निर्गुण ब्रह्म के रूप में सबके हृदय में मौजूद हैं। गोपियाँ इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं हैं और निर्गुण ब्रह्म और कृष्ण के अन्तर को स्पष्ट कर रही हैं।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, तुम्हारी निर्गुण ब्रह्म विषयक बातें किस लिए रुचिकर लग सकती हैं अर्थात् तुम्हारी बातें हमें रुचिकर बिलकुल नहीं लगतीं। यद्यपि तुम हमारे हित में कहते हो (हमारे कल्याण के लिए बताते हो) लेकिन तुम्हारी बात हम कैसे मानें, क्योंकि श्रीकृष्ण के दर्शन के बिना हमारे नेत्र तो दिन-रात संतप्त रहते हैं, लेकिन तुम्हारी यह धारणा है कि वे हृदय में ही हैं—हमारे ऊपर इन बातों का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता, बल्कि स्थिति यह है कि श्रीकृष्ण की वियोगाग्नि की जलन में हमें नींद नहीं लगती और चारों तरफ देखती रहती हैं। और यदि श्रीकृष्ण यहाँ (इस हृदय में) निर्गुण ब्रह्म के रूप में हैं तो निकल कर हमारी वियोगाग्नि को शीतल क्यों नहीं करते (हमारी वियोग-जनित पीड़ा को क्यों नहीं दूर करते ?) हम तुम्हारे पैरों पर गिर रही हैं (तुमसे अनुनय-विनय कर रही हैं) कि हमें श्रीकृष्ण की अवधि (आने) की आशारूपी जल की गहराई में पड़ी रहने दो (हमें श्रीकृष्ण की अवधि की आशा में जो सुख है वह तुम्हारे घट-घट वासी निर्गुण ब्रह्म में नहीं)। अतः तुम अपने निर्गुण ब्रह्म के समुद्र में हमें मत डुबाओ (श्रीकृष्ण से वियुक्त करके निर्गुण-ब्रह्म के अद्वैत सिद्धान्त में हमें मत फंसाओ) नहीं तो तुम ढूँढ़ने पर भी पुनः हमें न पा सकोगे (हमारा स्वतंत्र अस्तित्व समाप्त हो जायेगा)। हे उद्धव, सत्य तो यह है कि जिसका मन जिससे जुड़ जाता है (जिस पर अनुरक्त होता है) उसके साथ प्रेम-निर्वाह करना ही पड़ता है। सूर के शब्दों में गोपियों का कथन है कि पपीहा के लिए इतने तालाबों और नदियों का जल है, लेकिन बिना स्वाती के जल के वह इसे लेकर क्या करे ? इससे उसके किस प्रयोजन की सिद्धि होगी—उसी प्रकार हम लोगों का मन तो श्रीकृष्ण के प्रेम में अनुरक्त है, अतः तुम्हारे निर्गुण से हमें क्या लाभ होगा ?

टिप्पणी—

(1) इसमें गोपियों ने श्रीकृष्ण और निर्गुण ब्रह्म की एकता-विषयक सिद्धान्त में अविश्वास प्रकट किया है।

(2) छठीं पंक्ति का भाव आधुनिक ब्रजभाषा कवि रत्नाकर की इन पंक्तियों में भी देखने को मिलता है—

जैसे बनि बिगरि न वारिधता वारिधि की
बूँदता बिलैहै बूँद बिवस विचारी की।

(3) 'पालागों' ब्रज की ग्रामीण स्त्रियों का एक सहज मुहावरा है।

(4) 'बिरह अनल' 'अवधि आस जल' और 'निर्गुन समुद्र' में रूपक है।

(5) सातवीं पंक्ति का भाव सूर में अन्यत्र भी मिला है—

ऊधो मन माने की बात
दाख छुहारा छांड़ि अमृतफल विष कीरा विष खात।

सूर के इस भाव को बिहारी ने भी ग्रहण किया है—

अति अगाध अति औथरो नदी कूप सर बाय।
सो ताको सागर जहाँ जाकी प्यास बुझाय॥

मानस में भी इसी प्रकार का भाव मिला है—

महादेव अवगुन भवन विष्नु सकल गुन धाम।
जेहि कर मन रम जाहि सन, तेहि तेही सन काम॥

राग सारंग

ऊधो ! ब्रज में पैंठ करी।
यह निर्गुन निर्मूल गाठरी अब किन करहु खरी॥
नफा जानिकै ह्यां लै आए सबै वस्तु अकरी।
यह सौदा तुम ह्वां लै बेंचौ जहाँ बड़ी नगरी॥
हम ग्वालिन, गोरस दधि बेंचौ, लेहिं अबै सबरी।
सूर यहाँ कोउ गाहक नाहीं, देखियत गरे परी॥ 111 ॥

शब्दार्थ—पैंठ = दूकान, हाट। अब किन करहु खरी = बेच कर दाम क्यों नहीं खड़े कर लेते ? अकरी = महँगी। सबरी = सबकी सब। गरे परी = बलात् हमारे गले मढ़ना चाहते हो।

सन्दर्भ—इस पद में गोपियाँ उद्धव को निर्गुण ब्रह्म विषयक सिद्धान्तों का विक्रय करने वाले एक व्यापारी के रूप में कल्पित करके उनका उपहास कर रही हैं। समस्त पद में व्यंजना बलित शब्दावली प्रयुक्त है।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) निर्गुण ब्रह्म की निस्सारता पर विचार करती हुई गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं—हे उद्धव, तुमने तो अब ब्रज में दूकान खोल ली है, अतः ऐसे समय तुम अपनी इस निर्गुण और निर्मूल गठरी को (निर्गुण अर्थात् जिसमें किसी प्रकार का गुण ही न हो और निर्मूल जिस सौदा में किसी तरह की पूँजी न लगी हो—बेंच कर दाम खड़े क्यों नहीं कर लेते ?) आशय यह है कि तुम्हारे इस निर्गुण ब्रह्म का प्रभाव ब्रज में किसी पर भी नहीं पड़ेगा और इसके गुणों की तुम जितनी प्रशंसा करते हो वह सब व्यर्थ हो जायगी। तुम इसे यहाँ यह सोचकर ले आए हो कि इससे काफी लाभ कमाएँगे, किन्तु तुम्हारे निर्गुण का यह सौदा बड़ा महँगा है, यहाँ के लोग इसे नहीं खरीद सकते। हाँ, तुम यदि बड़े नगर (मथुरा जैसे महानगरी) में इसे बेंचो तो तुम्हें अवश्य सफलता मिलेगी—क्योंकि इस सौदे को अच्छे ग्राहक (निर्गुण-ज्ञान के पारखी कुब्जा और श्रीकृष्ण) वहीं मिल सकते हैं। हम सब इतना कीमती और महँगा सौदा खरीदने में असमर्थ हैं। क्योंकि हम सब दूध-दही जैसे सामान्य सौदा बेंचती हैं, यदि तुम्हारे पास दूध-दही हो तो लाओ, सब का सब खरीद लेंगी। आशय यह है कि जो दूध-दही बेचने वाली स्त्रियाँ हैं, उन्हें निर्गुण-ज्ञान की शिक्षा देना, कहाँ तक उचित है ? सूर के शब्दों में गोपियों का उद्धव-प्रति कथन है कि हे उद्धव, तुम्हारे इस माल का यहाँ कोई ग्राहक नहीं है, फिर भी ऐसा लगता है कि तुम इसे बलात् हमारे गले मढ़ना चाहते हो। तात्पर्य यह है कि हमारी इच्छा के विरुद्ध तुम जबर्दस्ती हमें निर्गुण मार्ग पर लगाना चाहते हो।)

टिप्पणी—

(1) व्यंग्य गर्भित शैली में इसमें सौदागर या व्यापारी का सुंदर रूपक बाँधा गया है।
(2) 'निर्मूल' और 'निर्गुण' में शाब्दी व्यंजना का चमत्कार द्रष्टव्य है।
(3) 'अकरी' मँहगा के अर्थ में ब्रज का विशिष्ट प्रयोग कहा जा सकता है।
(4) 'गरे परी', 'किन करहु खरी' में सुंदर मुहावरे प्रयुक्त हुए हैं।
(5) 'जहाँ बड़ी नगरी' में वस्तु से वस्तु व्यंग्य है।
(6) सूर की वचन-वक्रता और व्यंग्य का यह एक अच्छा नमूना है।
(7) दूसरी पंक्ति में अत्यंत तिरष्कृत वाच्य ध्वनि है।

राग सारंग

गुप्त मते की बात कहौ जनि कहुँ काहू के आगे।
कै हम जानैं कै तुम ऊधो ! इतनी पावैं माँगे॥
एक बेर खेलत बृन्दावन कंटक चुभि गयो पाँय।
कंटक सों कंटक लै काढ़्यो अपने हाथ सुभाय॥
एक दिवस बिहरत बन-भीतर मैं जो सुनाई भूख।
पाके फल वै देखि-मनोहर चढ़े कृपा करि रूख॥
ऐसी प्रीति हमारी उनकी बसते गोकुल बास।
सूरदास प्रभु सब बिसराई मधुबन कियो निवास॥ 112 ॥

शब्दार्थ—गुप्त मते = छिपा प्रसंग। कहुँ = कहीं। काहू के आगे = किसी के समक्ष। कै = या तो। पावैं माँगे = इच्छा की पूर्ति। कंटक = काँटा। काढ़्यो = निकाला। सुभाय = सहज रूप में। रूख = वृक्ष। मधुबन = मथुरा। बिसराई = भुला दी।

सन्दर्भ—गोपियाँ उद्धव से (श्रीकृष्ण सखा जान कर) अपनी पूर्व स्मृतियाँ बता रही हैं। इस पद में गोपियाँ अपना दैन्य भाव और आत्मीयता व्यक्त कर रही हैं। श्रीकृष्ण और उद्धव की अभिन्नता जान कर ही गोपियाँ उद्धव के प्रति अपना विश्वास प्रकट कर रही हैं। उन्हें यह आशा है कि उद्धव श्रीकृष्ण से इन मधुर स्मृतियों की चर्चा करेंगे और इसे सुन कर कदाचित वे मथुरा से लौट आएँ।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, आज हम तुम्हारे समक्ष श्रीकृष्ण विषयक कुछ गुप्त प्रसंग का कथन करना चाहेंगी, किन्तु आपसे निवेदन है कि इसे कही भी किसी के समक्ष कहिएगा नहीं। हे उद्धव, इस बात को हम जानें या आप, कोई तीसरा व्यक्ति न जानने पावे, आपसे इस विषय में हमारी इतनी ही माँग है, (इतना ही निवेदन है) हमें विश्वास है कि आप इच्छा की पूर्ति करने की कृपा करेंगे। एक प्रसंग यों है कि एक बार वृन्दावन में खेलते समय हमारे पैरों में काँटे चुभ गये, श्रीकृष्ण ने उन काँटों को एक काँटा लेकर सहज रूप से निकाल दिया (उनकी यह संवेदनशीलता आज भी आँखों के सामने है)। इसी प्रकार एक दिन वन में विचरण करते समय हमें भूख लग गयी, जब इसकी चर्चा हमने श्रीकृष्ण से की तो वे शीघ्र ही सुन्दर और पके हुए फलों को देखकर वृक्ष पर चढ़ गये और उन्हें तोड़कर हमें लाकर दिया। हमारी उनके साथ, जब वे गोकुल में रहते थे, कितनी प्रगाढ़ मित्रता थी। आज मथुरा में

बस कर उन्होंने वह मित्रता और वह सब पुराना सम्बन्ध बिल्कुल भुला दिया—यह समय का परिवर्तन ही है और क्या कहा जाय ?

टिप्पणी—

(1) इसमें पूर्व स्मृतियों के मधुर बिम्बों को बहुत ही सहज रूप में प्रस्तुत किया गया है।

(2) इसमें श्रीकृष्ण की संवेदनशीलता और गोपियों के प्रति उनकी प्रगाढ़ मित्रता की भी एक झलक मिल जाती है।

(3) 'माँगे पावैं' में दैन्य संचारी भाव है।

(4) इसमें माधुर्यभाव की सहज अभिव्यक्ति हुई है।

(5) वियोग की दस दशाओं के अन्तर्गत इसमें स्मरण कथन का संकेत है।

राग सारंग

मधुकर ! राखु जोग की बात।
कहि कहि कथा स्यामसुंदर की सीतल करु सब गात॥
तेहि निर्गुन गुनहीन गुनैबो सुनि सुंदरि अनखात।
दीरघ नदी नाव कागद की को देख्यो चढ़ि जात ?
हम तन हेरि, चितै अपनो पट देखि पसारहि लात।
सूरदास वा सगुन छाँड़ि छन जैसे कल्प बिहात॥ 113 ॥

शब्दार्थ—राखु = अलग रखिये, इसकी चर्चा न करिए। सीतल करु = आनंदित कर दो। सब गात = सारे शरीर को। गुनैबो = गुणयुक्त बनाने से। अनखात = नाराज हो जाती हैं। दीरघ नदी = विशाल नदी। हम तन हेरि = हमारी ओर देखकर (हमारी दशा को देखकर)। अपनो पट = अपना वस्त्र (यहाँ निर्गुण ब्रह्म-विषयक सिद्धांत से अभिप्राय है)। पसारहि लात = पैर फैलाओ (तेतो पाँव पसारिए जेतो लांबी सौर)। बिहात = व्यतीत होता है।

सन्दर्भ—गोपियाँ उद्धव के निर्गुण सिद्धान्त को बिल्कुल सुनना नहीं चाहतीं। उनका कथन है कि निर्गुण की चर्चा से उनकी वियोग-व्यथा कैसे दूर हो सकती है। वे कृष्ण के सगुण रूप के बिना एक क्षण भी जीवित रहना नहीं चाहतीं। उनके लिए तो सगुण के बिना एक क्षण एक कल्प के समान बीतता है।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, तुम अपनी यह निर्गुण ब्रह्म-विषयक बातें दूर रखो, हमें तुम्हारी योग-साधना की बातें अच्छी नहीं लगतीं। हाँ, अगर कुछ कहना चाहते हो तो श्रीकृष्ण की मधुर कथा कह कर हमारे संतप्त शरीर को शीतल कर दो (श्रीकृष्ण की मधुर चर्चा से हमारा संतप्त शरीर आनन्द से भर जाएगा)। उस गुणहीन निर्गुण ब्रह्म को गुणयुक्त बनाने से ब्रज की सभी सुंदरियाँ क्रुद्ध हो जाती हैं। अत: अच्छा यही होगा कि उस गुणहीन का प्रशस्ति-गान अब अधिक न करो। उद्धव जी, भला यह तो बताओ कि कागज की नाव पर बैठकर विशाल नदी को पार करते हुए आपने किसी को देखा है। तात्पर्य यह है कि जैसे कागज की नाव द्वारा विशाल नदी को पार नहीं किया जा सकता उसी प्रकार निस्सार निर्गुण सिद्धान्तों

को—जो कागज की नाव के सदृश हैं—जानकर वियोग-व्यथा की विशाल नदी को कैसे पार कर सकते हैं। पहले आप हमारी ओर देखिए—हमारी दशा पर विचार कीजिए अर्थात् हमारी क्षमता और शक्ति की सीमा को समझिये, पुनः अपने वस्त्र की सीमा को देखकर पैर फैलाइए अर्थात् अपने निर्गुण ब्रह्म की क्षमता समझ कर ही तुम्हें अपने पैर फैलाना चाहिए। तुम्हें जानना चाहिए कि क्या तुम्हारा निर्गुण ब्रह्म हम भोली-भाली ब्रज-बालाओं के दुख को दूर करने में समर्थ हो सकता है—यदि वह समर्थ नहीं है तो तुम्हारा यह प्रयास निरर्थक है—अपनी क्षमता के आधार पर ही यह प्रयास करना चाहिए। तद्विषयक यह कहावत सर्वथा उचित प्रतीत होती है कि 'तेतो पाँव पसारिए जेतो चादर होय'। सूरदास के शब्दों में गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि हे उद्धव, हमें तो उस सगुण श्रीकृष्ण के दर्शन के बिना एक-एक क्षण एक-एक कल्प के समान बीतता है (उनके बिना यह समय काटे नहीं कटता)।

टिप्पणी—

(1) चौथी पंक्ति में निदर्शना एवं पाँचवीं पंक्ति में लोकोक्ति अलंकार का प्रयोग हुआ है।
(2) अंतिम पंक्ति में उपमा है ('जैसे कल्प बिहात')।
(3) इसमें गोपियों का अमर्ष व्यक्त हुआ है, अतः अमर्ष संचारी भाव की प्रधानता है।
(4) पाँचवीं पंक्ति की लोकोक्ति जन-सामान्य में इस प्रकार प्रचलित है—तेतो पाँव पसारिए जेतो लाँबी सौर।
(5) 'गुन' से 'गुनैबो' शब्द की रचना सूर की भाषा-विषयक क्षमता और सामर्थ्य को व्यक्त करती है।

राग बिलावल

ऊधो ! तुम अति चतुर सुजान।
जे पहिले रँग रँगी स्यामरँग तिन्हें न चढ़ै रँग आन॥
द्वै लोचन जो बिरद किए स्तुति गावत एक समान।
भेद चकोर कियो तिनहू में बिधु प्रीतम, रिपु भान॥
बिरहिनि बिरह भजै पालागों तुम हौ पूरन ज्ञान।
दादुर जल बिनु जियै पवन भखि, मीन तजै हठि प्रान॥
बारिजबदन नयन मेरे षटपद कब करिहैं मधुपान।
सूरदास गोपीन प्रतिज्ञा, छुवत न जोग बिरान॥ 114॥

शब्दार्थ—स्यामरँग = श्रीकृष्ण के श्याम वर्ण में (श्रीकृष्ण के प्रेम में)। आन = अन्य। द्वैलोचन = उपनिषद् आदि में ईश्वर के दो नेत्र कहे गये हैं। विरद किए = यश गाया। स्तुति = वेद। बिधु = चन्द्रमा। भान = भानु, सूर्य। रिपु = शत्रु। बिरह भजै = विरह ही गोपियों के लिए प्रिय है। पालागों = तुम्हारे पैरों पर गिरती हैं। पूरन-ज्ञान = पूर्ण ज्ञानी। दादुर = मेढक। पवन भखि = हवा का सेवन करके। बिरान = विराना, पराया। षटपद = भ्रमर (यहाँ उद्धव के प्रति संकेत है) बिरह भजे = विरह को ही अच्छा समझती हैं। गावत एक समान = दोनों के महत्व का निरूपण एक समान करते हैं।

सन्दर्भ—गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि रुचि की विभिन्नता के कारण एक ही वस्तु लोगों को भिन्न-भिन्न प्रतीत होती है। अतः सगुण श्रीकृष्ण के प्रेम में अनुरक्त होने के कारण उन्हें उद्धव का निर्गुण ब्रह्म किसी भी रूप में अच्छा और रुचिकर नहीं लगता।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, तुम तो अत्यंत प्रवीण और ज्ञानी प्रतीत होते हो (मूढ़ हो तो उसके सम्बन्ध में कुछ कहा भी जा सकता है, लेकिन तुम्हारी चतुराई और ज्ञान के बारे में अविश्वास कैसे किया जाय ?) अतः तुमसे (तुम जैसे चतुर और ज्ञानी से) स्पष्टरूपेण कह रही हैं कि जिस पर श्याम रंग चढ़ जाता है उस पर दूसरा रंग नहीं चढ़ सकता। आशय यह है कि जो श्रीकृष्ण के प्रगाढ़-प्रेम सूत्र में बँध चुका है वह दूसरे के प्रेम से कैसे प्रभावित हो सकता है ? क्या तुम्हें विदित नहीं है कि उपनिषद और वेदादि में सूर्य और चन्द्रमा ईश्वर के दो नेत्र के रूप में मान्य हैं और वे इनका इसी रूप में यश गाने तथा इन दोनों के महत्व का निरूपण समानरूपेण करते हैं। फिर भी रुचि भेद के कारण चकोर पक्षी ने दोनों को भिन्न-भिन्न माना है अर्थात् उसने चन्द्रमा को अपना प्रियतम समझा और सूर्य को शत्रु। इसी प्रकार तुम्हारे चरण पकड़ती हैं हम विरहिणी तो अपने वियोग को ही अच्छा समझती हैं, तुम तो पूर्ण ज्ञानी हो इस कारण हमारे विरह के महत्व को समझते हो (आशय यह है कि तुम्हारी निर्गुणोपासना से अच्छा तो यही है कि हम सब श्रीकृष्ण के वियोग में ही अपनी जीवन-लीला समाप्त कर दें)। हे उद्धव, प्रेमोपासक भी भिन्न-भिन्न कोटि के होते हैं। यथा, जल से प्रीति रखने वाला मेढक उसके अभाव में मरता नहीं और हवा पीकर जीवित रहता है, लेकिन मेढक की तुलना में मछलियों की स्थिति भिन्न है। वे जल के न रहने पर हठपूर्वक अपने प्राण को त्याग देती हैं। व्यंजना यह है कि तुम अपने उपास्य के अभाव में भले ही जीवित रहो, लेकिन हम सब श्रीकृष्ण के बिना जीवित नहीं रह सकतीं। हे उद्धव, सच बताओ हमारे इन भ्रमर रूपी नेत्रों को श्रीकृष्ण के कमलवत् मुख के मधुपान (सौन्दर्य रस के आस्वादन) का सुयोग कब प्राप्त होगा (कब उनका दर्शन होगा) ? सूरदास के शब्दों में गोपियों का कथन है कि उन्होंने संकल्प कर लिया है कि प्रेम-साधना में रत इस पराए योग-साधना को वे किसी भी प्रकार स्पर्श नहीं करेंगी। आशय यह है कि जो श्रीकृष्ण की अनन्यभाव से उपासिका हैं, वे निर्गुण ब्रह्म की साधना को कैसे ग्रहण कर सकती हैं।

टिप्पणी—

(1) दूसरी पंक्ति का भाव सूर के अन्य पदों में भी मिला है—सूरदास प्रभु कारी कामरि चढ़ै न दूजो रंग।

(2) तीसरी पंक्ति में काव्यलिंग और छठीं में उदाहरण अलंकार है।

(3) सातवीं पंक्ति में रूपक है (बारिजबदन नयन मेरे षट्पद)।

(4) 'स्यामरंग' में श्लेष अलंकार है।

(5) अंतिम पंक्ति में श्रीकृष्ण के प्रति गोपियों का अनन्य भाव प्रकट हुआ है।

राग बिलावल

ऊधो ! कोकिल कूजत कानन।
तुम हमको उपदेस करत हौ भस्म लगावन आनन॥

औरों सब तजि, सिंगी लैलै टेरन, चढ़त पखानन।
पै नित आनि पपीहा के मिस मदन हनत निज बानन॥
हम तौ निपट अहीरि बावरी जोग दीजिए ज्ञानिन।
कहा कथत मामी के आगे जानत नानी नानन॥
सुन्दरस्याम मनोहर मूरति भावति नीके गानन।
सूर मुकुति कैसे पूजति है वा मुरली की तानन॥ 115 ॥

शब्दार्थ—कानन = वन में। कूजत = बोलती है। आनन = मुख में। सिंगी = एक प्रकार का बाजा जो गाय की सींग से बनता है और जिसे योगीजन बजाते हैं। पखानन = पाषाण, पत्थर की शिलाएँ। पै = किन्तु। आनि = आकर। मिस =बहाने। मदन = कामदेव। हनत =चोट करता है, मारता है। बावरी = पगली, गँवार। निपट = अत्यंत। कैसे पूजति है = कैसे बराबरी कर सकती है ? गानन = गीत, गाने। टेरन = फूँकना, बजाना।

सन्दर्भ—गोपियाँ उद्धव से स्पष्ट संकेत कर रही हैं कि दोनों की परिस्थितियों में कितना अन्तर है। वे उद्धव की अज्ञानता से दुखित होकर कहती हैं कि एक ओर तो कोयल बसन्तागमन की घोषणा कर रही है दूसरी ओर वे भस्म लगाने की बात कर रहे हैं—प्रकृति क्या कह रही है, इसे भी तो वे समझें।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, जरा कोयल की कूक पर तो ध्यान दीजिए। वह बन में कूकती हुई बसन्त की सूचना दे रही है और तुम हमें निर्गुण ब्रह्मोपासना का उपदेश देकर मुख पर भस्म लगाने का आग्रह कर रहे हो—तुभ इतने अज्ञानी हो कि प्रकृति के भी स्वर को नहीं पहचान पा रहे हो। आशय यह है कि बसन्त के अवसर पर मुँह पर अबीर-गुलाल लगाना चाहिए, किन्तु तुम उसकी जगह मुख पर राख लगाने को कह रहे हो। यही नहीं, और सभी साज-शृंगार को छोड़कर पर्वत की शिलाओं पर बैठ कर योगियों की सी मुद्रा में तुम सिंगी-बाजा फूँकने पर बल दे रहे हो, लेकिन इस साधना को ग्रहण करने में हम सब असमर्थ हैं, क्योंकि इधर पपीहा की पी-पी की आवाज के रूप में कामदेव हमें अपने बाणों से घायल कर रहा है—तात्पर्य यह है कि पपीहा की आवाज को सुन कर श्रीकृष्ण की स्मृति जग जाती है और हम लोगों में कामोद्दीपन होने लगता है। सत्य तो यह है कि हम लोग तो बिल्कुल पगली (मूर्ख) और अहीरिनी हैं, आपके निर्गुण ब्रह्म की बातों को क्या समझें। अरे, निर्गुण ज्ञान की बातों का उपदेश तो आप ज्ञानियों को दीजिए व्यंजना यह है कि ज्ञानी श्रीकृष्ण और परम विदुषी कुब्जा दोनों ही इसका मर्म जान सकते हैं उन्हीं को यह ज्ञान दीजिए इसकी पात्रता हममें नहीं है। हम सब खूब जानती हैं कि योग-संदेश श्रीकृष्ण का भेजा नहीं है, वह कब से योगी बन बैठा। अरे, उसकी तो हम सब नस-नस जानती हैं, तुम उसके योगी होने की चर्चा हमारे सामने क्यों कर रहे हो ? तुम्हारी इस प्रकार की बातें तो उस कहावत को चरितार्थ कर रही हैं जिसमें मामी के सामने नानी और नाना की चर्चा की जाये। भला, यह तो बताओ कि नानी-नाना क्या नहीं जानते जो मामी के आगे कह रहे हो ? तात्पर्य यह है कि कल तो वह हम सब का दूध-दही चुराता रहा और आज वह योग-साधना की बातें करने लगा। सूरदास के शब्दों में गोपियों का कथन है कि उद्धव, हमें तो श्रीकृष्ण की मनोहारिणी मूर्ति और उनके सुन्दर गीत ही अच्छे लगते हैं। क्या श्रीकृष्ण की मधुर वंशी की ध्वनि के आनन्द की समता तुम्हारा मुक्ति-जनित आनन्द कभी कर सकता है ? तात्पर्य यह है कि हम सब के लिए तो मुरली की ध्वनि का सुख मुक्ति से अधिक बढ़कर है।

टिप्पणी—

(1) अन्तिम पंक्ति में मुरली की ध्वनि का आनन्द मुक्ति से बढ़कर माना गया है। वस्तुतः कृष्णभक्त कवियों ने मुरली की ध्वनि को ब्रह्म-नाद के रूप में स्वीकार किया है।

(2) छठीं पंक्ति में सुंदर लोकोक्ति का प्रयोग हुआ है। इस लोकोक्ति के कारण सूर की व्यंजना शक्ति का सम्यक् बोध होता है।

(3) चौथी पंक्ति में शुद्धापह्नुति अलंकार है।

(4) वक्रता और हास्य दोनों ही इसमें व्याप्त हैं।

(5) तुकाग्रह के कारण सूर ने नाना के बहुवचन 'नानन' का प्रयोग किया है, यह च्युत संस्कृति काव्य दोष है।

राग सारंग

ऊधो, हम अजान मति भोरी।
जानति हैं ते जोग की बातैं नागरि नवल किसोरी॥
कंचन को मृग कौने देख्यौ कौने बांध्यो डोरी ?
कहु धौं मधुप ! बारि मथि माखन कौने भरी कमोरी ?
बिन ही भीत चित्र किन काढ़्यो, किन नभ बांध्यो झोरी।
कहौ कौन पै कढ़त कनूकी जिन हठि भुसी पछोरी॥
यह व्यवहार तिहारो, बलि बलि ! हम अबला मति थोरी।
निरखहि सूर स्याम-मुख चंदहि अँखियाँ लगनि-चकोरी॥ 116॥

शब्दार्थ—अज्ञान = अज्ञानी। मतिभोरी = बुद्धि की पगली, बुद्धिहीन। बारि = पानी। कमोरी = घड़ा, मटकी। भीत = दीवाल। काढ़्यो = बनाया, खींचा। झोरी = झोली। किन = किसने। कनूकी = कण, अन्न। कढ़त = निकालना, प्राप्त करना।

सन्दर्भ—गोपियों के कथनानुसार योग की साधना भोली-भाली अहीर की अबलाओं के लिए सर्वथा अनुपयुक्त है। मतिहीन ब्रज की इन अबलाओं के लिए निर्गुण ब्रह्म की उपासना का उपदेश स्वर्ण मृग की डोरी से बाँधने के समान असंभव है।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, योग की जो चर्चा आप कर रहे हैं उसे हम अज्ञानी गोपियाँ क्या समझें ? अरे, योग की बातें तो जो चतुर नवल किशोरियाँ हैं (मथुरा में जो कुब्जा जैसी नवल किशोरियाँ हैं) वे समझती हैं। तुम बलात् इसे हमारे गले में मढ़ रहे हो, लेकिन इसमें तुम्हें सफलता नहीं मिलेगी। यह तो बताओ कि किसने सोने का मृग देखा है और उसे किसने डोरी में बाँधा है अर्थात् जैसे सोने के मृग को देखा नहीं जा सकता और न उसे बाँधा जा सकता उसी प्रकार निर्गुण ब्रह्म को न आँखों से देखा जा सकता है और न उसे अपने वश में ही किया जा सकता है। सोने का मृग तो (मारीच के रूप में) सीता ने देखा था, लेकिन वह असत्य और मायावी था, उसे राम ने न पकड़ा और न बाँधा। वह तो मायामृग मारीच था। उद्धव जी यह तो बताओ कि किसने पानी को मथकर मक्खन निकाला और उसे अपनी मटकी में भरा है ? तात्पर्य यह है कि जैसे पानी से मथकर मक्खन नहीं निकाला जा सकता

उसी प्रकार तुम्हारे निर्गुण ब्रह्म से सगुण श्रीकृष्ण जैसा आनन्द प्राप्त नहीं किया जा सकता। क्या कभी किसी ने बिना दीवाल (आधार) के चित्र बनाया है अर्थात् शून्य भित्ति पर चित्र-रचना नहीं की जा सकती—यह असम्भव है। इसी प्रकार किसने आकाश को झोली में बाँध कर रखा है (क्या अनन्त आकाश भी एक छोटी सी झोली में समा सकता है ?) आशय यह है कि जैसे एक छोटी सी झोली में अनन्त आकाश को बाँध कर नहीं रखा जा सकता, उसी तरह गोपियाँ अपनी छोटी सी बुद्धि के द्वारा अनन्त और अपार निर्गुण ब्रह्म के सम्बन्ध में कैसे विचार कर सकती हैं ? और निराकार की उपासना तो उसी प्रकार है जैसे बिना आधार के चित्र-रचना। तुम जो हठपूर्वक हम अबलाओं को योग-साधना की ओर प्रवृत्त कर रहे हो उसमें तुम्हें कैसे सफलता मिल सकती है। भला, यह तो बताओ किसने बलात् भूसी को फटक कर अन्न के कणों को प्राप्त किया है अर्थात् जैसे निस्सार भूसी से अन्न कणों की प्राप्ति असंभव है, उसी प्रकार तुम्हारे निस्सार निर्गुण ब्रह्म से वास्तविक आनन्द की प्राप्ति संभव नहीं। तुम्हारे ऐसे अटपटे और विचित्र व्यवहार पर हम बुद्धिहीन अबलाएँ बलिहारी हैं आशय यह है कि तुम्हारे ऐसे व्यवहार पर (अबलाओं को निर्गुण-ब्रह्म की साधना पर प्रवृत्त करने के कार्य-कलाप पर) हम अत्यंत दुखित हैं। सूर के शब्दों में गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि हे उद्धव, हमारी आँखें तो श्याम सुन्दर के चन्द्रमुख को उसी लगन से देखा करती हैं जैसे चकोरी बहुत तन्मयता के साथ चन्द्रमा की ओर देखती रहती है।

टिप्पणी—

(1) 'नागरि नवल किसोरी' में कुब्जा जैसी चतुर नारियों का संकेत है। इसमें वस्तु से व्यंग्य है।

(2) तीसरी, चौथी, पाँचवीं और छठीं पंक्ति में निदर्शना अलंकार है, अंतिम पंक्ति में 'स्याम-मुख चंदहि' के अन्तर्गत रूपक और 'अँखियाँ लगनि चकोरी' में वाचक लुप्तोपमा है।

(3) बलि-बलि में विपरीत लक्षणा का प्रयोग हुआ है।

राग गौरी

ऊधो ! कमलनयन बिनु रहिए।
इक हरि हमें अनाथ करि छाँड़ि, दुजे बिरह किमि सहिए ?
ज्यों ऊजर खेरे की मूरति को पूजै, को मानै ?
ऐसी हम गोपाल बिनु ऊधो ! कठिन बिथा को जानै ?
तन मलीन, मन कमलनयन सों मिलिबे की धरि आस।
सूरदास स्वामी बिन देखे लोचन मरत पियास॥ 117 ॥

शब्दार्थ—किमि = किस प्रकार। ऊजर = उजड़े। खेरे = गाँव।

सन्दर्भ—गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि कमल नेत्र श्रीकृष्ण के बिना उनका जीवित रहना संभव नहीं, क्योंकि वियोग की पीड़ा गोपियों के लिए असहनीय है।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, अब तो कमल नेत्र श्रीकृष्ण के बिना रह रहे हैं (उनके दर्शन से वंचित हमारे जीवन के क्षण कैसे बीत रहे हैं, इसे कौन जानता है ?)

एक तो श्रीकृष्ण ने हमें अनाथ करके (वियुक्त करके) छोड़ दिया—उन्होंने हमारी कोई सुध नहीं ली दूसरे वियोग-व्यथा को कैसे बर्दाश्त करें—वियोग भी हमें जीवित नहीं रहने दे रहा है। हमारी तो वह दशा है जैसे उजड़े (जनविहीन) गाँव में मूर्ति की होती है—वहाँ मूर्ति की कौन पूजा करता है और कौन उसका सम्मान करता है ? आशय यह है कि जब से श्रीकृष्ण इस ब्रजमण्डल को छोड़ कर गये हैं, यह उजड़े गाँव की भाँति प्रतीत होता है और मूर्ति की भाँति यहाँ अब हमें न कोई मानने वाला है और न कोई सम्मान देने वाला। हे उद्धव, हमारी इस कठिन व्यथा को गोपाल के बिना कौन जान सकता है ? श्रीकृष्ण के बिना हमारा शरीर मलीन रहता है, शरीर में सौन्दर्य भी क्षीण हो चुका है—आशय यह है कि कभी शृंगारादि का अवसर नहीं मिलता। सदैव वियोग की पीड़ा में हम सब संग्रस्त रहती हैं। केवल मन में एक आशा उनके दर्शन की बनी रहती है—यह विश्वास आज भी बना है कि कभी कमल नेत्र श्रीकृष्ण से हमारी भेंट होगी। सूरदास के शब्दों में गोपियाँ कह रही हैं कि स्वामी कृष्ण के दर्शन की पिपासा में हमारे नेत्र मरते रहते हैं—इन नेत्रों की व्याकुलता श्रीकृष्ण के दर्शन के अभाव के कारण निरन्तर बढ़ती रहती है।

टिप्पणी—

(1) इसमें विषाद एवं चिन्ता संचारी भाव की प्रधानता है।
(2) तीसरी पंक्ति में उपमा है।
(3) गोपियों की मार्मिक पीड़ा की इस पद में सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है।

राग सारंग

ऊधो ! कौन आहि अधिकारी ?
लै न जाहु यह जोग आपनो कत तुम होत दुखारी ?
यह तो बेद उपनिषद् मत है महापुरुष ब्रतधारी।
हम अहीरि अबला ब्रजवासिनि नाहिंन परत सँभारी॥
को है सुनत, कहत हौ कासों, कौन कथा अनुसारी ?
सूर-स्याम-सँग जाति भयो मन अहि केंचुलि सी डारी॥ 118 ॥

शब्दार्थ—अहि = है (अवधी भाषा का प्रयोग)। कत = क्यों। ब्रतधारी = साधक। नाहिंन परत सँभारी = हम योग के इस कठिन भार को नहीं सँभाल सकतीं। अनुसारी = छेड़ दी है। जात भयो = चला गया (पंडिताऊ-प्रयोग)। अहि = सर्प। डारी = छोड़ दी।

सन्दर्भ—गोपियों को दुख है कि उद्धव यह भी नहीं जानते कि इस योग-साधना का कौन अधिकारी है। वे उद्धव के बार-बार आग्रह करने पर नाराज हो जाती हैं और उन्हें फटकार बताती हुई स्पष्ट शब्दों में इसे ग्रहण करने से इनकार कर देती हैं।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, आश्चर्य है कि आप यह भी नहीं जानते कि इस योग-साधना का कौन अधिकारी है। आशय यह है कि आप उसे योगोपदेश दीजिए जो इसके मर्म को समझता हो। अतः हम सब इसे ग्रहण करने में असमर्थ हैं। तुम अपने इस योग को यहाँ से ले क्यों नहीं जाते और इसे न ग्रहण करने पर तुम दुखित क्यों हो रहे हो ? अरे, यह तो अपनी इच्छा की बात है, यदि हम तुम्हारे योग को नहीं पसन्द करतीं तो तुम्हें दुखित

नहीं होना चाहिए और न किसी प्रकार के अपमान का अनुभव ही करना चाहिए। हे उद्धव, वेद और उपनिषदों का भी यही विचार है कि योग-साधना महापुरुष और साधक जन ही करते हैं (वे ही इसके अधिकारी हैं) हम सब अहीरिनी तो ब्रज की रहनेवाली अबला हैं (अज्ञानी और अबोध हैं) हम इसे (योग-साधना के इस गुरुतम भाव को) कैसे संभाल सकती हैं—यह हमसे नहीं सँभल पा रहा है—हम सब इसके सर्वथा अनुपयुक्त हैं। तुम तो अधिकारी और अनधिकारी की पहचान न रखते हुए बार-बार हमें योगोपदेश दे रहे हो, लेकिन यहाँ तुम्हारी इन बातों को कौन सुन रहा है और तुम इसे किसको सुना रहे हो ? (किसे अपना उपदेश दे रहे हो ?) और यह कौन सी कथा का प्रसंग तुमने छेड़ दिया है तात्पर्य यह है कि तुम्हारी जिन बातों में ब्रजवासियों की बिल्कुल रुचि नहीं है उनका प्रसंग छेड़ना अच्छा नहीं है। पुनः हमारा मन तो श्याम सुंदर के साथ ही चला गया (अब तुम्हारे योग का चिन्तन करने वाला मन हमारे पास कहाँ हैं ?) और उस मन ने इस शरीर को उसी प्रकार छोड़ दिया जिस प्रकार सर्प बिना किसी मोह के केंचल छोड़ कर चला जाता है। तात्पर्य यह है कि अब बिना मन के यह निर्जीव शरीर पड़ा है—जब मन ही नहीं है तो तुम्हारी बातों को कौन सुनेगा ?

टिप्पणी—

(1) पाँचवीं पंक्ति में वक्रता और नाटकीय शैली का प्रयोग हुआ है।
(2) अन्तिम पंक्ति में समानधर्म लुप्तोपमा अलंकार है।
(3) ब्रजभाषा के कवियों ने यथास्थल अवधी का भी प्रयोग किया है, यथा 'आहि' अवधी की सहायक क्रिया है।
(4) 'जातभयो' यह पंडिताऊ शैली का प्रयोग है, यथा 'खात भयो', 'कहत भयो' आदि।

राग जैतश्री

ऊधो ! जो तुम हमहिं सुनायो।
सो हम निपट कठिनई करिकै या मन को समुझायो॥
जुगति जतन करि हमहुँ ताहि गहि सुपथ पंथ लौं लायौ।
भटकि फिर्‌यो बोहित के ख़ग ज्यों, पुनि फिरि हरि पै आयौ॥
हमको सबै अहित लागति है तुम अति हितहि बतायो।
सर-सरिता-जल होम किये तें कहा अगिनि सचु पायो ?
अब वैसो उपाय उपदेसो जिहि जिय जाय जियायो।
एक बार जौ मिलहिं सूर प्रभु कीजै अपनो भायो॥ 119॥

शब्दार्थ—निपट कठिनई करिके = बहुत ही कठिनाई या परेशानी के साथ। जुगुति = युक्ति। जतन = यत्न, उपाय। ताहि गहि = उस मन को बलात् पकड़ कर। सुपथ = अच्छे मार्ग। लौं = तक। बोहित = जहाज, बड़ी नाव। खग = पक्षी। फिरि = लौटकर। पै = निकट। कहा = क्या। सचु = सुख। अपनो भायो = अपना अभीष्ट (अपनी चाही बात)। भटकि फिर्‌यो = भटकता फिरा (संयुक्त क्रिया का प्रयोग)।

सन्दर्भ—इस पद में गोपियाँ अपने मन की विवशता का उल्लेख बहुत ही मनोवैज्ञानिक ढंग से कर रही हैं। उद्धव को गोपियाँ असंतुष्ट नहीं करना चाहतीं और उनकी योग-साधना को

स्वीकार भी करती हैं, लेकिन वे अपने मन को नियंत्रित नहीं कर पातीं—मन इस योग-साधना को किसी भी रूप में ग्रहण नहीं करना चाहता यही गोपियों की विवशता है।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, तुमने जो योग-साधना की बातें बतायीं उन्हें हमने सहर्ष स्वीकार किया और उन बातों को बड़ी कठिनाई के साथ मन को भी समझाया—यद्यपि मन इसे ग्रहण नहीं कर रहा था—लेकिन हमने बार-बार उसे इस मार्ग पर चलने के लिए विवश किया। यही नहीं, बड़ी युक्ति और यत्न के साथ (जो भाग रहा था) उसे पकड़ कर योग-मार्ग तक पहुँचाया (योग-साधना के लिए बाध्य किया है), परन्तु वह जहाज के पक्षी की भाँति इस मार्ग को देखकर भटकता फिरा और अन्ततः लौटकर श्रीकृष्ण के पास ही पहुँच गया। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार जहाज का पक्षी समुद्र के चारों तरफ जल ही जल देखकर भटकता रहता है—उसे कहीं शरण नहीं मिलती और अन्त में विवश होकर उसी जहाज पर लौट आता है, हमारा मन भी जहाज के पक्षी की भाँति एक मात्र श्रीकृष्ण की शरण में ही संतोष प्राप्त करता है। यद्यपि तुमने हमारे हित की बातें बतायीं (तुमने योग-साधना की चर्चा हमारे कल्याण के लिए की) लेकिन अपने मन की विवशता के कारण तुम्हारी ये हितकारी बातें हमें अहितकर प्रतीत होती हैं (हमें ये रुचिकर नहीं लगती)। तुम्हारी ये हितकारी बातें उसी प्रकार अच्छी नहीं लगतीं जैसे यदि कोई तालाब और नदियों के जल से होम करे तो अग्नि को उससे सुख नहीं मिलता है। आशय यह है कि हव्य सामग्री के बिना जल द्वारा होम करने पर अग्नि को सुख नहीं मिलता, जल की शीतलता से तो अग्नि बुझ जाती है, क्योंकि अग्नि और जल में प्रकृतिगत विरोध है। प्रकृति की इस विषमता के ही कारण लोगों को अच्छी बातें भी बुरी लगती हैं। अब वही उपाय बताएँ—उसी उपाय का उपदेश दें—जिससे श्रीकृष्ण के वियोग में इस निकलते प्राणों को हम जीवित कर सकें (इन प्राणों की रक्षा कर सकें)। सूर के शब्दों में गोपियों का कथन है कि यदि एक बार श्रीकृष्ण का दर्शन हो जाय तो वे उद्धव की सभी अभीष्ट बातों का पालन करेंगी। आशय यह है कि श्रीकृष्ण के दर्शन के लिए वे योग-साधना के बन्धन को भी स्वीकार कर लेंगी।

टिप्पणी—

(1) इसमें मन की विवशता का मनोवैज्ञानिक चित्रण किया गया है।

(2) 'सुपथ' के पश्चात् 'पंथ' शब्द का प्रयोग अधिक पदत्व दोष के अन्तर्गत परिगणित होता है।

(3) चौथी पंक्ति (भटकि फिर्‌यो बोहित के खग ज्यों) में उपमा अलंकार है। छठीं पंक्ति में काव्य लिंग है। क्योंकि पूर्व कथन की पुष्टि सकारण दूसरी पंक्ति में की गयी है।

(4) अंतिम चरण में गोपियों के अनन्यभाव की प्रधानता है।

(5) 'बोहित के खग' की उपमा सूर को अति प्रिय है, अतः उन्होंने अन्यत्र भी इसका प्रयोग किया है। यथा, जैसे उड़ि जहाज को पंछी फिरि जहाज पै आवै।

राग सारंग

ऊधो ! जोग बिसरि जनि जाहु।
बाँधहु गाँठि कहूँ जनि छूटै फिरि पाछे पछिताहु॥

ऐसी वस्तु अनूपम मधुकर मरम न जानै और।
ब्रजबासिन के नाहिं काम की, तुम्हरे ही है ठौर॥
जो हरि हित करि हमको पठ्यो सो हम तुमको दीन्हीं।
सूरदास नरियर ज्यों विष को करै बंदना कीन्हीं॥ 120 ॥

शब्दार्थ—बिसरि = भूल जाना। तुम्हरे ही है ठौर = तुम्हें ही फबती है, इसे तुम्हारे पास ही स्थान मिल सकता है। नरियर ज्यों विष को . . . . कीन्ही = इस योग रूपी विषैले नारियल को प्रणाम ही करते बनता है।

सन्दर्भ—इस पद में गोपियों ने तीखे व्यंग्य भरे शब्दों में उद्धव के योग का उपहास किया है। यहाँ गोपियाँ उद्धव को समझा रही हैं कि देखिए, इसे अपनी गाँठ में बाँध रखो।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, तुम यहाँ योग और ज्ञान जैसी बहुमूल्य वस्तु लेकर पधारे हो अतः इसे गाँठ में बाँध रखो (इसे सँभाल कर रखो) यह योग कहीं छूट न जाय—योग की जैसी अमूल्य वस्तु के गिर जाने पर तुम्हारी बहुत बड़ी हानि हो जाएगी अतः इसे गाँठ में दृढ़तापूर्वक बाँध लो, कहीं खुलने न पाए, अन्यथा आपको पछताना पड़ेगा, यदि गाँठ से यह खुल गयी और इसमें सुरक्षित बहुमूल्य योग कहीं खो गया तो आपका तो सर्वस्व चला जायगा। तुम्हारी इस अनुपम और बहुमूल्य वस्तु (योग) का मर्म जानने वाला यहाँ कोई नहीं है, अतः वह यदि किसी को मिल भी जाए तो वह कौड़ी के बराबर भी उसका मूल्य नहीं आँक पाएगा। कहने का आशय यह है कि यह ब्रजवासियों के लिए किसी भी काम की वस्तु नहीं है, यह तुम्हें ही फबती है—तुम्हारे निकट ही इसे स्थान मिल सकता है (इसकी कद्र तुम जैसे ज्ञानी ही कर सकते हैं) तुम इसे मथुरा के-मर्मज्ञों (कृष्ण और कुब्जादि) को दिखाओ, वे ही इसे ग्रहण करेंगे। इस बहुमूल्य योग को श्रीकृष्ण ने बड़ी कृपा करके हमारे पास भेजा है, अब उनकी भेजी हुई वस्तु को हम आपको भेंट कर रही हैं—व्यंजना यह है कि श्रीकृष्ण ने जिस निष्ठुरता के साथ हमारे पास योग का यह संदेश भेजा है, उसकी जितनी निन्दा की जाय, कम है। हम इसे तुम्हें वापस कर रही हैं और कह देना कि यह हमें स्वीकार्य नहीं है। सूरदास के शब्दों में उद्धव-प्रति गोपियों का कथन है कि हे उद्धव, तुम जो यह योग रूपी विषैला नारियल लाए हो, उसे दूर से ही प्रणाम करते बनता है—आशय यह है कि जैसे विषैला नारियल किसी काम का नहीं होता वह केवल पूजा के कार्यों में ही प्रयुक्त हो सकता है, उसी प्रकार तुम्हारा यह योग गोपियों के किसी काम का नहीं है, क्योंकि इसे ग्रहण करने पर प्राणस्वरूप श्रीकृष्ण से वंचित हो जाना पड़ेगा जो हमें वांछनीय नहीं है। हाँ, यह योगियों के लिए बड़े काम की वस्तु सिद्ध होगी।

टिप्पणी—

(1) पूरी रचना व्यंग्य-गर्भित काव्य-शैली का एक उत्कृष्ट नमूना है।

(2) 'ऐसी वस्तु अनुपम' में अत्यंत तिरस्कृत वाच्य ध्वनि है।

(3) अन्तिम पंक्ति में उपमा अलंकार है।

(4) बाँधहु गाँठि कहूँ जनि छूटै, मरम न जानै और, तुम्हारे ही है ठौर आदि मुहावरों के प्रयोग के कारण इस रचना की व्यंजकता बढ़ गयी है।

(5) हास्य, वक्रता और वचन-विदग्धता का यह एक सुन्दर उदाहरण है।

राग सारंग

ऊधो ! प्रीति न मरन बिचारै।
प्रीति पतंग जरै पावक परि, जरत अंग नहिं टारै॥
प्रीत परेवा उड़त गगन चढ़ि गिरत न आपु सम्हारै।
प्रीति मधुप केतकी-कुसुम बसि कंटक आपु प्रहारै॥
प्रीति जानु जैसे पय पानी जानि अपनपौ जारै।
प्रीति कुरंग नादरस, लुब्धक तानि तानि सर मारै॥
प्रीति जान जननी सुत-कारन को न अपनपौ हारै ?
सूर स्याम सों प्रीति गोपिन की कहु कैसे निरवारै॥ 121 ॥

शब्दार्थ—पतंग = पतंगा, एक कीड़ा जो दीपक में जल जाता है। परेवा = कबूतर। गगन चढ़ि = ऊँचे आकाश में पहुँच कर। कंटक आपु प्रहारै = स्वयं काँटों की चोट सहता है। अपनपौ = अपनापन, आत्मभाव। कुरंग = हिरण। नादरस = संगीत के आनंद में। लुब्धक = बहेलिया। तानि-तानि = कस-कसकर। सर = बाण। कैसे निरवारै = कैसे दूर किया जा सकता है ? अपनपौ हारै = अपने सुख-दुख को भुला देती है।

संदर्भ—इस पद में गोपियाँ उद्धव को समझा रही हैं कि प्रेम के मार्ग में मृत्यु की भी परवाह नहीं की जाती। वे अनेक प्रेम-पात्रों के आदर्श गुणों की चर्चा करती हुई यह संकेत करती हैं कि यदि श्रीकृष्ण के लिए यह जीवन भी देना पड़े तो चिन्ता की बात नहीं।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, प्रेम के मार्ग में मृत्यु का विचार नहीं किया जाता अर्थात् मृत्यु के भय से कोई प्रेम-साधक अपने मार्ग से कभी विचलित होते नहीं देखा गया। प्रेम-साधकों के लिए प्रेम-मार्ग पर चलने से कुछ ऐसा आनन्द मिलता है कि वे हँसते-हँसते जीवन को उत्सर्ग कर देते हैं, यथा प्रेम के ही कारण पतंगा दीपक की आग में पड़कर अपने जीवन को समाप्त कर देता है—वह चाहे तो दीपक की ज्वाला से भाग जाय, लेकिन दीपक के प्रति उसका ऐसा प्रेम है कि वह उसमें जल जाता है और जलते समय उस आग से अपने अंग को हटाता नहीं—उड़कर चला नहीं जाता। कबूतर भी जब बहुत ऊँचे आकाश में पहुँच जाता है और वहाँ से जब अपनी कबूतरी को देखता है, तो इतनी तेजी से उस पर गिरता है कि अपने प्राणों की भी परवाह नहीं करता—इतने ऊँचे आकाश से गिरने पर उसकी मृत्यु हो सकती है, लेकिन कबूतरी के प्रेम में उसे मृत्यु की चिन्ता ही नहीं होती। प्रेम के कारण भ्रमर केतकी पुष्प में बस जाता है और यह नहीं देखता कि उसके तीक्ष्ण काँटों से उसका कोमल अंग विद्ध हो जाएगा—वह इसकी चिन्ता किए बिना स्वयं ही काँटे की चोट सहता है। प्रेम तो दूध और पानी का देखना चाहिए। दूध जब आग में जलता है तो पानी दूध के प्रेम में आत्मभाव के कारण उसे बचाता है और अपने आपको जला देता है। आदर्श प्रेमी तो हिरण होते हैं जो संगीत के आनन्द में मुग्ध हो जाते हैं और प्रेम की ऐसी तन्मयता देखकर बहेलिया खूब कस कस कर उस पर बाणों का प्रहार करता है—इस प्रहार से वह अपनी उस संगीत की तन्मयता से विलग नहीं हो पाता। प्रेम के ही कारण कौन माता अपने पुत्र के लिए अपने सुख-दुख को त्याग नहीं देती आशय यह है कि माता की सभी चिन्ता पुत्र के सुख-दुख के लिए होती है, अपने आपके लिए नहीं। सूर के शब्दों में गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि हे उद्धव, हम गोपियों का प्रेम भी इसी प्रकार श्यामसुंदर से है, भला, बताओ ऐसे प्रेम को कैसे दूर किया जा सकता है ?

टिप्पणी—

(1) इसमें बहुत से आदर्श प्रेमियों के दृष्टान्त द्वारा प्रेम के सच्चे स्वरूप की अभिव्यंजना की गयी है।

(2) सूरदास के प्रेम-विषयक ऐसे आदर्श का उल्लेख अन्य कवियों ने भी किया है—

(क) अति सूधो सनेह को मारग है जहाँ नेकु सयानप बाँक नहीं।
तहँ साँचे चलैं तजि आपनुपौ झझकैं कपटी जे निसांक नहीं—घनानन्द

(ख) यह प्रेम को पंथ करार महा तरवार की धार पै धावनो है—बोधा कवि

(ग) मोहब्बत में नहीं है फर्क मरने और जीने का।
जिसे हम देख जीते हैं उसी बुत पै यह दम निकले॥

(3) पूरे पद में पदार्थावृत्ति दीपक अलंकार की प्रधानता है।

(4) अन्तिम चरण में गोपियों की अनन्यता का भाव व्यक्त हुआ है।

(5) चौथी पंक्ति का भाव अन्यत्र भी देखने को मिला है।

'भौंर न छोड़ै केतकी तीखे कंटक जान'।

राग रामकली

ऊधो ! जाहु तुम्हें हम जाने।
स्याम तुम्हैं ह्याँ नाहिं पठाए तुम हौ बीच भुलाने॥
ब्रजबासिन सों जोग कहत हौ, बातहु कहन न जाने।
बड़ लागै न बिवेक तुम्हारो ऐसे नए अयाने॥
हमसों कही लई सो सहिकै जिय गुन लेहु अपाने।
कहँ अबला कहँ दसा दिगंबर संमुख करौ पहिचाने॥
साँच कहौं तुमको अपनी सौं बूझति बात निदाने।
सूर स्याम जब तुम्हैं पठाए तब नेकहु मुसुकाने ?॥ 122 ॥

शब्दार्थ—अयाने = अज्ञानी। गुन लेहु = समझ लो। अपाने = अपने। दिगम्बर = साधु, नागा। संमुख = प्रत्यक्ष। सौं = सौगन्ध, कसम। निदाने = अन्त में। बूझति = पूछती हैं। नेकहु = किंचित, थोड़ा भी।

सन्दर्भ—गोपियाँ जब उद्धव की धृष्टता से ऊब जाती हैं तो वे अपने तीखे व्यंग्य द्वारा उन्हें बनाने की पूर्ण चेष्टा करती हैं। प्रस्तुत पद में उद्धव के प्रति गोपियों के व्यंग्य, विनोद और उपहास का बड़ा ही यथार्थ और सहज रूप व्यक्त हुआ है।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, जाओ, हमने तुम्हें ठीक तरह से पहचान लिया है अर्थात् तुम इस भ्रम में मत रहो कि हम तुम्हारे मर्म को नहीं समझतीं। अरे, हमें तो ऐसा लगता है कि श्यामसुंदर ने तुम्हें हमारे पास नहीं भेजा, कहीं अन्यत्र भेजा था, लेकिन बीच ही में अपना रास्ता (अपना गन्तव्य स्थल) भूल गए हो और यहाँ पहुँच आएँ। तुम ब्रजवासियों से योग की चर्चा कर रहे हो, लेकिन ब्रजवासियों से इस प्रकार की बात करनी चाहिए या नहीं इसे तुम नहीं जानते आशय यह है कि श्रीकृष्ण ने अपना योग-संदेश विवेकशील प्राणियों के पास भेजा था, लेकिन तुम हम अज्ञानियों के पास पहुँच आए। अतः तुम अपनी बात

(दार्शनिक जटिलताओं को) समझाना भी नहीं जानते। तुम्हारा यह विवेक हमें बड़ा नहीं लगता (इसमें तुम्हारी थोड़ी समझदारी का परिचय मिलता है) और तुम एक नये या विचित्र ढंग के अज्ञानी प्रतीत होते हो, क्योंकि आज तक हमने नहीं सुना कि स्त्रियों को भी योग-साधना की ओर प्रवृत्त किया जाये। भला, अज्ञानी अहीर की स्त्रियाँ योग के मर्म को क्या जानें ? तुमने ऐसी मूर्खता और हृदय को पीड़ित करने वाली जो बातें हमें बतायीं उसे हमने तो किसी प्रकार सहन कर लिया, लेकिन अपने मन में जरा विचार करके देखो कि अबला और दिगम्बर (साधु) की दशा में कितना अन्तर है (एक वीतराग-सांसारिक लिप्सा और घर-गृहस्थ से दूर और दूसरे वे हैं जो सांसारिक जीवन में पगे हैं—इन दोनों में मेल कैसे हो सकता है ?) इसे तुम प्रत्यक्ष पहचानने का प्रयत्न करो (कोरे सिद्धान्तों द्वारा दोनों के तात्विक अन्तर को नहीं समझा सकते)। खैर, छोड़ो इन बातों को, हम अन्ततः तुमसे एक बात पूछती हैं, तुम्हें हमारी कसम है, सच-सच बताना वह यह कि जब कृष्ण ने तुम्हें हमारे पास भेजा था तो क्या वे किंचित मुस्कराए भी थे। यदि भेजते समय वे मुस्कराए थे तो निश्चय ही उन्होंने तुम्हारे साथ मजाक किया है और तुम्हें मूर्ख बनाने के लिए हमारे पास योग का संदेश भेजा है। व्यंजना यह है कि उन्होंने जान-बूझ कर तुम्हारे ज्ञान-गर्व स्फीत व्यक्तित्व को समाप्त करने के उद्देश्य से यहाँ भेजा है और यह भी सोचा होगा कि तुम प्रेम और भक्ति की गरिमा को समझो।

टिप्पणी—

(1) इस पद में सूर के हास्य और व्यंग्य के चरमोत्कर्ष की पूर्ण व्यंजना हुई है।

(2) सूर की वाणी में वक्रता और वाग्विदग्धता कितने सूक्ष्म रूप में व्याप्त है, यह इस पद के अन्तिम चरण में देखा जा सकता है।

(3) इसमें वस्तु से वस्तु व्यंग्य है अर्थात् एक ओर तो इसमें उद्धव की मूर्खता व्यंजित है और दूसरी ओर व्यंग्य वस्तु के अन्तर्गत ज्ञान और भक्ति के अन्तर का संकेत है।

(4) अन्तिम दो पंक्तियों में पर्यायोक्ति अलंकार है।

राग धनाश्री

ऊधो ! स्यामसखा तुम साँचे।
कै करि लियो स्वांग बीचहि तें, वैसेहि लागत काँचे॥
जैसी कही हमहिं आवत ही औरनि कहि पछिताते।
अपनो पति तजि और बतावत महिमानी कछु खाते॥
तुरत गौन कीजै मधुबन को यहाँ कहाँ यह ल्याए ?
सूर सुनत गोपिन की बानी उद्धव सीस नवाए॥ 123 ॥

शब्दार्थ—काँचे = कच्चे। महिमानी कछु खाते = सत्कार होता, कोसे जाते। गौन = प्रस्थान। मधुबन = मथुरा। सीस नवाए = सिर झुका लिया, पराजित हो गए।

सन्दर्भ—गोपियाँ श्रीकृष्ण और उद्धव की प्रकृति की समता करती हुई कह रही हैं कि दोनों ही स्वांग करने में कच्चे हैं (गँवार हैं) इन्हें स्वांग करना भी नहीं आता, क्योंकि दोनों के स्वांग की कलई खुल गयी।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, क्या सचमुच तुम श्रीकृष्ण के सच्चे मित्र हो अथवा बीच में ही स्वांग रचकर हम सब को धोखा देने आए हो। क्योंकि तुम उन्हीं के स्वभाव के लगते हो—उन्होंने भी हम लोगों से प्रेम का अभिनय किया था, क्योंकि कुछ समय तक हम लोगों को उन्होंने अपने झूठे प्रेम में फँसाया और अन्त में कुब्जा से प्रेम किया। तुम भी उन्हीं की भाँति कच्चे लगते हो—स्वांग करना नहीं जानते और इस कला में गँवार प्रतीत होते हो। तुमने आते ही हमसे जिस प्रकार की बातें कहीं (श्रीकृष्ण को छोड़कर जो निर्गुण ब्रह्म की उपासना का मार्ग बताया) यदि वैसी बातें किसी दूसरे से करते तो निश्चय ही तुम्हें पछताना पड़ता अर्थात् इस करनी का फल तुम्हें मिलता और यदि किसी स्त्री के समक्ष अपना पति छोड़ कर किसी दूसरे को ग्रहण करने की चर्चा करते तो तुम्हारी अच्छी आवभगत होती। व्यंजना यह है कि तुम्हें काफी दण्ड मिलता—तुम्हारी भली भाँति मरम्मत होती। हे उद्धव, उत्तम यही है कि तुम शीघ्र ही मथुरा के लिए प्रस्थान कर दो और यह योग तुम यहाँ कहाँ लाए हो, यहाँ इसका कौन पारखी है ? सूर के शब्दों में गोपियों की वाणी को सुनते ही उद्धव ने अपना मस्तक झुका लिया—वे निरुत्तर हो गए—उनसे कुछ कहते न बना।

टिप्पणी—

(1) चौथी पंक्ति में (महिमानी कछु खाते) अत्यंत तिरस्कृत वाच्य ध्वनि है। इसके अतिरिक्त श्रीकृष्ण को पतिरूप में वरण करने में गोपियों के माधुर्य भाव की अभिव्यक्ति हुई है।

(2) पाँचवीं पंक्ति में मधुबनवासी कुब्जा और कृष्ण के प्रति तीखा व्यंग्य लक्षित होता है।

(3) अन्तिम पंक्ति में गोपियों की अनन्य निष्ठा के समक्ष उद्धव का पराभव व्यंजित है।

राग केदारो

ऊधोजू ! देखे हौ ब्रज जात।
जाय कहियो स्याम सों या बिरह को उत्पात॥
नयनन कछु नहिं सूझई, कछु श्रवन सुनत न बात।
स्याम बिन अंसुवन बूड़त दुसह धुनि भइ बात॥
आइए तो आइए, जिय बहुरि सरीर समात।
सूर के प्रभु बहुरि मिलिहौ पाछे हू पछितात॥ 124॥

शब्दार्थ—दुसह धुनि = कानों के लिए असह्य ध्वनि। बहुरि = पुनः। जिय बहुरि सरीर समात = यह प्राण शरीर में पुनः आ जाएगा। सूझई = दिखाई नहीं पड़ता।

सन्दर्भ—कृष्ण के बिना गोपियों की दशा अत्यंत दयनीय हो गयी। प्राण-शक्तियाँ शनैः-शनैः क्षीण हो रही हैं। गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि यह उनका अन्तिम समय है। यदि ऐसे समय उनका दर्शन हो जाता है तो शायद निकलते हुए ये प्राण शरीर में पुनः प्रवेश कर जायँ।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, तुम तो ब्रजवासियों की दशा प्रत्यक्ष-रूपेण देखे जा रहे हो—तुमसे क्या छिपा है ? अतः वियोगजनित हम ब्रजवासियों की सभी परेशानियाँ श्रीकृष्ण से स्पष्टरूपेण जाकर बता देना। हमारी स्थिति तो इस प्रकार दयनीय

हो गयी है कि न आँखों से दिखाई पड़ता है (वियोग में रोते-रोते आँख की ज्योति क्षीण हो गयी) और न कानों से कोई बात सुनाई पड़ती है (श्रवण शक्तियाँ भी समाप्त हो चुकी हैं)। आँखें श्रीकृष्ण के बिना आँसुओं में डूबी रहती हैं तात्पर्य यह है कि आँखों से निरन्तर आँसू बहता रहता है और उसका बहना बन्द नहीं होता (आँसुओं के जल में आँखों के डूबी रहने के कारण कुछ दिखाई नहीं देता है) और जो बातें लोग करते हैं उनकी ध्वनि श्याम के बिना कानों को असह्य हो गयी हैं (हम सब कृष्ण के बिना किसी भी प्रकार की बात सुनना पसंद नहीं करतीं)। उनसे तुम स्पष्ट कह देना कि यदि वे आते हैं (हमें दर्शन देते हैं) तो ये जाते हुए हमारे प्राण शरीर में पुनः आ जायँगे (अर्थात् हम सब पुनर्जीवित हो जाएँगी, अन्यथा यदि वे अवसर पर नहीं मिलते तो उन्हें पछताना पड़ेगा। आशय यह है कि आशा में हमारे प्राण अटके हैं यदि समय पर उनका दर्शन हो जाता है तो ये प्राण बने रहेंगे, अन्यथा मर जाने पर यदि वे आते हैं तो उन्हें दुख होगा और निराश होकर यहाँ से जाना पड़ेगा (वे कृष्ण हमारे मर जाने पर किससे मिलेंगे ?)।

टिप्पणी—

(1) इस पद में वियोगिनी गोपियों की मार्मिक दशा का चित्रण हुआ है।
(2) इसमें जीवन के अन्तिम समय की बड़ी कारुणिक झलक दृष्टिगत हुई है।
(3) वियोग की अन्तिम दशा मृत्यु का संकेत काव्योचित सरसता के साथ किया गया है।
(4) अतिशयोक्ति अलंकार की प्रधानता है।
(5) सूर के इस पद का भाव अन्य कवियों ने भी ग्रहण किया है—

(क) एरी बेगि करिके मिलाप थिर थापु
न तो आपु अब चाहत अतन को शरीर भो। —भिखारीदास

(ख) हाल कहा बूझत बिहाल परी बाल सब
बसि दिन द्वैक देखि दृगनि सिधाइयौ।
औसर मिलै और सरताज कछु पूछहिं तौ,
कहियौ कछू न दास देखी सो दिखाइयो॥ —रत्नाकर

राग नट

ऊधो ! बेगि मधुबन जाहु।
जोग लेहु सँभारि अपनो बेंचिए जहँ लाहु॥
हम बिरहिनी नारि हरि बिनु कौन करै निबाहु ?
तहाँ दीजै मूर पूजै, नफा कछु तुम खाहु॥
जौ नहीं ब्रज में बिकानो नगरनारि बिसाहु।
सूर वै सब सुनत लैहैं जिय कहा पछिताहु॥ 125 ॥

शब्दार्थ—बेगि = शीघ्र। मधुबन = मथुरा। लाहु = लाभ। निबाहु = निर्वाह। मूर पूजै = पूँजी निकल आवे। नफा = मुनाफा। बिसाहु = खरीद लेंगी।

सन्दर्भ—गोपियाँ उद्धव के योग का उपहास कर रही हैं, क्योंकि उद्धव की बातों को वे सब सुनते-सुनते ऊब गयीं और अब अधिक सुनने में असमर्थ हैं। उनका कथन है कि इस योग

की अधिकारिणी कुब्जा जैसी नारियाँ हैं जो भोग में लिप्त हैं—

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, तुम शीघ्र ही मथुरा नगर जाओ। तुम अपना योग अच्छी तरह से सँभाल लो और वहाँ बेचिए जहाँ तुम्हें लाभ मिले। तात्पर्य यह है कि यहाँ तो तुम्हें लाभ के बजाय हानि उठानी पड़ेगी, क्योंकि यहाँ कोई तुम्हारे योग के महत्व को नहीं समझता। हाँ, मथुरा नगर में इसके बहुत से मर्मी मिल जाएँगे। हम सब विरहिणी नारियाँ हैं, श्रीकृष्ण के बिना हमारा कौन निर्वाह कर सकता है ? तात्पर्य यह है कि हमें तो एक मात्र सहारा श्रीकृष्ण का ही है—वे ही हम सब का निर्वाह कर सकते हैं। तुम अपने इस योग को वहाँ बेंचो जहाँ तुम्हारी इसमें फँसी हुई पूँजी निकल आवै और इससे कुछ नफा खाओ (इससे तुम्हें कुछ फायदा हो जाय)। देखो उद्धव, दुख मानने की बात नहीं है यदि तुम्हारा यह योग इस ब्रजमण्डल में नहीं बिकता तो मथुरा नगर की नारियाँ (कुब्जादि) इसे अवश्य खरीद लेंगी; वहीं इसे ले जाओ। वे योग को सुनते ही ले लेंगी। तुम्हारा यह माल ब्रज में बिक नहीं रहा है इसके लिए तुम पश्चाताप क्यों कर रहे हो ? अरे, यहाँ नहीं बिकता तो मथुरा में तो बिक ही जाएगा।

टिप्पणी—

(1) पूरी रचना में अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार है।
(2) नगरनारि में कुब्जा के प्रति संकेत है। इस दृष्टि से इसमें असूया संचारी है।
(3) पूरे पद में तीखे व्यंग्य का प्रयोग हुआ है।
(4) इसमें रूपक अलंकार से वस्तु ध्वनित है। योग में सौदा आदि का आरोप हुआ है और उससे योग की निंदा व्यंजित है।
(5) 'जोग लेहु सँभारि', 'कौन करै निबाहु', 'नफा कछु तुम खाहु' आदि में सुन्दर मुहावरों का प्रयोग हुआ है।

राग नट

ऊधो ! कछु कछु समुझि परी।
तुम जो हमको जोग लाए भली करनी करी॥
एक बिरह जरि रही हरि के, सुनत अतिहि जरी।
जाहु जनि अब लोन लावहु देखि तुमहिं डरी॥
जोग-पाती दई तुम कर बड़े जान हरी।
आनि आस निरास कीन्ही, सूर सुनि हहरी॥ 126॥

शब्दार्थ—लोन लावहु = नमक छिड़को (मुहावरा)। जान = सुजान, चतुर। हहरी = दहल गई, घबरा गई। आनि आस . . . . कीन्ही = आकर आशा को भी निराशा में परिणत कर दिया। पाती = पत्र-संदेश।

सन्दर्भ—गोपियाँ उद्धव के योग-संदेश से असंतुष्ट होकर उन्हें व्यंग्यपूर्ण शैली में भला-बुरा कह रही हैं और डाँट रही हैं कि वे वियोग की ज्वाला में जली गोपियों पर अब नमक न छिड़कें।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, अब तुम्हारी बातें कुछ-कुछ हमारी समझ में आ रही हैं। सचमुच तुम जो हमारे लिए योग का संदेश लाए हो, यह तुम्हारा बहुत

श्रेष्ठ कार्य है। व्यंजना यह है कि तुम्हारा योग-संदेश हमारे लिए एक निन्दनीय कार्य सिद्ध हुआ है। क्योंकि एक तो हम सब श्रीकृष्ण के वियोग की ज्वाला में पहले ही से जली थीं, दूसरे तुम्हारे योग-संदेश को सुनकर और जल उठीं तात्पर्य यह है कि हमें इससे द्विगुणित पीड़ा हुई। अतः उत्तम यही होगा कि तुम यहाँ से चले जाओ और इस जले पर नमक मत छिड़को (एक दुख से अब दूसरा दुख देकर हमारी पीड़ा को मत बढ़ाओ)। हम सब तुम्हें देखकर भयभीत हो गयी हैं (सोचती हैं कि अब न जाने तुम कौन-सा दुख दोगे)। अतिशय सुजान श्रीकृष्ण ने तुम्हारे हाथों योग का पत्र (संदेश) भेजा है। आशय यह है कि यदि वे चतुर और बुद्धिमान होते तो हम अबलाओं के पास योग का संदेश न भेजते—वे तो हमें गँवार ही प्रतीत होते हैं। सूर के शब्दों में गोपियों का कथन है कि हे उद्धव, तुमने आकर हमारी आशा को निराशा में परिणत कर दिया। अभी तक तो हम सब आशान्वित थीं कि श्रीकृष्ण हम सब को दर्शन देंगे, लेकिन अब उनके योग संदेश को सुनकर हम सब बिल्कुल निराश हो गयीं और दहल गयी हैं।

टिप्पणी—

(1) 'भली करनि करी' और 'बड़े जान हरी' में विपरीत लक्षणा का प्रयोग हुआ है। इन दोनों में विपरीत अर्थ व्यंजित हुआ है।
(2) तीसरी पंक्ति (जनि अब लोन लावहु) में मुहावरे का प्रयोग हुआ है।
(3) अन्तिम पंक्ति में गोपियों की निराशा की एक सच्ची झलक मिलती है।
(4) गोपियों की झुँझलाहट और खीझ का यह यथार्थ चित्र है।

राग धनाश्री

ऊधो ! सुनत तिहारे बोल।
ल्याए हरि कुसलात धन्य घर घर पार्‌यो गोल॥
कहन देहु कह करै हमारो बरि उड़ि जैहै झोल।
आवत ही याको पहिचान्यो निपटहि ओछो तोल॥
जिनके सोचन रही कहिबे तें ते बहु गुननि अमोल।
जानी जाति सूर हम इनकी बतचल चंचल लोल॥ 127 ॥

शब्दार्थ—पार्‌यो गोल = गोलमाल किया, गड़बड़ मचाया। बरि उड़ि जैहै = जल कर उड़ जाएगा। झोल = राख, भस्म। निपटहि = अत्यंत। ओछो तोल = तौल में कम, हलका। बतचल = बकवादी। लोल = चंचल। जाति = सम्प्रदाय, मण्डली।

सन्दर्भ—इस पद में गोपियों ने उद्धव की प्रकृति का यथार्थ निरूपण किया है। गोपियों के अनुसार उद्धव अत्यंत बकवादी, लम्पट और बेईमान व्यक्ति हैं। उद्धव के प्रति गोपियों ने क्रुद्ध होकर अपने हृदय का सच्चा उद्‌गार व्यक्त किया है।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, हम सब तुम्हारी बात को सुन रही हैं और अच्छी तरह उसे समझ भी रही हैं। तुम धन्य हो कि श्रीकृष्ण की कुशलता का समाचार क्या लाए घर-घर में गड़बड़ी पैदा कर दी (तुम्हारे योग-संदेश को सुनकर घर-घर में कोहराम मच गया) व्यंजना यह है कि तुम्हारी दुष्टता की हद हो गयी। क्योंकि तुमने श्रीकृष्ण की कुशलता के बहाने ब्रज के प्रत्येक प्राणी को संतप्त किया। उद्धव से जब कोई सखी इस प्रकार कह रही थी

उसी समय एक अन्य गोपी ने कहा कि हे सखी, यह जो कुछ कहता है, इसे कहने दो, उससे हमारी क्या हानि होगी (हमारा कुछ बनता-बिगड़ता नहीं)। इसकी बातें, तुम देखोगी जल कर राख के रूप में उड़ जाएँगी (इसकी बकबकाहट कुछ देर में समाप्त हो जाएगी और उसका हम सब पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा)। हमने तो इसे आते ही पहचान लिया कि यह अतिशय बेईमान प्रकृति का व्यक्ति है; इसकी नीयत ठीक नहीं है और यह तौल में कम अर्थात् हलका है अर्थात् स्वभाव का गंभीर नहीं है। अरी, अभी तक तो हम जिनके संकोच (जिस कृष्ण के सखा होने के कारण) में कुछ भी कहने से रहीं (कुछ भी नहीं कहा) लेकिन ये तो अमूल्य गुणवान निकले (बड़े ही गुणज्ञ और महान् पुरुष प्रमाणित हुए)। सूर के शब्दों में उस गोपी का कथन है कि हमने इनकी जाति (सम्प्रदाय) पहचान ली (इनकी जातिगत विशेषताओं से हम सब परिचित हो गयी हैं) अर्थात् ये अतिशय बकवादी, चंचल (अनस्थिर) और लम्पट स्वभाव के व्यक्ति हैं (इनकी बातों में किसी भी प्रकार की न गहराई है और न सच्चाई)।

टिप्पणी—

(1) इसमें सूर ने मुहावरे गर्भित भाषा का प्रयोग किया है। यथा, घर घर पार्‌यो गोल, बरि उड़ि जैहै झोल, निपटहि ओछो तोल, जानी जाति सूर हम इनकी।

(2) 'धन्य' शब्द में विपरीत लक्षणा है। 'ते बहु गुननि अमोल' में भी विपरीत लक्षणा या अत्यंत तिरस्कृत वाच्य ध्वनि है।

(3) वस्तुतः इस पद में लक्षणा और व्यंजना का चमत्कार द्रष्टव्य है।

(4) अन्तिम चरण में अक्रूर और कृष्ण के साथ इनके भी स्वभाव की विशेषता का संकेत है, क्योंकि तीनों की एक ही मण्डली है।

राग नटनारायण

ऐसी बात कहौ जनि ऊधो !
ज्यों त्रिदोष उपजे जक लागति, निकसति बचन न सूधो ॥
आपन तौ उपचार करौ कछु तब औरन सिख देहु।
मेरे कहे बनाय न राखौ थिर कै कतहूँ गेहु ॥
जो तुम पद्मपराग छाँड़िकै करहु ग्राम-बसबास।
तौ हम सूर यहौ करि देखें निमिष छाँड़ही पास ॥ 128 ॥

शब्दार्थ—त्रिदोष = सन्निपात (बात, पित्त और कफ का संयोग)। जक = रट, झक, बकवाद। उपचार = इलाज। थिरकै = स्थायी रूप में। गेह = घर। पद्मपराग = कमलों का पराग। बसबास = निवास। निमिष = एक क्षण में। पास = सम्पर्क (श्रीकृष्ण का)। सूधो = सीधे-सीधे।

सन्दर्भ—गोपियाँ भ्रमर रूप उद्धव से कहती हैं कि हम एक शर्त पर श्रीकृष्ण का सम्पर्क छोड़ने को तैयार हैं वह यह कि पहले तुम कमलों के पराग के प्रति अपना अनुराग त्याग करके गाँवों में निवास करो (कमल वनों में मत जाओ); अन्यथा यह तुम्हारा प्रलाप मात्र है। और 'पर उपदेश कुसल बहुतेरे' की उक्ति को चरितार्थ करना है।

व्याख्या—(भ्रमर रूप उद्धव के प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, तुम जो श्रीकृष्ण को

छोड़ निर्गुण ब्रह्मोपासना की बात कह रहे हो, वह हमें प्रिय नहीं है। अतः तुम इस प्रकार की चर्चा हमारे समक्ष मत करो। देखती क्या हैं कि तुम्हारी बातें उसी प्रकार सीधे-सीधे नहीं निकल रही हैं जैसे सन्निपातग्रस्त रोगी अपनी बात सीधे-सीधे नहीं कहता और उसे बकवाद करने की एक झक सी लग जाती है (वह निरन्तर निरर्थक बातें करता रहता है) सिद्ध है कि तुम्हें भी बोलने का (बड़बड़ाने का) सन्निपात हो गया है, अतः पहले अपना इलाज करो तब दूसरों को शिक्षा दो (जब तुम स्वयं रोगी हो तो दूसरे के रोग को कैसे दूर कर सकते हो ?) मेरे कहने से तुम स्थायी रूप से अपना कहीं घर क्यों नहीं बना लेते ? आशय यह है कि बिना स्थायी घर के अनस्थिर प्रकृति के हे भ्रमर (उद्धव), तुम इधर-उधर क्यों घूमा करते हो। हाँ, यदि तुम कमलों के पराग का प्रेम छोड़कर गाँवों में निवास करने लगो तो (सूर के शब्दों में गोपियों का कथन है कि) हम सब भी एक क्षण में श्रीकृष्ण का सम्पर्क त्याग करके तुम्हारे निर्गुण ब्रह्म की उपासना करने लगें (निर्गुण ब्रह्म का अनुभव करें)। आशय यह है कि तुम तो चंचल प्रकृति के हो और दूसरों को योगी बनने का उपदेश देते फिरते हो। यह तो 'पर उपदेश कुसल बहुतेरे' की बात हुई। यदि तुम अपनी प्रकृति त्याग दो तो हम भी अपनी प्रकृति त्यागने को तैयार हैं।

टिप्पणी—

(1) द्वितीय पंक्ति में उदाहरण अलंकार है।
(2) दूसरी पंक्ति में 'पर उपदेस कुसल बहुतेरे' की उक्ति प्रयुक्त हुई है।
(3) पाँचवीं पंक्ति में उद्धव को चंचल भ्रमर के रूप में अभिहित किया गया है।
(4) 'आपन तौ उपचार करौ' में सुन्दर मुहावरे का प्रयोग हुआ है।

राग नट

ऊधो ! जानि परे सयान।
नारियन को जोग लाए, भले जान सुजान॥
निगमहूँ नहिं पार पायो कहत जासों ज्ञान।
नयन त्रिकुटी जोरि संगम जेहि करत अनुमान॥
पवन धरि रवि-तन निहारत, मनहिं राख्यो मारि।
सूर सो मन हाथ नाहीं गयो संग बिसारि॥ 129 ॥

शब्दार्थ—सयान = चतुर। जान = ज्ञानी। सुजान = सज्जन। निगमहूँ = वेद भी। जासों = जिनसे—जिन गोपियों से। ज्ञान = ब्रह्मज्ञान। त्रिकुटी = दोनों आँखों के ऊपर भौंहों के मध्य का स्थान। जोरि = जोड़कर, एकाग्र करके। संगम = ब्रह्म साक्षात्कार। पवन धरि = प्राणायाम साधकर। रवि-तन = सूर्य की ओर। निहारत = देखते हैं। मनहिं राख्यो मारि = मन को नियंत्रित कर रखा है। बिसारि = भुलाकर।

सन्दर्भ—इस पद में गोपियों ने उद्धव की अज्ञानता पर चिन्ता प्रकट की है। उनके अनुसार नारियों को ब्रह्म-ज्ञान और योग की शिक्षा देना उद्धव की अज्ञता का द्योतक है।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, तुम तो हमें बहुत चतुर समझ पड़ते हो। तुम तो इतने अच्छे ज्ञानी और सज्जन पुरुष हो कि नारियों के लिए योग-साधना का संदेश लेकर आए हो (तात्पर्य यह है कि तुम्हारी अज्ञता और उद्दण्डता का परिचय तो हमें उसी समय

मिल गया जब तुम हम अबलाओं को योग की शिक्षा देने लगे)। तुम जिन गोपियों से ब्रह्म-ज्ञान की चर्चा कर रहे हो उसके रहस्य को वेदों ने भी नहीं समझा और योगी जन जिस ब्रह्म के साक्षात्कार का अपनी त्रिकुटी में नेत्रों को जोड़कर (एकाग्र करके) अनुमान किया करते हैं तथा अपने मन को वशीभूत करके एवं प्राणायाम साधकर सूर्य की ओर निरन्तर देखा करते हैं योगियों जैसा वह मन हमारे पास अब नहीं है—वह तो हमारा साथ छोड़कर एवं हमें भुलाकर हमारे हाथ से निकल गया (हमारे मन ने पहले ही से श्रीकृष्ण के सौन्दर्य में वशीभूत होकर हमें छोड़ दिया) यदि वह हमारे वश में होता तो हम तुम्हारी योग-साधना को स्वीकार कर लेतीं और हमारा मन तुम्हारे इस निर्गुण ब्रह्म की साधना में अवश्य ही लग जाता।

टिप्पणी—

(1) 'मन हाथ नाही', 'मनहि राख्यो मारि' में रूढ़ि लक्षणा का प्रयोग हुआ है।
(2) इसमें गोपियों ने अपनी विवशता का संकेत किया है।
(3) 'भले जान सुजान' में अत्यंत तिरस्कृत वाच्य ध्वनि है। तीनों शब्द विपरीत अर्थ में प्रयुक्त हैं।

राग धनाश्री

ऊधो ! मन नहिं हाथ हमारे।
रथ चढ़ाय हरि संग गए लै मथुरा जबै सिधारे॥
नातरु कहा जोग हम छाँड़हि अति रुचि कै तुम ल्याए।
हम तौ झकति स्याम की करनी, मन लै जोग पठाए॥
अजहूँ मन अपनो हम पावै तुमतें होय तो होय।
सूर, सपथ हमें कोटि तिहारी कहौ करेंगी सोय॥ 130 ॥

शब्दार्थ—नातरु = नहीं तो। झकति = झीकती हैं। अति रुचि कै = अत्यंत प्रेमपूर्वक। होय तो होय = यदि हो सके। सपथ = सौगन्ध।

प्रसंग—इस पद में गोपियाँ अपने मन की विवशता प्रकट कर रही हैं। उनका मन तो कृष्ण के साथ चला गया। यदि उनका मन लौट आए तो वे उद्धव की बातों को मानने के लिए तैयार हैं।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, हमारा मन तो हमारे अधिकार में नहीं है, हमारे मन को श्रीकृष्ण रथ पर बैठा कर उस समय ले गये जब वे मथुरा जाने लगे, अन्यथा तुम जिस योग को बड़े प्रेम के साथ हमारे पास ले आए हो उसे हम सब क्या छोड़ सकती थीं। हम तो श्रीकृष्ण के उस व्यवहार से झीखती हैं कि उन्होंने हमारे मन को तो ले लिया (उसे अपने वश में कर लिया) लेकिन अब उसे न वापस करके उसके बदले में उन्होंने हमारे पास योग भेजा है। बिना मन वापस किए योग-साधना के लिए बल देना क्या उचित है ? यदि तुम प्रयास कर सको तो हमें अपना मन आज भी (अब भी) प्राप्त हो सकता है। योग-साधना के लिए मन को पाना अत्यावश्यक है, बिना मन के कौन योग-साधना कर सकता है ? सूर के शब्दों में गोपियाँ कह रही हैं कि हे उद्धव, हम तुम्हारी करोड़ों कसम खाकर कह रही हैं कि यदि हमारा मन वापस आ जाएगा (यदि तुम हमारे मन को वापस करने में योग दोगे) तो तुम जो कहोगे हम सभी

तुम्हारी बातें स्वीकार करेंगी; तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्ण के प्रेम में अनुरक्त हमारे मन को यदि वहाँ से हटाने में समर्थ होते हो तो तुम्हारे प्रत्येक आदेश का हम सब सहर्ष पालन करेंगी।

टिप्पणी—

(1) गोपियों को विश्वास है कि श्रीकृष्ण के प्रेम में अनुरक्त मन कभी वापस नहीं हो सकता। इसलिए वे मन के लौटने पर ही योग-साधना करने के लिए कहती हैं।
(2) प्रथम पंक्ति में मुहावरे का प्रयोग हुआ है।
(3) तीसरी पंक्ति में तीखे व्यंग्य का निरूपण और विपरीत लक्षणा का प्रयोग हुआ है।

राग धनाश्री

ऊधो ! जोग सुन्यो हम दुर्लभ।
आपु कहत हम सुनत अचंभित जानत हौ जिय सुल्लभ॥
रेख न रूप बरन जाके नहिं ताको हमैं बतावत।
अपनी कहो दरस वैसे को तुम कबहूँ हौ पावत ?
मुरली अधर धरत है सो, पुनि गोधन बन बन चारत ?
नैन बिसाल भौंह बंकट करि देख्यो कबहुँ निहारत ?
तन त्रिभंग करि नटवर बपु धरि पीतांबर तेहि सोहत।
सूर स्याम ज्यों देत हमैं सुख, त्यों तुमको सोउ मोहत॥ 131 ॥

शब्दार्थ—दुर्लभ = जो सहज साध्य न हो, कठिन। सुल्लभ = आसानी से जो सुलभ हो जाय। बरन = वर्ण, रंग। अपनी कहौ = अपनी बात या अनुभव बताओ। गोधन = गायों को। बंकट करि = वक्र करके। त्रिभंग = त्रिभंगी रूप (बंशी बजाते समय श्रीकृष्ण का अंग तीन जगह से टेढ़ा हो जाता था)। नटवर बपु = नटवेश में।

प्रसंग—इस पद में गोपियों ने सगुणोपासना की तुलना में योग-साधना को सहज साध्य नहीं माना। वे उस ब्रह्म की उपासना करने में सर्वथा असमर्थ हैं जिसका न कोई रूप है और न रंग।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, हमने तो यह सुना है कि योग-साधना अत्यंत दुर्लभ है, वह सहज साध्य नहीं है। आप तो उस योग की महिमा का वर्णन करते हैं, लेकिन हम तो उसे सुनकर आश्चर्यचकित हैं जिसे आप सुलभ और सहज-साध्य समझते हैं। आश्चर्य है कि तुम्हारे जिस ब्रह्म की न कोई रूप-रेखा है और न कोई वर्ण, उसकी उपासना की बात आप हमें बताते हैं। तुम हमें अपना अनुभव बताओ—क्या तुम्हें ऐसे ब्रह्म का कभी दर्शन होता है (तुमने ऐसे निराकार को कभी देखा है ?)। क्या तुम्हारा यह ब्रह्म हमारे सगुण श्रीकृष्ण की भाँति कभी अपने ओष्ठों पर मुरली धारण करता है और क्या वह बन-बन गायों को चराता है—क्या तुमने उसे विशाल नेत्रों से भौंहों को टेढ़ी करके कभी निहारते हुए देखा है ? आशय यह है कि तुमने श्रीकृष्ण के ऐसे मनोहर रूप का दर्शन नहीं किया। क्या त्रिभंगी रूप करके नटवेश में तुम्हारे ब्रह्म के शरीर पर श्रीकृष्ण की भाँति पीताम्बर शोभा देता है—यही नहीं जिस प्रकार वह श्रीकृष्ण हमें सुख देता है, क्या तुम्हारा वह ब्रह्म भी तुमको उसी तरह मोहित करता है ? आशय यह है कि श्रीकृष्ण ने अपनी नाना प्रकार की लीलाओं के द्वारा हमें जो सुख दिया

क्या वैसा सुख कभी आपको भी सुलभ हुआ है ?

टिप्पणी—

(1) सगुण कृष्ण की उपासना की सहजता का उल्लेख और निर्गुण ब्रह्म की उपासना की कठिनाइयों का संकेत।

(2) व्यंग्य गर्भित शैली में निर्गुण ब्रह्मोपासना का उपहास।

(3) पाँचवीं से लेकर छठीं पंक्ति तक श्रीकृष्ण के सौन्दर्य के मोहक चित्र का वर्णन।

(4) स्मृति-बिम्ब का यह उत्कृष्ट रूप है।

(5) समानान्तर भाव की दृष्टि से रत्नाकर की ये पंक्तियाँ उल्लेखनीय हैं।

देखि सुनि कैसे दृग स्रवन बिना ही हाय,
भोरे ब्रजवासिनि की विपति बराइहै।
रावरो अनूप कोऊ अलख अरूप ब्रह्म
ऊधो ! कहौ कौन धौं हमारे काम आइहैं।

राग रामकली

ऊधो ! हम लायक सिख दीजै।
यह उपदेस अगिनि तें तातो, कहो कौन विधि कीजै ?
तुमहीं कहौ यहाँ इतनिन में सीखनहारी को है ?
जोगी जती रहित माया तें तिनको यह मत सोहै ॥
जो कपूर चंदन तन लेपत तेहि बिभूति क्यों छाजै ?
सूर कहौ सोभा क्यों पावे आँख आँधरी आँजै ॥ 132 ॥

शब्दार्थ—तातो = गर्म। कौन विधि कीजै = किस प्रकार योग की साधना की जाय ? इतनिन = इतनी गोपियों में। बिभूति = राख, भस्म। क्यों छाजै = कैसे शोभा दे सकती है। आँजै = अंजन लगाना।

सन्दर्भ—गोपियाँ उद्धव से निवेदन कर रही हैं कि वे उनके योग्य—उनकी प्रकृति, शक्ति और क्षमता के अनुरूप ही उपदेश दें। वास्तव में योग-साधना का उपदेश गोपियों के स्वभाव के सर्वथा विरुद्ध है। कहाँ अपढ़ और गँवार गोपियाँ और कहाँ योग-साधना की जटिलता, दोनों में कितना अन्तर है।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, तुम हमारी प्रकृति के योग्य उपदेश दो तो उसको हम ग्रहण भी करें, किन्तु यह उपदेश जो हमें दे रहे हो—वह अग्नि से भी अधिक संतापकारी है तात्पर्य यह है कि तुम जिस योग-साधना की चर्चा हमारे समक्ष कर रहे हो उसे हम किस प्रकार कर सकती हैं। तुम स्वयं आँखों से देख रहे हो कि इतनी जटिल साधना को कौन कर सकता है ? पुनः तुम्हीं बताओ कि यहाँ इतनी ब्रजबालाओं में कौन ऐसी हैं जो इसे सीखने के लिए तैयार हो। सत्य बात तो यह है कि यह साधना योगी-यतियों के लिए है जो सांसारिक माया-मोह से सर्वथा विरक्त हैं—उन्हीं को यह शोभा भी दे सकती हैं, अन्यों को नहीं। भला, आप ही बताएँ कि जिन कोमलांगी स्त्रियों के शरीर पर कर्पूर और चंदन का लेप शोभा देता है, उस पर कभी भस्म भी शोभा दे सकती है ? तात्पर्य यह है कि जोग-साधना की

जटिलताओं के कष्ट को ऐसी सरल स्वभाव की गोपियाँ कभी बर्दाश्त नहीं कर सकतीं, ये तो योगाभ्यासी साधुजन और तपस्वी ही बर्दाश्त कर सकते हैं। सूर के शब्दों में गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं—हे उद्धव, क्या तुमने कभी सुना है कि अंधी की आँखों में भी अंजन शोभा देता है—अरे, जो आँखों से अंधी है उसे अंजन लगाने से क्या प्रयोजन ? अर्थात् जो अज्ञानताओं से भरी हैं उन्हें ब्रह्म-ज्ञान और जटिल सिद्धान्तों से क्या लाभ—वे इन्हें कैसे समझ और ग्रहण कर सकती हैं।

टिप्पणी—

(1) द्वितीय पंक्ति में व्यतिरेक अलंकार है (यह उपदेस अगिनि तें तातो)।

(2) 'लायक' शब्द फारसी है, सूर के समय में ऐसे शब्द ब्रजभाषा में सहज रूप से घुलमिल गये थे।

(3) तीसरी पंक्ति में काकुवक्रोक्ति अलंकार है।

(4) पाँचवीं पंक्ति में उदाहरण अलंकार है और अंतिम चरण में लोकोक्ति है।

(5) पूरे पद में निर्गुणोपासना और सगुणोपासना के स्वरूप का अन्तर सुस्पष्ट किया गया है।

राग रामकली

ऊधो ! कहा कथत विपरीति ?
जुवतिन जोग सिखावन आए यह तौ उलटी रीति ॥
जोतत धेनु दुहत पय वृष को, करन लगे जो अनीति।
चक्रवाक ससि को क्यों जानै ? रवि चकोर कह प्रीति ?
पाहन तरै, काठ जौ बूड़ै, तौ हम मानैं नीति।
सूर स्याम प्रति-अंग-माधुरी रही गोपिका जीति ॥ 133 ॥

शब्दार्थ—कथत = कहते हो। विपरीति = नीति विरुद्ध। पय = दूध। वृष = (सं० वृषभ) बैल। चक्रवाक = चकवा-चकवी नामक पक्षी जिनका प्रेम चंद्रमा से न होकर सूर्य से होता है। कह = क्या। पाहन = पाषाण, पत्थर। काठ = काष्ठ, लकड़ी।

सन्दर्भ—इस पद में गोपियों के अनुसार युवतियों को उद्धव का योग संदेश देना नीति के सर्वथा विरुद्ध है। और यह उसी प्रकार असंभव है जैसे बैल से दूध दूहना और गाय को हल में जोतना।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, तुम इतने चतुर और बुद्धिमान होकर भी नीति के विरुद्ध कार्य क्यों कर रहे हो ? वस्तुतः युवतियों को योग की शिक्षा देना तो सर्वथा उलटी रीति है—अतः तुम इस उलटी (नीति और लोक-मर्यादा के विरुद्ध) नीति में सफल नहीं होगे। तुम जो इन युवतियों को योग-साधना की ओर उन्मुख कर रहे हो, तुम्हारा यह प्रयास और तुम्हारी यह अनीति तो उसी प्रकार है जैसे गाय को हल में जोतना और बैल से दूध दुहना जो संभव नहीं। इसी तरह भला, चकवा-चकवी चन्द्रमा को क्या जानें ? (चन्द्रमा के प्रकाश से उन्हें क्या प्रेम ?) चन्द्रमा के उदय के साथ तो वे परस्पर वियुक्त हो जाते हैं, अतः इनका प्रेम तो सूर्य-प्रकाश से है (जिस प्रकाश के निकलने पर दोनों मिलते हैं) इसी प्रकार सूर्य से चकोर की

क्या प्रीति है—चकोर तो चन्द्र किरणों का रस पान करता है—सूर्य-प्रकाश से उसकी क्या सिद्धि होती है ? हाँ, यदि पानी में पाषाण तैरने लगे और काष्ठ डूब जाय तो युवतियों के लिए तुम्हारी इस योग-विषयक नीति को भी हम उचित मान लेंगी। आशय यह है कि जैसे काष्ठ की जगह पानी में पत्थर कभी तैर नहीं सकता उसी प्रकार युवतियाँ तुम्हारी इस योग-साधना में कभी सफल नहीं हो सकतीं। उन्हें तो श्रीकृष्ण के अंग-प्रत्यंग की सौन्दर्य-माधुरी ने पराभूत कर रखा है—वे श्रीकृष्ण के प्रत्येक अंग की शोभा के माधुर्य पर मुग्ध हैं।

टिप्पणी—

(1) तीसरी पंक्ति में पूर्व पंक्ति के कथन का सकारण समर्थन होने के कारण काव्यलिंग अलंकार है।
(2) चौथी और पाँचवीं पंक्ति में उदाहरण अलंकार है।
(3) अंतिम पंक्ति में हर्ष और जड़ता संचारी भाव है।
(4) गोपियों के वचन-वैदग्ध्य का यह एक उत्तम नमूना है।

राग रामकली

ऊधो ! जुवतिन ओर निहारौ।
तब यह जोग-मोट हम आगे हिये समुझि बिस्तारौ॥
जे कच स्याम आपने कर करि नितहि सुगंध रचाए।
तिनको तुम जो बिभूति घोरिकै जटा लगावन आए॥
जेहि मुख मृगमद मलयज उबटति, छनछन धोवति माँजति।
तेहि मुख कहत खेह लपटावन सो कैसे हम छाजति ?
लोचन आँजि स्याम-ससि दरसति तबहीं ये तृप्ताति।
सूर तिन्हैं तुम रबि दरसावत यह सुनि सुनि करुआति॥ 134॥

शब्दार्थ—जोग-मोट = योगरूपी गठरी। बिस्तारौ = खोलो, विश्लेषण करो। कच = बाल। करकरि = हाथों में लेकर (हाथों से)। रचाए = लगाया। विभूति = राख, भस्म। घोरि कै = घोल कर। मृगमद = कस्तूरी नामक सुगंधित पदार्थ। मलयज = चंदन। उबटति = लगाती हैं, लेपन करती हैं। माँजति = मार्जन करती हैं, साफ करती हैं। खेह = मिट्टी, राख। छाजति = शोभा देती है। आँजि = अंजन लगाकर। स्याम ससि = श्रीकृष्ण रूपी चन्द्रमा। तृप्ताति = तृप्त होते हैं, संतुष्ट होते हैं। दरसावत = दिखाते हो। करुआति = कड़ुवाने लगते हैं, दुखित होते हैं।

सन्दर्भ—गोपियों का कथन है कि उनकी दशा पर बिना विचार किए योग की शिक्षा देना उद्धव की नितान्त अज्ञता है। गोपियों का जीवन भोग का जीवन है और उद्धव का योग-साधना विषयक उपदेश वीतरागों के लिए है, अत: गोपियों को यह अच्छा नहीं लगता कि वे अपने इस विलासमय जीवन को योगोन्मुख करें।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, पहले तुम युवतियों की दशा पर विचार करो तब अपने योग की गठरी को हृदय में खूब सोच-समझकर हम लोगों के समक्ष खोलो। कहने का तात्पर्य यह है कि पहले तुम यह तो समझ लो कि तुम्हारे इस योग के गम्भीर सिद्धान्तों

को हम सब समझने में समर्थ हैं या नहीं तब अपने योग की महत्ता का विस्तारपूर्वक विश्लेषण करो। भला, यह तो बताइए कि हमारे जिन कोमल बालों को श्रीकृष्ण ने अपने हाथों से सुरक्षित किया—सुगंधमय किया, अब आप उन्हें जटाओं के रूप में राख घोलकर लगाने आए हैं। यह कहाँ संभव है कि हम अपने बालों को जटाओं के रूप में परिणत करके उनमें राख लगाएँ। हम अपने जिस मुख में कस्तूरी और चन्दन का उबटन करती रहीं (लेप करती रहीं) और क्षण-क्षण उसे धोती रहीं और स्वच्छ करती रहीं उसी मुख पर आप मिट्टी मलने को कह रहे हैं, यह कैसे शोभा दे सकता है (यह कहाँ तक उचित है ?)। हमारे ये नेत्र अंजन लगाकर जब कृष्णरूपी चन्द्रमा को चकोर पक्षी की भाँति देखते हैं तभी तृप्त होते हैं (तभी इन्हें वास्तविक आनन्द की प्राप्ति होती है)। अब आप उन्हीं नेत्रों को सूर्य की ओर उन्मुख करना चाहते हैं जिसे जानकर ये कड़ुवाने लगते हैं (इन आँखों में कड़ुवाहट उत्पन्न हो जाती है) कहने का तात्पर्य यह है कि हमारे जो नेत्र चकोर की भाँति श्रीकृष्ण के चन्द्र-मुख का अभी तक सौन्दर्य रस-पान करते रहे, उन्हें आप निर्गुण ब्रह्मरूपी सूर्य की ओर लगाना चाहते हैं इससे तो इन्हें सुख के बजाय दुःख मिलता है—जो कृष्ण के सौन्दर्य माधुरी में डूबे रहे वे शुष्क निराकार ब्रह्म के प्रति कैसे अनुरक्त हो सकते हैं ?

टिप्पणी—

(1) 'जोट मोट' और 'स्याम ससि' में रूपक अलंकार है।

(2) श्रीकृष्ण की रूप-माधुरी की महत्ता का निरूपण किया गया है।

(3) तीसरी पंक्ति में स्मृति संचारी भाव है।

(4) सूर के इस पद का भाव रत्नाकार के 'उद्धव शतक' में भी देखने को मिला है—

चोप करि चंदन चढ़ायो जिन अंगनि पै,
तिन पै बजाय तूरि, धूरि धरिबै कहौ।

राग रामकली

ऊधो ! इन नयनन अंजन देहु।
आनहु क्यों न श्याम रँग काजर जासों जुर्‌यो सनेहु ॥
तपति रहति-निसि-बासर, मधुकर, नहिं सुहात तन गेहु।
जैसे मीन मरत जल बिछुरत, कहा कहौं दुख एहु ॥
सब बिधि बाँधि ठानि कै राख्यो खरि कपूर कोरेहु।
बारक मिलवहु श्याम सूर प्रभु, क्यों न सुजस जग लेहु ? ॥ 135 ॥

शब्दार्थ—आनहु = ले आओ। जुर्‌यो = जुड़ा है। निसि बासर = दिन-रात। एहु = इस। बाँधि ठानि कै = सुरक्षित। खरि = खड़िया मिट्टी। कोरेहु = कोर में या कोने में भी।

सन्दर्भ—इस पद में कृष्ण-दर्शन के लिए व्याकुल नेत्रों का वर्णन किया गया है। गोपियाँ अपने नेत्रों के लिए उद्धव से कृष्णरूपी अंजन की कामना करती हैं—जिस प्रकार नेत्रों की दीप्ति और प्रकाश अंजन के लगाने से बढ़ जाता है, उसी प्रकार गोपियों के नेत्रों की उत्फुल्लता कृष्ण-दर्शन से बढ़ेगी।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, हमारे इन व्याकुल नेत्रों को श्यामरूपी अंजन लाकर दो, क्योंकि ऐसे अंजन से ही ये शीतल हो सकते हैं। तुम उस कृष्णरूप काजल

को लाकर क्यों नहीं देते जिससे इनका स्नेह जुड़ा है अर्थात् श्रीकृष्ण के उस श्याम रूप का दर्शन हमें क्यों नहीं कराते हैं जिनके लिए हमारे नेत्र व्याकुल रहा करते हैं। हे भ्रमर (उद्धव) श्रीकृष्ण के वियोग में हम दिन-रात जलती रहती हैं और हमें न यह शरीर अच्छा लगता है और न यह घर (अब तो श्रीकृष्ण के वियोग में घर ही नहीं शरीर से भी किसी प्रकार की ममता नहीं रह गयी है। आशय यह है कि अब शरीर भी छोड़ देना चाहती हैं। हम अपनी वियोगजनित इस पीड़ा का उल्लेख तुमसे क्या करें—हम तो उसी प्रकार से मर रही हैं जैसे बिना जल की मछलियाँ। हमने श्रीकृष्ण के प्रति अपने स्नेह को सब प्रकार से उसी प्रकार इन आँखों के एक कोने में सुरक्षित रख छोड़ा है जैसे कपूर के उड़ने के भय से उसे खड़िया के साथ बाँधकर किसी डिब्बे आदि के एक कोने में सुरक्षित रख दिया जाता है—तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्ण के दर्शन का स्नेह अब भी इन आँखों में अक्षुण्ण है। सूर के शब्दों में गोपियों का उद्धव से कथन है कि हे उद्धव, तुम एक बार श्याम का दर्शन कराके सुयश को क्यों नहीं प्राप्त करते—तात्पर्य यह है कि यदि तुम श्रीकृष्ण का एक बार दर्शन करा दोगे तो इस संसार में तुम्हारी कीर्ति बढ़ जाएगी और तुम विश्व के यशस्वी लोगों में परिगणित होगे।

टिप्पणी—

(1) अंजन शब्द में रूपकातिशयोक्ति अलंकार है (कृष्णरूपी अंजन)। कृष्ण उपमेय का कथन नहीं हुआ है। इसमें गौणी-साध्यवसाना लक्षणा भी है।

(2) स्याम में कृष्ण अर्थ के अतिरिक्त श्याम वर्ण के अर्थ में प्रयुक्त होने से श्लेष है।

(3) चौथी पंक्ति में उपमा है।

(4) कर्पूर को सुरक्षित रखने के लिए उसे खड़िया मिट्टी में मिला कर रखा जाता है, इस लोकानुभव को सूर ने काव्योचित सरसतापूर्वक प्रस्तुत किया है।

(5) द्वितीय पंक्ति का भाव देव कवि की इस कविता में भी मिलता है—साँवरे लाल के साँवरे रूप को, नैननि में कजरा करि राख्यो।

राग रामकली

ऊधो ! भली करी तुम आए।
ये बातें कहि कहि या दुख में ब्रज के लोग हँसाए॥
कौन काज बृन्दावन को सुख, दही भात की छाक।
अब वै कान्ह कूबरी राचे, बने एक ही ताक॥
मोर मुकुट मुरली पीताम्बर, पठवौ सौज हमारी।
अपनी जटाजूट अरु मुद्रा लीजै भस्म अधारी॥
वै तौ बड़े, सखा तुम उनके, तुमको सुगम अनीति।
सूर सबै मति भली स्याम की जमुना जल सों प्रीति॥ 136॥

शब्दार्थ—छाक = कलेवा। राचे = अनुरक्त हो गये। एक ही ताक = एक ही तार या मेल के। सौज = वस्तु, सामग्री। मुद्रा = वह कुंडल जिसे योगी लोग अपने कानों में पहनते हैं। अधारी = एक प्रकार की लकड़ी जिसे योगी जन लिए रहते हैं। भस्म = राख। वै = श्रीकृष्ण के लिए संकेत है। सुगम = आसान है। जमुना-जल = यहाँ यमुना के श्याम वर्ण से

अभिप्राय कपट से है (श्रीकृष्ण का प्रेम यमुना जल से है—वे श्याम वर्ण की वस्तुओं से ही प्रेम करते हैं—स्वयं कपटी हैं और कपटी लोगों से प्रेम करते हैं)।

सन्दर्भ—इस पद में ब्रज की गोपियों ने व्यंग्य गर्भित शैली में उद्धव का उपहास किया है। वे उद्धव की बातों को सुन-सुन कर दुखित हो गयीं और जब उनसे नहीं रहा गया तो वे सब एक बार पुनः उनका मजाक उड़ाने लगीं।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, अच्छा ही हुआ कि तुम आ गये (यहाँ व्यंग्यार्थ यह हुआ कि तुम्हारा आगमन हमारे लिए कष्टकर हुआ) और अपनी इन बातों (निर्गुण ब्रह्म की उपासना-विषयक बातों) को बताकर दुखित ब्रजवासियों को हँसा तो दिया (तुम्हारी इन विचित्र और अटपटी बातों को सुनकर सभी ब्रजवासी हँस पड़े)। अब श्रीकृष्ण मथुरा में राजा हो गए हैं, अतः उन्हें वृन्दावन के सुखों से क्या प्रयोजन ? यह सुख तो हम सब सामान्य गाँव के रहने वाले और गाय चराने वाले ब्रजवासियों के लिए है और वे तो अब मथुरा में मेवे-मिष्ठान्न आदि राजसी भोजन करते होंगे। इस दूध-भात के कलेवा से उन्हें कहाँ सुख मिलेगा—इसे वे क्यों पसन्द करने लगे ? जो कृष्ण किसी समय हमसे प्रेम करते थे अब वे ही कुब्जा के प्रेम में अनुरक्त हैं और दोनों एक ही मेल के हैं (दोनों के स्वभाव में समानता होने के कारण दोनों में खूब बैठती है—खूब मेल रहता है)। अब तुम हमारी सभी वस्तुएँ यथा, पीताम्बर, मोर मुकुट और वंशी आदि जो श्रीकृष्ण यहाँ से उठा ले गए हैं उन्हें भिजवा दो, क्योंकि ये चीजें अब उन्हें पसन्द न होंगी—और जो उन्होंने तुम्हारे द्वारा भस्म, अधारी, कुंडल और जटाजूट बढ़ाने आदि का संदेश भेजा है, उन सबों को हम तुम्हारे द्वारा वापस कर रही हैं। अब न उन्हें हमारी वस्तुओं से कोई प्रयोजन है और न हमें उनकी वस्तुओं से। वे तो अब बड़े आदमी हैं (मथुराधिपति हैं) और तुम उनके मित्र हो—इस कारण दोनों ही समान प्रकृति के हैं—वे राजा होकर अनीति करते हैं तुम उनके मित्र हो, अतः तुम्हारे लिए भी अनीति करना बहुत सुगम (आसान) है—अनीति करने में तुम्हें भी किसी भी प्रकार की कठिनाई या संकोच का अनुभव नहीं होता। सूर के शब्दों में गोपियों का कथन है कि श्रीकृष्ण की सभी प्रकार की बुद्धि अच्छी ही है—उनकी बुद्धि में कोई दोष नहीं है—उनकी अच्छी बुद्धि का परिणाम यह है कि वे यमुना जल से प्रेम भी करने लगे हैं व्यंग्यार्थ यह है कि जैसे यमुना का श्याम जल कपट का प्रतीक है उसी प्रकार से श्याम (काली-कपट) बुद्धिवाले श्रीकृष्ण कपटस्वरूप यमुना जल से प्रेम करने लगे हैं (मथुरा में प्रवाहित यमुना जल से प्रेम उनके कपटी और बनावटी प्रेम का बोधक है)।

टिप्पणी—

(1) अंतिम पंक्ति का अर्थ कई टीकाकारों ने भिन्न-भिन्न किया है—कुछ लोगों ने 'जमुना जल' से यमराज की बहन के गुणों की कल्पना की है और कुछ लोग यह अर्थ करते हैं कि श्रीकृष्ण का ब्रज में भी यमुना से प्रेम था और मथुरा जाने पर वहाँ भी उन्होंने यमुना जल से प्रेम किया। यही एक उनकी अच्छी बुद्धि है। एक अच्छी बुद्धि का अर्थ कहाँ से ग्रहण किया गया यह स्पष्ट नहीं है, क्योंकि पद में तो कहा गया है—'सूर सबै मति भली स्याम की' (श्याम की सभी बुद्धि अच्छी है)। हमने यमुना जल को श्याम मान कर उसे कपट का प्रतीक समझा और श्याम (कपटी कृष्ण) ने श्याम वस्तुओं (काली-कपटपूर्ण) वस्तुओं से ही प्रेम किया, समान प्रकृति का निर्वाह किया।

(2) प्रथम पंक्ति में अत्यंत तिरस्कृत वाच्य ध्वनि है।
(3) 'वै तौ बड़े' में विपरीत लक्षणा का प्रयोग हुआ है।
(4) राजसी जीवन और गाँवों के सरल और अकृत्रिम जीवन के अन्तर का इसमें स्पष्ट उल्लेख है।
(5) 'सूर सबै मति भली स्याम की' में प्रयुक्त भली शब्द विपरीत लक्षणा है।

राग सारंग

ऊधो ! बूझति गुपुत तिहारी।
सब काहू के मन की जानत बाँधे मूरि फिरत ठगवारी॥
पीतध्वजा उनके पीतांबर, लाल ध्वजा कुब्जा व्यभिचारी।
सत की ध्वजा स्वेत ब्रज ऊपर अजस हेतु ऊधो ! सो प्यारी॥
उनके प्रेम-प्रीति मनरंजन पै ह्याँ सकल सीलव्रतधारी।
सूर बचन मिथ्या, लँगराई ये दोऊ ऊधो की न्यारी॥ 137 ॥

शब्दार्थ—गुपुत = रहस्य, भेद। बूझति = समझ रही हैं। ठगबारी मूरि = ठगों की जड़ी जिसे धोखे से खिलाकर वे पथिकों या अनजान लोगों को बेहोश करते हैं। पीतध्वजा = पीली पताका (यह कृष्ण के राजसी प्रेम का प्रतीक है)। लालध्वजा = लाल पताका (यह कुब्जा के तामसी या स्वार्थमूलक प्रेम के रूप में गृहीत है)। व्यभिचारी = वासनात्मक। सत की ध्वजा = श्वेत पताका (यह गोपियों के सात्विक प्रेम् के रूप में कथित है)। अजस हेतु = अपयश का कारण। लँगराई = लबारपन।

सन्दर्भ—इस पद में गोपियों ने उद्धव को एक ठग या प्रवंचक के रूप में परिकल्पित किया है, जो निर्गुण ज्ञान द्वारा ब्रजवासियों को ठगता फिरता है। लेकिन गोपियों को पूर्ण विश्वास है कि वे अपने सात्विक प्रेम के कारण विजयी होंगी, भले ही इस सात्विक प्रेम-मार्ग पर चलते समय कुछ लोगों द्वारा उन्हें अपयश या कलंक मिले। वे यह भी खूब जानती हैं कि उनके सात्विक प्रेम की तुलना में कृष्ण का प्रेम राजसी और कुब्जा का तामसी या स्वार्थमूलक है।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, हम तुम्हारे रहस्य को (तुम्हारी चालाकी को) खूब समझ रही हैं। तुम सब के मन की बात (सब की मनोवृत्ति को) जानते हुए ठगों की जड़ी बाँधे घूम रहे हो (ठग जिस प्रकार धोखे से जड़ी खिलाकर पथिकों और भोले-भाले अनजान लोगों को बेहोश करके लूट लेते हैं उसी प्रकार तुम भी यह खूब जानते हो कि ब्रजवासियों का कृष्ण के प्रति अटल और सात्विक प्रेम है, फिर भी उन्हें धोखा देकर निर्गुण ब्रह्म की जड़ी धोखे से खिलाकर श्रीकृष्ण प्रेम की अमूल्य निधि को उनसे लूट लेना चाहते हो, लेकिन तुम्हें जानना चाहिए कि श्रीकृष्ण का जो पीताम्बर पीली ध्वजा के समान समस्त मथुरा मण्डल में फहरा रहा है वह इस बात का प्रमाण है कि उनको हमारे प्रति जो प्रेम है वह राजसी है—सात्विक नहीं, सात्विक प्रेम का उसमें आभास मात्र है। इसके विपरीत कुब्जा की लाल साड़ी लाल ध्वजा के समान है जो कृष्ण के प्रति उसके तामसी या वासनात्मक प्रेम को व्यंजित कर रही है—कहने का आशय यह है कि हमारी भाँति उसका प्रेम सात्विक नहीं है—स्वार्थमूलक और वासना के रंग से रंजित है। लेकिन समस्त ब्रजमण्डल में इन दोनों के विरुद्ध श्वेत ध्वजा जो कृष्ण के प्रति हमारे सात्विक प्रेम की प्रतीक है, फहरा रही है। यद्यपि हमारी इस सात्विक प्रेम-साधना में बहुत

सी बाधाएँ हैं (आप भी श्रीकृष्ण के प्रति हमारे ऐसे सात्विक प्रेम को अच्छा नहीं समझते और उसे अपयश का कारण मानते हैं। लेकिन क्या इन बाधाओं और अपयश के भय से कोई त्याग देगा—कथमपि नहीं—इससे कलंक भले ही मिले, किन्तु हे उद्धव, हमें यही प्रिय है। श्रीकृष्ण और कुब्जा का जो परस्पर प्रेम और प्रीति है—वह मनोरंजन का साधन मात्र है, परन्तु यहाँ (इस ब्रजमण्डल में) सभी गोपियाँ श्वेत वस्त्रों को धारण करके अपने शील और सात्विक प्रेम का निर्वाह कर रही हैं—कृष्ण के वियोग में हम सभी गोपियों ने विलासमय जीवन को त्याग कर रंग-बिरंगे कपड़ों की जगह श्वेत वस्त्र धारण किए, इस प्रेम-योग की साधना में रत हैं—ब्रज मण्डल की श्वेत ध्वजा इसी सात्विक प्रेम और शील के रूप में सर्वत्र फहरा रही है। सूर के शब्दों में गोपियों का कथन है कि इस सात्विक प्रेम को जानते हुए भी उद्धव वासनात्मक और राजसी प्रेम की प्रशंसा कर रहे हैं। अतः सिद्ध है कि झूठ बोलने और लम्पटता के आचरण दोनों में उद्धव अद्वितीय हैं—ये दोनों बातें उनकी अतिशय विलक्षण हैं।

टिप्पणी—

(1) इसमें प्रतिवस्तूपमा अलंकार है।

(2) इसमें सात्विक प्रेम-स्वरूप की अभिव्यक्ति बड़े ही सुंदर ढंग से की गयी है।

(3) गोपियों की वचन-भंगिमा का यह एक उत्तम निदर्शन है।

(4) इसमें कृष्ण के पीताम्बर को राजसी प्रेम का प्रतीक, कुब्जा की लाल साड़ी को तामसी या वासनात्मक प्रेम का प्रतीक और गोपियों के श्वेत वस्त्रों को उनके सात्विक प्रेम का प्रतीक माना गया है।

(5) इस पद में वैशिष्ट्य का उल्लेख करते हुए आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने एक स्थल पर कहा है—'सूरदास की मनोदृष्टि गोपियों के प्रेम-योग के सात्विक स्वरूप की ओर बार-बार गयी है।'

राग सारंग

ऊधो ! मन माने की बात।
जरत पतंग दीप में जैसे, औ फिरि फिरि लपटात॥
रहत चकोर पुहुमि पर, मधुकर ! ससि अकास भरमात।
ऐसो ध्यान धरो हरिजू पै छन इत उत नहिं जात॥
दादुर रहत सदा जल-भीतर कमलहिं नहिं नियरात।
काठ फोरि घर कियो मधुप पै बँधे अंबुज के पात॥
बरषा बरसत निसिदिन, ऊधो ! पुहुमी पूरि अघात।
स्वाति-बूँद के काज पपीहा छन-छन रटत रहात॥
सेहि न खात अमृतफल भोजन तोमरि को ललचात।
सूरज कृस्न कूबरी रीझे गोपिन देखि लजात॥ 138 ॥

शब्दार्थ—पुहुमि = पृथ्वी। अकास भरमात = आकाश में भ्रमण करता रहता है। दादुर = मेढक। नियरात = निकट पहुँचना। काठ फोरि = लकड़ी को काट कर। घर कियो = घर बनाया। मधुप = भ्रमर। पै = किन्तु। अंबुज = कमल। पात = पत्ते। पूरि अघात =

पूर्णतया तृप्त हो जाती है। काज = लिए। सेहि = साही नामक पशु। अमृत फल = नाशपाती, अमरूद। तोमरि = तुमड़ी, कड़ुवी लौकी।

सन्दर्भ—इसमें उद्धव को गोपियों ने बताया कि जिसका जिससे प्रेम होता है, उसे वही अच्छा भी लगता है। गोपियाँ अपनी विवशता प्रकट करती हुई कह रही हैं कि यद्यपि तुम्हारा निर्गुण ब्रह्म बहुत अच्छा है, लेकिन उसमें हमारी रुचि या प्रेम न होने के कारण वह हमें प्रिय नहीं है।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, यह तो मन के मानने की बात है अर्थात् जिसके मन को जो अच्छा लगता है, उसे वही सोहाता है—उसे वही भाता है। जैसे पतंगे को देखिए, वह दीपक में जब जलने लगता है तो उससे भागता नहीं, भाग जाय तो उसके प्राणों की रक्षा हो जाय, लेकिन उसका दीपक से इतना प्रेम और मोह है कि वह बार-बार उसी में लिपटता है (उसी में लिपटकर—दीपक की ज्वाला में पड़कर अपने जीवन को उत्सर्ग कर देता है)। हे भ्रमर (हे उद्धव), जरा प्रेम की रीति पर दृष्टिपात तो करो—बिचारा चकोर पृथ्वी पर रहता है और चन्द्रमा आकाश में भ्रमण करता रहता है, लेकिन चकोर की दृष्टि चन्द्रमा की ओर ही सदैव लगी रहती है—प्रेम की रीति में पृथ्वी और आकाश की दूरी बाधक सिद्ध नहीं होती, इसी प्रकार ब्रज से श्रीकृष्ण के दूर हो जाने पर भी हम सबों का ध्यान उन्हीं पर लगा रहता है और एक क्षण के लिए इधर-उधर नहीं जाता। मेढक यद्यपि पानी में रहता है, लेकिन पानी में ही विकसित कमल के निकट वह कभी नहीं जाता। कारण यह है कि उसका कमल से किसी प्रकार का प्रेम नहीं है। रुचि की बात तो देखिए कि भ्रमर ने लकड़ी को तो काट कर उसमें छिद्र करके अपना घर बना लिया, लेकिन वही भ्रमर कमल के प्रेम-पाश में पड़कर उसके पत्ते में बँध गया (सूर्यास्त के समय जब कमल संपुटित हुआ तो भ्रमर भी उसी में बँध गया)। वह चाहता तो कमल के पत्तों को काटकर निकल आता, लेकिन प्रेमाकर्षण का ऐसा जादू है कि ऐसा वह नहीं कर सका। इसी प्रकार वर्षा काल में जब काफी वर्षा होती है तो पृथ्वी तो पूर्णतया तृप्त हो जाती है (ग्रीष्म की गर्मी से संतप्त पृथ्वी वर्षा के जल से अघा जाती है) लेकिन पपीहा तो स्वाती की एक बूँद के लिए निरंतर रट लगाया करता है। उसकी तृप्ति वर्षा के इस जल से नहीं होती—उसकी सच्ची तृप्ति तो स्वाती नक्षत्र में गिरे जल की बूँदों से होती है। साही नामक पशु को देखो, वह अमृतफल (नाशपाती, अमरूद आदि) को छोड़कर कड़ुवी लौकी खाने के लिए ललचाता रहता है। यद्यपि कड़ुवी लौकी में कोई स्वाद नहीं, लेकिन साही पशु को वही भाती है। उसी प्रकार तुम्हारी दृष्टि में सगुण श्रीकृष्ण में कोई आकर्षण नहीं है, लेकिन हम गोपियों का मन तो उन्हीं की रूप-माधुरी में मुग्ध है। सूरदास के शब्दों में गोपियों का कथन है कि हे उद्धव, बहुत सी सुंदर स्त्रियाँ थीं लेकिन कृष्ण कूबरी पर ही रीझ गए (उसी पर लट्टू हो गए) और गोपियों को देखकर लजाते हैं (उनसे भागते हैं)। आशय यह है कि वे हमारे सात्विक प्रेम की अवहेलना करके उस कुब्जा के वासनात्मक प्रेम के लिए सदैव लालायित रहते हैं (भिन्न रुचिर्हि लोकः)।

टिप्पणी—

(1) सामान्य कथन का विशेष कथन द्वारा पुष्टि होने के कारण इसमें अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

(2) सूर की इसी प्रकार की उक्ति एक अन्य पद में भी मिली है—

ऊधो ! मन माने की बात।

दाख छुहारा छाँड़ि अमृतफल विष कीरा विष खात।
जो चकोर को देइ कपूर कोउ तजि अंगार अघात।

x x x

(3) पाँचवीं पंक्ति का भाव जायसी के पद्मावत में भी विद्यमान है।
(4) अंतिम पंक्ति में कुब्जा के संदर्भ में असूया संचारी है।
(5) 'छनछन' में पुनरुक्ति प्रकाश अलंकार है।
(6) तीसरी पंक्ति में चकोर की भाँति कुमोदिनी के भी संबंध में कहा गया है—

कुमोदिनी जल में बसै, चंदा बसै अकास।
जो जाही की भावना सो ताही के पास॥

राग सारंग

ऊधो ! खरिऐ जरी हरि के सूलन की।
कुंज कलोल करे बन ही बन सुधि बिसरी वा भूलन की॥
ब्रज हम दौरि आँक भरि लीन्हीं देखि छाँह नवमूलन की।
अब वह प्रीति कहाँ लौं बरनौं वा जमुना के कूलन की॥
वह छवि छाकि रहे दोउ लोचन बहियाँ गहि बनझूलन की।
खटकति है वह सूर हिये मो माल दई मोहिं फूलन की॥ 139 ॥

शब्दार्थ—खरिऐ = अतिशय। सूलन = पीड़ा। कलोल = किल्लोल, क्रीड़ा। आँकभरि लीन्ही = छाती में लिपटा लिया। नवमूलन की = नये निकुंजों की। कूलन = तट। छाकि रहे = सौन्दर्य में पूर्ण तृप्त हो गये। बहियाँ गहि = बाँहें डालकर, बाहें पकड़कर। खटकति है = पीड़ा उत्पन्न करती है। मों = मुझे। सुधि बिसरी वा भूलन की = भूलने की वृत्ति ही भूल गयी अर्थात् वह भूलता नहीं।

सन्दर्भ—इस पद में गोपियों ने उद्धव के समक्ष अपने अतीत के उन सुखमय क्षणों और प्रेम-प्रसंगों को स्मरण किया है जिनमें उन्हें परम आनन्द की प्राप्ति होती थी। स्मृति-पटल पर अंकित इन चित्रों में बड़ी सजीवता है।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, हम सब श्रीकृष्ण के वियोग की पीड़ा से अत्यंत संतप्त हैं। एक समय हम लोगों का ऐसा भी था जब हम बन-बन में स्थित कुंज में श्रीकृष्ण के साथ क्रीड़ाएँ किया करती थीं, किन्तु आज उसके भूलने की वृत्ति ही भूल गयी अर्थात् वह सुख और वे आनन्द क्रीड़ाएँ भूलतीं नहीं। यही नहीं, जब ब्रज में श्रीकृष्ण थे, तो वे हमें नये निकुंजों की छाया में देखकर दौड़ते हुए अपनी छाती में लिपटा लेते थे। यह मधुर स्मृति अब भी मानस में जीवित है—उनके (श्रीकृष्ण के) उस प्रेम का वर्णन कैसे करूँ जब वे यमुना के तट पर मिला करते थे। उनका यमुना के तट पर विहार और नाना प्रकार की आनन्द-क्रीड़ाएँ आज आँखों में नाच रही हैं। उस समय जब श्रीकृष्ण हमारी बाँहों को पकड़ कर वन में झूला झूलते थे, तो उनकी अपूर्व और अलौकिक सुन्दरता को देख कर हमारे दोनों नेत्र पूर्ण तृप्त हो जाया करते थे (श्रीकृष्ण की अलौकिक छटा देखकर हमारे नेत्रों को अपार आनन्द प्राप्त होता था)। हे **उद्धव**, अब भी हमें वह अवसर भूलता नहीं—हृदय में कसकता है जब श्रीकृष्ण ने हमें फूलों की

माला दी थी (फूलों की माला हमें पहनायी थी) यद्यपि समय के परिवर्तन ने उस अतीत के सुखों को हमसे छीन लिया, लेकिन उसकी स्मृतियों के ये मधुर चित्र मिटाए नहीं मिटते।

टिप्पणी—

(1) इसमें स्मृति-बिम्ब का बहुत सजीव वर्णन हुआ है।
(2) दूसरी पंक्ति में ('सुध बिसरी वा भूलन की') लक्षणा का प्रयोग हुआ है। रत्नाकर के उद्धव शतक में भी इस प्रकार के लाक्षणिक प्रयोग देखने को मिले हैं—
भूलेहू न भूलैं भूलैं हमकौं भुलाइबो !
(3) इसमें स्मृति संचारी भाव है।
(4) प्रेम-प्रसंग के अनेक चित्रों का संश्लिष्ट वर्णन हुआ है।
(5) 'छबि छाकि रहे दोउ लोचन' में हर्ष और जड़ता संचारी भाव है।

राग सारंग

मधुकर ! हम न होहि वे बेली।
जिनको तुम तजि भजत प्रीति बिनु करत कुसुमरस-केली॥
बारे तें बलबीर बढ़ाई पोसी प्याई पानी।
बिनु पिय-परस प्रात उठि फूलत होत सदा हित-हानी॥
ये बल्ली बिहरत बृन्दावन अरुझी स्याम-तमालहिं।
प्रेमपुष्प-रस-बास हमारे बिलसत मधुप गोपालहिं॥
जोग-समीर धीर नहिं डोलत, रूपडार-ढिग लागी।
सूर पराग न तजत हिये तें कमल-नयन अनुरागी॥ 140 ॥

शब्दार्थ—बेली = लता। भजत = भाग जाते हो। करत कुसुमरस-केली = अन्य पुष्पों के साथ आनन्द-क्रीड़ा किया करते हो। बारे तें = बचपन से। बढ़ाई = बढ़ाया, बड़ी किया। प्याई पानी = सिंचित किया। बिनु पिय-परस = प्रियतम के स्पर्श (संगम) के बिना। हित-हानी = प्रेम की हानि। स्याम-तमालहिं = श्रीकृष्ण रूपी तमाल वृक्ष में। प्रेम-पुष्प-रस-बास = प्रेम रूपी पुष्प के मकरन्द और सुगन्ध में। मधुप गोपालहिं = भ्रमर रूप श्रीकृष्ण। जोग-समीर = योग रूपी हवा। रूप-डार = सौन्दर्य रूपी डाली। ढिग = पास, निकट। पराग = पुष्प-धूल। बलवीर = श्रीकृष्ण।

सन्दर्भ—इस पद में गोपियों ने अपने को एक आदर्श प्रेम और शील वृत्ति का निर्वाह करने वाली सच्ची साधिका के रूप में प्रस्तुत किया है और उद्धव को एक चंचल वृत्ति का पुरुष निरूपित किया है जिसमें विचारों की न स्थिरता है और न अनन्यता का भाव। उद्धव एक चंचल स्वभाव वाले मधुप माने गये हैं और गोपियों को एक अनाविल और पवित्र लता के रूप में कल्पित किया गया है।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे भ्रमर (हे उद्धव), हम वे लताएँ नहीं हैं जिन्हें तुम बिना किसी प्रेम के त्याग देते हो अर्थात् जब तक उन लताओं में पुष्पों का रस (मकरन्द) होता है तब तक उनमें केलि करते हो, उनसे प्रेम का अभिनय करते हो, किन्तु जब उनमें रस नहीं रह जाता तो तुम उन्हें छोड़कर अन्य पुष्पों के रस या आनन्द क्रीड़ा में जुट जाते हो (अपनी पूर्व

प्रेमिका को भूलकर अन्य प्रेमिकाओं के आनन्द की प्राप्ति में लग जाते हो) हम ऐसी लताओं में नहीं हैं, इन्हें तो बचपन से श्रीकृष्ण ने अपने प्रेम-जल से सींच-सींचकर बड़ी किया है। बचपन से ही हमें श्रीकृष्ण के पवित्र प्रेम के रसास्वादन का सुयोग मिलता रहा। अब स्थिति यह है कि बिना प्रियतम श्रीकृष्ण के स्पर्श के ये लताएँ प्रातःकाल पुष्पित होती हैं और इनके प्रेम रूपी पुष्पों की हानि होती है। इन प्रेम रूपी पुष्पों का उपयोग करने वाला कोई नहीं है, तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्ण के प्रति हमारे मानस में जो अनाविल (पवित्र) प्रेम की धारा बह रही है उसमें अवगाहन करने वाला कोई नहीं है। अपने उस प्रेम की गहराई का परिचय किसे दें ? ये लताएँ (गोपियों से तात्पर्य है) वृन्दावन में फैलते समय (ये गोपियाँ वृन्दावन में विचरण करते समय) श्रीकृष्ण रूपी तमाल वृक्ष में उलझ (लपट) गयीं (एक मात्र गोपियों का मानस श्रीकृष्ण की प्रेम-कीड़ाओं में उलझता गया)। हमारे भ्रमरस्वरूप श्रीकृष्ण इन प्रेम-पुष्पों के मकरन्द और सुगन्ध का सदैव आनन्द लिया करते हैं (तात्पर्य यह है कि हमारे ध्यान में श्रीकृष्ण की छवि बसी हुई है और हमें उसका आनन्द मिलता रहता है)। ये लताएँ (वियोगिनी गोपिकाएँ) इस प्रकार श्याम रूपी तमाल में उलझ गयी हैं कि तुम्हारे योग-संदेश रूपी पवन से इनका धैर्य किंचित विचलित नहीं होता (तुम्हारी योग की बातों से कृष्ण के प्रति हमारे मन का ध्यान टूटता नहीं)। ये लताएँ तो अटल रूप में श्रीकृष्ण के सौन्दर्यरूपी डालों में फँस गयी हैं—वहाँ से हटने में असमर्थ हैं। सूर के शब्दों में कमलनेत्र श्रीकृष्ण के प्रेम में अनुरक्त ये लताएँ उनके प्रेम-पराग (प्रेम रूपी पुष्प धूलि) को अपने हृदय से किसी भी प्रकार त्यागना नहीं चाहतीं (तात्पर्य यह है कि इन गोपियों के हृदय में जो प्रेम कृष्ण के लिए सुरक्षित है उसे उद्धव के निर्गुण ब्रह्म को नहीं सौंपा जा सकता, उसके अधिकारी तो श्रीकृष्ण ही हैं, अन्य कोई नहीं।

टिप्पणी—

(1) इसमें सांगरूपक, रूपकातिशयोक्ति और अन्योक्ति अलंकारों का प्रयोग हुआ है। 'ये बल्ली बिहरत बृन्दावन' में रूपकातिशयोक्ति की पूर्ण झलक मिलती है। भ्रमर और लताओं को अन्योक्ति रूप में प्रस्तुत किया गया है। यहाँ भ्रमर चंचल वृत्ति उद्धव को कहा गया है और बेली गोपियों के लिए प्रयुक्त है।

(2) इस पद में भाव-व्यंजना के उत्कर्ष के साथ ही प्रौढ़ कलात्मक सौष्ठव की भी सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है।

(3) बहुत से टीकाकारों ने इस पद की बड़ी भ्रांतिपूर्ण व्याख्या प्रस्तुत की है। लगता है पद के मूल आशय और शब्दगत व्यंजना की पकड़ में उन्होंने भूल की है।

(4) इसमें श्रीकृष्ण के प्रति गोपियों की अनन्य प्रेमनिष्ठा सहज रूप में व्यक्त हुई है।

राग सारंग

मधुकर ! स्याम हमारे ईस।
जिनको ध्यान धरै उर-अतंर आनहिं नए न उन बिनु सीस॥
जोगिन जाय जोग उपदेसौ जिनके मन दस बीस।
एकै मन, एकै वह मूरति, नित बितवत दिन तीस॥
काहे निर्गुन-ज्ञान आपनो जित तित डारत खीस।
सूरज प्रभू नंदनंदन हैं उनतें को जगदीस ?॥ 141 ॥

शब्दार्थ—ईस = ईश्वर, स्वामी। आनहि = दूसरों को। नए न = नहीं झुकते। बितवत = बिताती हैं। डारत खीस = नष्ट करते हो।

प्रसंग—इस पद में गोपियों की अनन्यता का भाव व्यक्त हुआ है। उद्धव जिस ब्रह्म की उपासना के लिए गोपियों को बाध्य कर रहे हैं, गोपियाँ अपने हृदय में स्थित श्रीकृष्ण को ही ब्रह्म मानती हैं।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे भ्रमर (उद्धव), तुम जिस निर्गुण ब्रह्म पर बल दे रहे हो हमारे लिए तो श्याम ही उस ब्रह्म के समतुल्य हैं। हम जिन श्रीकृष्ण का ध्यान अपने हृदय में करती हैं उनके अतिरिक्त दूसरे के लिए हमारे मस्तक नहीं झुकते (हम दूसरों को प्रणाम नहीं करतीं—दूसरों के लिए हमारे हृदय में कोई स्थान नहीं है)। तुम अपने योग का उपदेश उन योगिनियों को दो, जिनके एक नहीं दस-बीस मन हैं अर्थात् जो चंचल वृत्ति की हैं—और जिनमें अनन्यता और एकनिष्ठा का भाव नहीं है। हम सबके पास तो एक ही मन है और यह मन एक ही मूर्ति (श्रीकृष्ण की एक मात्र मधुर मूर्ति) का उपासक है और उनकी भक्ति और उन्हीं की उपासना में तीसों दिन बीतता है (सदैव इसी भाँति हमारे दिन कटते हैं)। तुम अपात्रों के निकट अपने निर्गुण-ज्ञान को यत्र-तत्र क्यों नष्ट कर रहे हो ? तात्पर्य यह है कि जो तुम्हारे निर्गुण-ज्ञान के मर्म को समझे, तुम उसके पास जाकर इसका उपदेश दो—यहाँ तो हम सब गँवार स्त्रियाँ इस मर्म को जानती ही नहीं। हाँ, यदि मथुरा के ज्ञानियों के पास चले जाओ तो अवश्य ही तुम्हारे निर्गुण-ज्ञान की कद्र होगी।—सूरदास के शब्दों में गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि हे उद्धव, हमारे स्वामी तो नंदनंदन हैं उनसे बढ़ कर कौन जगदीश (जगत का स्वामी) है। अर्थात् ब्रह्म से बढ़कर तो हमारे स्वामी श्रीकृष्ण ही हैं और वे हमें प्राप्त हो चुके हैं, अतः हम व्यर्थ में किसलिए तुम्हारे निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति का उपाय करें ?

टिप्पणी—

(1) तीसरी पंक्ति का भाव सूर के एक अन्य पद में भी मिला है—
ऊधो ! मन न भये दस-बीस।
एक हुतो सो गयो स्याम पै को आराधै ईस ?

(2) चौथी पंक्ति में गोपियों की अनन्यता सहज रूप में व्यक्त हुई है।

(3) 'नष्ट करने' के अर्थ में तुलसी ने भी 'खीस' शब्द का प्रयोग किया है।

राग मलार

मधुकर ! तुम हौ स्याम-सखाई।
पा लागौं यह दोष बकसियो सम्मुख करत ढिठाई॥
कौने रंक संपदा बिलसी सोवत सपने पाई ?
किन सोने की उड़त चिरैया डोरी बाँधि खिलाई ?
धाम धुआँ के कहौ कौन के बैठी कहाँ अथाई ?
किन अकास तें तोरि तरैयाँ, आनि धरी घर माई।
बौरन की माला गुहि कौने अपने करन बनाई ?
बिन जल नाव चलत किन देखी, उतरि पार को जाई ?

कौनै कमलनयन व्रत बीड़ो जोरि समाधि लगाई ?

सूरदास तू फिरि फिरि आवत यामें कौन बड़ाई ? ॥ 142 ॥

शब्दार्थ—सखाई = सखा, मित्र। दोष = अपराध। बकसियो = क्षमा करना। रंक = गरीब। कौने = किसने। बिलसी = उपभोग किया। किन = किन्होंने, किन लोगों ने। धाम धुआँ = धुएँ का महल। अथाई = बैठक। तरैयाँ = तारे, नक्षत्र। आनि = ले आकर। माई = में। बौरन = आम्र मंजरी। करन = हाथों से। बीड़ो जोरि = बीड़ा उठाकर, प्रतिज्ञा करके।

सन्दर्भ—इस पद में गोपियों ने उद्धव को उनकी धृष्टता के लिए नम्रतापूर्वक फटकारा है और इस बात की चिन्ता भी प्रकट की है कि उद्धव ऐसी बातों को मानने के लिए उन्हें बाध्य कर रहे हैं जो व्यावहारिक जीवन में किसी भी रूप में संभव नहीं है।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे मधुकर, तुम तो श्रीकृष्ण के सखा ही हो, इस कारण तुम्हारा संकोच कर रही हैं। तुम बार-बार निर्गुण ब्रह्मोपासना के लिए हमें बाध्य कर रहे हो, यह उचित नहीं है। हम तुम्हारे समक्ष जो कुछ कहने की धृष्टता कर रही हैं, पैर छूकर कहती हैं हमारे ऐसे अपराधों को तुम क्षमा करना। अच्छा तुम्हीं बताओ कि किस गरीब पुरुष ने स्वप्न में प्राप्त सम्पदा का उपभोग किया है (स्वप्न की सम्पदा तो असत्य है, उसे किसने प्राप्त किया है ?) ठीक इसी प्रकार उस निराकार, निर्गुण ब्रह्म को किसने देखा है और किसने उसके दर्शन का सुख प्राप्त किया है ? क्या किसी ने सोने की उड़ती हुई चिड़िया को डोर में बाँध खिलाया है (उसके साथ मनोरंजन किया है)। क्या कभी किसी के धुएँ के महल में बैठक भी हुई है (कभी चार-छह व्यक्तियों ने मिलकर किसी बात पर विचार-विमर्श भी किया है ?) यह तो बता कि किसने आकाश से तारों को तोड़कर घर में लेकर रखा है अर्थात् जैसे आकाश के तारों को तोड़ना असंभव है, उसी प्रकार निर्गुण ब्रह्म को प्राप्त करना—उसे देखना भी असंभव है। आम्र-मंजरी के छोटे-छोटे फूलों से किसने अपने हाथों से माला गूँथी है—इतने छोटे पुष्पों से जैसे माला नहीं बनायी जा सकती उसी प्रकार सूक्ष्म ब्रह्म-दर्शन भी असंभव है तथा किसने बिना जल के नाव चलती हुई देखी है और उससे उतरकर कौन पार हुआ है (बिना जल के नाव पर बैठकर नदी पार कर लेना संभव नहीं) उसी प्रकार कमल नेत्र श्रीकृष्ण के प्रेम का अनुरागी श्रीकृष्ण से प्रेम करने का संकल्प करने वाले किस व्यक्ति ने योग-साधना में प्रवृत्त होने की चेष्टा की है। सूरदास के शब्दों में गोपियाँ कह रही हैं कि हे उद्धव, जब निर्गुणोपासना हमारे लिए असंभव है तो तुम जो बार-बार उसका उपदेश देने के लिए हमारे पास आते हो, इसमें तुम्हारी कौन-सी बड़ाई है—तुम्हें ऐसा करने पर कौन-सा गौरव-लाभ होगा ?

टिप्पणी—

(1) इसमें द्वितीय चरण से लेकर आठवें चरण तक लोकोक्ति का प्रयोग हुआ है।

(2) इसमें वस्तु से वस्तु व्यंग्य है—इस कथन में जहाँ असंभव बातों का ग्रहण संभव नहीं है, वहीं दूसरा व्यंग्य यह है कि उद्धव इतने मूर्ख हैं कि यह नहीं समझते कि गोपियों को निर्गुण का उपदेश देना उचित है या नहीं।

(3) 'माई' मध्य के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। सूर ने तुकाग्रह के कारण 'माही' की जगह 'माई' जैसा विकृत प्रयोग किया है।

राग धनाश्री

मधुकर ! मन तो एकै आहि।
सो तो लै हरि संग सिधारे जोग सिखावत काहि ?
रे सठ, कुटिल-बचन, रसलंपट ! अबलन तन धौं चाहि।
अब काहे को देत लोन हौ बिरह अनल तन दाहि॥
परमारथ उपचार करत हौ बिरह व्यथा नहिं जाहि।
जाको राजदोष कफ़ व्यापै, दही ख़वावत ताहि॥
सुन्दरस्याम-सलोनी मूरति पूरि रही हिय माहि।
सूर ताहि तजि निर्गुन-सिंधुहि कोन सकै अवगाहि ?॥ 143 ॥

शब्दार्थ—आहि = है (अवधी प्रयोग)। काहि = किसे। रसलंपट = मकरन्द लोभी। तन = ओर। धौं चाहि = देख तो। देत लोन हौ = नमक छिड़क रहे हो। अनल = अग्नि। दाहि = दग्ध। परमारथ = आध्यात्मिक ज्ञान। उपचार = औषधि, इलाज। नहिं जाहिं = नहीं जा सकती। राजदोष = राजरोग, राजयक्ष्मा (टी० बी०)। अवगाहि = थाह लेना, अवगाहन करना।

संदर्भ—इस पद में गोपियाँ उद्धव से अपनी विवशता प्रकट करती हुई कह रही हैं कि उनके पास तो मात्र एक ही मन था, जिसे मथुरा जाते समय श्रीकृष्ण अपने साथ लेकर चले गये। हाँ, यदि दूसरा मन होता तो वे निर्गुण ब्रह्मोपासना की ओर उसे अवश्य लगातीं।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे भ्रमर, (हे उद्धव) हम सबों के पास तो एक ही मन था, वह भी मथुरा जाते समय श्रीकृष्ण अपने साथ लेकर चले गए, अब तुम किसे योग-साधना की शिक्षा दे रहे हो ? वस्तुतः मन के निग्रह के लिए उसकी चंचलता के परिहार के लिए योग-साधना की अपेक्षा होती है, जब मन ही नहीं है तो योग-शिक्षा का प्रभाव किस पर पड़ेगा—इसे कौन ग्रहण करेगा ? रे चंचल वृत्ति वाले शठ, कुटिल (वक्र) वाणी बोलने वाले, मकरन्द लोभी भ्रमर, जरा इन अबलाओं की ओर तो देखो (इनकी दशा पर विचार करो) आशय यह है कि तू तो स्वयं आनन्द का उपभोग करता है और अबलाओं को विरक्ति की शिक्षा देता फिरता है। तू कितना वंचक, दुष्ट और अटपट वाणी बोलने वाला है—तुम्हारी ऐसी कठोर वाणी से हम अबलाओं को कितनी पीड़ा होती है। भला, जो पहले ही से विरह की ज्वाला में दग्ध हो चुकी हैं, उन पर अब क्यों नमक छिड़क रहा है ? दूसरे शब्दों में जलों को अब और क्यों जला रहे हो ? तुम विरह-व्यथित गोपियों की पीड़ा को दूर करने के लिए परमार्थ (आध्यात्मिक ज्ञान) की औषधि दे रहे हो, उससे विरह का कष्ट कैसे दूर किया जा सकता है ? आशय यह है कि हम सबों की पीड़ा कृष्ण दर्शन से ही जा सकती है, तुम्हारे निर्गुण ब्रह्म के उपदेश से नहीं। तुम्हारा निर्गुण ब्रह्म का उपदेश हमारे लिए उसी प्रकार है जैसे किसी को राजरोग होने के कारण कफ का विकार उत्पन्न हो जाय और उस कफ को दूर करने के लिए उसे दही खिलाया जाय। भला राजरोगजनित कफ को दही कैसे ठीक कर सकता—उससे तो उसका कफ और बढ़ जाएगा (तुम्हारे इस निर्गुण ज्ञानोपदेश से हमारी विरह-व्यथा घटने की जगह और बढ़ती ही जा रही है)। अतः सिद्ध है कि तुम उस मूर्ख चिकित्सक की भाँति हो जो उचित उपचार करना नहीं जानता। हमारे हृदय में तो कृष्ण की सुन्दर, श्याम और सलोनी (लावण्यमयी) मूर्ति बस गयी है उसे छोड़ कर तुम्हारे इस निर्गुण ब्रह्म-ज्ञान के समुद्र का अवगाहन कौन करे। आशय यह है कि इस अनन्त

और अपार निर्गुण-ब्रह्म के ज्ञान की अधिकारिणी हम कैसे हो सकती हैं, यह तो तत्वज्ञ और मर्मी योगियों के लिए है ? हमें तो सगुण रूप सलोने श्याम सुंदर का रूप-माधुरी ही परम प्रिय है—तुम्हारा निर्गुण-ब्रह्म नहीं)।

टिप्पणी—

(1) चौथी पंक्ति में 'जले पर नमक छिड़कना' मुहावरे का सुंदर प्रयोग हुआ है।

(2) पाँचवीं और छठी पंक्ति में अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

(3) राजरोग में कफ बहुत बढ़ जाता है और यदि राज रोगी को दही खिला दिया जाय तो अपेक्षाकृत और हानि होती है। इस लोक ज्ञान को सूरदास ने जिस संदर्भ में प्रयुक्त किया, उन्हें इसमें काफी सफलता मिली है।

(4) 'मन तो एकै आहि' का प्रयोग सूर ने अपनी अन्य रचनाओं में भी किया है—

ऊधो मन न भए दस बीस।
एक हुतो सो गयो स्याम पै को आराधै ईस॥

राग सारंग

मधुकर ! छाँडु अटपटी बातें।
फिरि-फिरि बार-बार सोइ सिखवत हम दुख पावति जातें॥
अनुदिन देति असीस प्रात उठि, अरु सुख सोवत न्हातें।
तुम निसिदन उर-अंतर सोचत ब्रजजुवतिन को घातें॥
पुनि-पुनि तुम्हें कहत क्यों आवै, कछु जाने यहि नाते।
सूरदास जो रँगी स्यामरँग फिरि न चढ़त अब राते॥ 144 ॥

शब्दार्थ—अटपटी = विचित्र, टेढ़ी। जातें = जिससे। अनुदिन = प्रतिदिन। न्हातें = स्नान करते समय। घातें = कष्ट, दुख। यहिनाते = इसी सम्बन्ध से, इसी कारण। राते = लाल।

सन्दर्भ—गोपियाँ उद्धव की अटपटी वाणी सुनते-सुनते ऊब गयीं। अत: उन्हें यह अभीष्ट नहीं है कि उद्धव बार-बार उन्हीं बातों की चर्चा करें जिनसे उन्हें कष्ट मिलता है।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे भ्रमर, अब तुम अपनी निर्गुण ज्ञान-विषयक ऐसी अटपटी (बेढंगी) बातें कहना छोड़ दो—ऐसी बातें हमसे मत कहो—अब बहुत हो चुका है। तुम हमें बार-बार वही निर्गुण ब्रह्म की बातें सिखाते हो जिनसे हमें कष्ट मिलता है (क्या हमें दुख पहुँचाना ही तुम्हारा धर्म है ?)। हम तो श्याम के सखा के नाते प्रतिदिन उठकर सुख से सोते समय और स्नान करते समय तुम्हें आशीर्वाद देती रहती हैं (तुम्हारी मंगल-कामना किया करती हैं) और तुम अपने हृदय में सदैव ब्रज-युवतियों को कष्ट देने की ही बातें सोचा करते हो। तुम बार-बार ऐसी बातें क्यों करते हो ? तुम्हारी इन बातों से तो हमें तुम्हारे स्वभाव की अब कुछ-कुछ जानकारी होने लगी है। अर्थात् अब हमें यह आभास मिलने लगा है कि तुम्हारे साथ चाहे कितनी ही भलाई की जाय, लेकिन तुम हम ब्रजयुवतियों के विरुद्ध ही सोचा करोगे। सूरदास के शब्दों में गोपियों का कथन है कि हे उद्धव, जो कृष्ण के रंग में—श्यामरंग में (कृष्ण-प्रेम में) रँग चुकी हैं (अनुरक्त) हो चुकी हैं, उन पर लाल रंग नहीं चढ़ेगा (उन पर तुम्हारे

ब्रह्म का प्रभाव नहीं पड़ेगा) तात्पर्य यह है कि ब्रह्म का अनुराग (अनुराग का रंग लाल माना गया है) अब हमें नहीं हो सकता।

टिप्पणी—

(1) सूर की अन्तिम पंक्ति का भाव देव की इस रचना में देखने को मिलता है—

यों ही मन मेरो मेरे काम को रह्यो न माई,
स्याम रंग ह्वै के समाने श्याम रंग में।

सूर ने भी इसे अन्यत्र इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

सूरदास की कारी कामरि चढ़ै न दूजो रंग।

(2) फिरि-फिरि, बार-बार में पुनरुक्ति प्रकाश अलंकार है।

राग सारंग

मधुप ! रावरी पहिचानि।
बास रस लै अनत बैठे पुहुप की तजि कानि॥
बाटिका बहु बिपिन जाके एक जौ कुम्हलानि।
फूल फूले सघन कानन कौन तिनकी हानि॥
काम पावक जरति छाती लोन लाए आनि।
जोग-पाती हाथ दीन्हीं विष चढ़ायो सानि॥
सीस तें मनि हरी जिनके कौन तिनमें बानि।
सूर के प्रभु निरखि हिरदय ब्रज तज्यो यहि जानि॥ 145 ॥

शब्दार्थ—रावरी = आपकी। बास = सुगन्ध। रस = मकरन्द। पुहुप = पुष्प। कानि = संकोच, मर्यादा। काम पावक = कामाग्नि। लोन लाए = नमक छिड़का। आनि = आकर। सानि = घोलकर। बानि = कान्ति, प्रभा। मनि = मणि। हरी = छीन ली। निरखि हिरदय = हृदय में अनुमान करके।

सन्दर्भ—इस पद में गोपियों ने उद्धव को एक चंचल, रस लोलुप और स्वार्थी भ्रमर के रूप में कल्पित किया है। जिस प्रकार भ्रमर पुष्पों से तभी तक प्रेम करता है जब तक उनमें रस और सुगन्ध आदि गुण होते हैं। रस गुणों के अभाव में वह एक क्षण भी नहीं ठहर पाता। लेकिन गोपियों का प्रेम एकनिष्ठ भाव से कृष्ण के लिए है—उनका समस्त जीवन उन्हीं के लिए अर्पित है।

व्याख्या—(भ्रमर रूप उद्धव के प्रति गोपियों का कथन) हे भ्रमर, आपकी तो यह पहचान है (आपके स्वभाव की यह मुख्य विशेषता है) कि एक पुष्प की सुगन्ध और उसके मकरन्द को ग्रहण करके पूर्व पुष्प के संकोच और मर्यादा की परवाह न करते हुए अन्यत्र चले जाते हो (यही तुम्हारी स्वार्थपरता की नीति है)। जिस भ्रमर के लिए बहुत-सी वाटिका और वन के पुष्प प्राप्त हों यदि उन वाटिकाओं और वनों में एक पुष्प कुम्हला जाय तो भ्रमर की इससे क्या हानि होगी ? वह अन्य बहुत-से सघन वनों के पुष्प में विहार करेगा (कहने का तात्पर्य यह है कि जिसका एकनिष्ठ प्रेम किसी से नहीं होता वह यत्र-तत्र सर्वत्र विचरण करता रहता है और उसके

प्रेम में स्थिरता नहीं रहती)। लेकिन हे भ्रमर, हमारा प्रेम तो एक मात्र श्रीकृष्ण से ही है—हमने श्रीकृष्ण को छोड़कर अन्य किसी से प्रेम नहीं किया। हमारी छाती तो प्रियतम श्रीकृष्ण के वियोग में कामाग्नि से जलती रहती है, लेकिन तुमने इस जलती छाती को शीतल करने के बजाय उसमें आकर नमक छिड़का (हमारी पीड़ा को और बढ़ाया)। तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्ण के दर्शन की चर्चा न करके तुमने योग-दर्शन का विश्लेषण किया। तुमने हमारे हाथों में योग की पत्री (योग-संदेश) देकर मानों समस्त शरीर में विष घोल कर चढ़ा दिया (सारे शरीर को विषाक्त कर दिया) कहने का आशय है कि तुम्हारा यह योग-संदेश विष से भी अधिक पीड़ित करने वाला सिद्ध हुआ। श्रीकृष्ण के बिना हमारी दशा तो यह है कि जैसे सर्प के मस्तक से उसकी मणि छीन ली जाय तो वह कान्तिहीन हो जाता है उसी प्रकार श्रीकृष्णरूपी मणि के छीन लिए जाने पर हम गोपियाँ अब कान्तिहीन हो चुकी हैं। सूर के शब्दों में गोपियों का कथन है कि शायद हमारी इस कान्तिहीनता का हृदय में अनुमान करके श्रीकृष्ण ने ब्रजमण्डल को छोड़ दिया (अब ब्रज में हमारे लिए उनके हृदय में किसी भी प्रकार का आकर्षण नहीं रह गया है)।

टिप्पणी—

(1) प्रथम चार पंक्तियों में अन्योक्ति अलंकार है। सातवीं पंक्ति में रूपकातिशयोक्ति एवं छठीं पंक्ति में अपह्नुति अलंकार है।

(2) इसमें गोपियों की अनन्यता का भाव और उनके दैन्य का मधुर रूप व्यक्त हुआ है।

(3) तीसरी और चौथी पंक्ति का भाव पद्माकर की इस रचना में अभिव्यक्त हुआ है—एक जो कंज कली न खिली तो कहा कहुँ भौंर को ठौर है नाहीं।

(4) 'काम पावक' में रूपक अलंकार है।

(5) 'लोन लाए आनि' में सुंदर मुहावरे का प्रयोग हुआ है।

राग सारंग

मधुकर ! स्याम हमारे चोर।
मन हरि लियो माधुरी-मूरति चितै नयन की कोर॥
पकर्‌यो तेहि हिरदय उर अंतर प्रेम-प्रीति के जोर।
गए छँड़ाय छोरि सब बँधन दै गए हँसनि अँकोर॥
सोवत तें हम उचकि परी हैं दूत मिल्यो मोहिं भोर।
सूर स्याम मुसकनि मेरो सर्वस लै गए नंदकिसोर॥ 146 ॥

शब्दार्थ—नयन की कोर = कटाक्ष, तिरछी चितवन। जोर = बल। छोरि = तोड़कर। अकोर = भेंट, घूस। उचकि परी हैं = चौंक पड़ी हैं। भोर = प्रातःकाल। दूत = संदेशवाहक (उद्धव से अभिप्राय है)।

सन्दर्भ—इस पद में श्रीकृष्ण की रूप-माधुरी से अपहत गोपियों के मानस का बड़ा ही भावपूर्ण चित्रण हुआ है। गोपियाँ अपनी इस मनोदशा का उल्लेख उद्धव से कर रही हैं।

व्याख्या—(भ्रमर रूप उद्धव से गोपियों का कथन) हे भ्रमर, हमारे श्याम तो चोर निकले (चोरी की कला में तो वे बड़े निपुण निकले)। उनकी माधुरी मूर्ति ने मात्र अपनी तिरछी चितवन

से देखकर मेरे मन को चुरा लिया (मेरे मन को मोहित और पराभूत कर लिया)। हमने उनके हृदय को अपने समस्त प्रेम और प्रीति के बल से स्वहृदय के भीतर पकड़ कर रखा (उनके मन को अपने प्रेम-पाश में—अपने हृदय के एक कोने में बाँधकर रखा) लेकिन वे बड़े पक्के चोर थे अपनी मात्र एक मुस्कराहट की भेंट देकर (मुस्कराहट की लालच में फँसा कर) समस्त बंधनों को तोड़ते हुए निकल भागे। इसी चिन्ता में (उनकी मुस्कान की चिन्ता में) हम सो गयीं और सोते समय अचानक चौंक पड़ीं। प्रातःकाल जब चौंककर उठीं तो क्या देखा कि सामने दूत—संदेशवाहक (उद्धव) खड़े हैं। सूर के शब्दों में गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि श्रीकृष्ण मात्र एक मुस्कराहट के बदले हमारा तो सर्वस्व अर्थात् इतना बड़ा मन उठा ले गए।

टिप्पणी—

(1) पूरी रचना में व्याजस्तुति अलंकार है। देखने में श्रीकृष्ण को चोर बनाया गया है, लेकिन इस निंदा के बहाने उनकी प्रशंसा की गयी है।

(2) इसमें वस्तु से वस्तु व्यंग्य है—गोपियों का अभिप्राय यह है कि तुम हमारे चुराए हुए मन को श्रीकृष्ण से दिला दो—उन्हें यहाँ भेजो क्योंकि वे चोर हैं, उस चोर को हमारे हवाले कर दो (अभीष्ट व्यंजना उनके दर्शन की लालसा है)।

(3) 'हँसनि अंकोर' में रूपक अलंकार है और शुद्धा सारोपा लक्षणा है।

(4) 'प्रेम-प्रीति' युग्मक प्रयोग हैं, यथा हवा-बतास आदि।

(5) चौथी पंक्ति में परिवृत्ति अलंकार है।

राग सारंग

मधुकर ! समुझि कहौ मुख बात।
हौ मद पिए मत्त, नहिं सूझत, काहे को इतरात ?
बीच जो परै सत्य सो भाखै, बोलै सत्य स्वरूप।
मुख देखत को न्याव न कीजै, कहा रंक कह भूप॥
कछू कहत कछुए मुख निकसत, परनिंदक व्यभिचारी।
ब्रजजुवतिन को जोग सिखावत कीरति आनि पसारी॥
हम जान्यो सो भँवर रसभोगी जोग-जुगुति कहँ पाई ?
परम गुरू सिर मूँड़ि बापुरे करमुख छार लगाई॥
यहै अनीति बिधाता कीन्हीं तौऊ समुझत नाहीं।
जो कोउ परहित कूप खनावै परै सो कूपहि माहीं॥
सूर सो वे प्रभु अंतर्यामी कासों कहौं पुकारी ?
तब अक्रूर अब इन ऊधो दुहुँ मिलि छाती जारी॥ 147 ॥

शब्दार्थ—मद = शराब। मत्त = नशे में मस्त। सूझत = दिखाई नहीं पड़ता (समझ नहीं पड़ता)। इतरात = घमंड कर रहे हो। बीच जो परै = जो मध्यस्थता करता है, दो व्यक्तियों के झगड़े का फैसला करता है। भाखै = कहती है। मुख देखत को न्याव = मुख देखी न्याय (पक्षपातपूर्ण नीति)। कहा = क्या। कह = क्या। रंग = निर्धन, गरीब। कीरति आनि पसारी = अपनी कीर्ति को आकर फैलाया (यहाँ आकर नाम कमाया)। करमुख छार लगायी =

ब्रह्मा ने इस कलमुँहे के सिर पर मिट्टी लगा दी है। बापुरे = बेचारे को। तौऊ = तो भी। परहित = दूसरों के लिए। कूप खनावै = कुएँ खोदवाता है।

सन्दर्भ—उद्धव की बातों को सुनकर गोपियाँ नाराज हो जाती हैं और स्पष्ट शब्दों में कहने लगती हैं कि जो बातें वे कह रहे हैं उन्हें समझ-बूझकर कहें। उद्धव की अनर्गल बातें और प्रलाप उन्हें किसी भी रूप में प्रिय नहीं हैं। इसमें उद्धव-प्रति गोपियों की फटकार और अमर्ष भाव की व्यंजना बहुत ही सहज रूप में हुई है।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे भ्रमर, जो कुछ भी बातें मुख से निकालो उन्हें खूब समझ-बूझकर—यों ही अनर्गल बातें हमारे सामने मत करो, क्योंकि अभी तक तुमने निर्गुण विषयक अनेक अनर्गल बातों की चर्चा की, लेकिन अब इस संबंध में अधिक मत कहो। तुम्हारी इस बड़बड़ाहट से हमें लगता है कि तुमने शराब पी ली है और तुम्हें कुछ समझ नहीं पड़ता (जैसे शराबी शराब पी लेने के बाद नशे में इतना मस्त हो जाता है कि उसे कुछ नहीं दिखाई पड़ता उसी प्रकार तुम्हें भी सूझ नहीं पड़ता कि गोपियों को निर्गुण ब्रह्म का ज्ञानोपदेश देना उचित है या नहीं)। तुम क्यों घमंड में चूर हो (किसलिए गर्वोन्मत होकर इधर-उधर की बातें कर रहे हो ?)। जो मध्यस्थता करता है, वह सत्य का आधार लेता है—पक्षपात नहीं करता और सत्य स्वरूप का ही समर्थन करता है। मुँहदेखी बात नहीं करनी चाहिए (पक्षपात करना अनुचित है) चाहे निर्धन पुरुष हो या राजा (न्याय-तुला पर निर्धन और राजा दोनों ही समान हैं)। तुम तो ज्ञानोन्मत हो (तुम्हें ज्ञान का नशा है) इसी कारण कहना कुछ चाहते हो और तुम्हारे मुख से कुछ निकलता है (जैसे शराबी शराब पीने पर कुछ का कुछ कहता रहता है, उसी प्रकार उद्धव जी की बातें भी तर्क-संगत नहीं हैं) तुम हमारी दृष्टि में परनिंदक (सगुणोपासना के निंदक) और व्यभिचारी (एकनिष्ठ प्रेम के शत्रु) हो और तुम चंचल वृत्ति के हो और यत्र-तत्र सर्वत्र सबसे वासनात्मक संबंध बनाए फिरते रहते हो। ब्रजमण्डल में आकर तुमने ब्रज की युवतियों को योग की शिक्षा देकर चारों तरफ अपनी कीर्ति फैला दी है, तुम्हारी इन बातों की चर्चा सर्वत्र हो रही है—तुम्हारे ऐसे कार्यों से ब्रज के सभी लोग परिचित हो गए हैं। लेकिन जब तुम्हारी कीर्ति को हमने सुना तो आश्चर्य हुआ और सोचा कि भ्रमर तो रसभोगी होता है उसने योग की ऐसी-ऐसी युक्तियाँ—योगविषयक ऐसी बातें कहाँ से प्राप्त की हैं—इसे योग की कहाँ शिक्षा मिली है ? आशय यह है कि अभी तक तो देखा कि यह भोग-विलास में ही फँसा रहा। अब यह वैराग्य की बातें कब से सोचने लगा ? वस्तुतः यह स्वयं भोगी होकर विश्व को वैराग्य की शिक्षा देता रहा। इस अपराध से परम गुरु ब्रह्मा ने बेचारे के सिर को मुड़ा कर इसके काले मुख पर मिट्टी लगा दी (भौंरा काले रंग का होता है, उसके सिर पर बाल नहीं होते और मुख पर पीले रंग का टीका लगा रहता है जिसे मिट्टी के रूप में कल्पित किया गया है)। आशय यह है कि जब किसी को उसकी अनीति पर दण्डित किया जाता था तो उसके सिर को मुड़ाकर उस पर कालिख और मिट्टी या राख लगा दी जाती थी—भ्रमर के काले रंग और पीले टीका के आधार पर इस प्रकार की कल्पना की गयी है। यद्यपि इसी अनीति के कारण ब्रह्मा ने उसे ऐसा रूप दिया (इसे ऐसा कलमुँहा बनाया) तो भी यह नहीं समझता (इसकी समझ में बात नहीं आती)। वास्तव में जो दूसरों के लिए कुआँ खोदता है (दूसरों को गिराने के लिए कुआँ खोदवाता है) वह स्वयं ही उसी कुएँ में गिरता है। सूर के शब्दों में गोपियाँ कह रही हैं कि श्रीकृष्ण स्वयं अन्तर्यामी हैं (सबके हृदय में हैं और सब की बात जानते हैं) अतः अपनी पीड़ा हम किससे कहें—वे इस अन्यायी उद्धव की बातें स्वयं जान रहे हैं। हाँ, यह अवश्य है कि पहले तो अक्रूर जी ने आकर हमें दुःख

दिया (श्रीकृष्ण और बलराम को फुसला कर मथुरा ले गये) अब उद्धव जी ने—इन दोनों ने—इस प्रकार मिलकर हमारी छाती को जलाया (हमें पीड़ित किया)।

टिप्पणी—

(1) द्वितीय पंक्ति में भ्रमर को शराबी रूप में प्रस्तुत किया गया है।
(2) आठवीं पंक्ति में प्राचीन दण्ड प्रथा का संकेत मिलता है।
(3) दसवीं पंक्ति में मुहावरे का प्रयोग हुआ है।
(4) नवीं पंक्ति में गोपियों की श्रीकृष्ण के प्रति दृढ़ आस्था और दैन्यभाव व्यक्त हुआ है।
(5) करमुख-कलमुहाँ—स्त्रियों की गाली है, जिसे ब्रज में आज भी प्रयुक्त किया जाता है।
(6) 'बापुरे' में विपरीत लक्षणा है।
(7) अलंकार की दृष्टि से इसमें अन्योक्ति है।

राग सारंग

मधुकर ! हम जो कहो करैं।
पठयो है गोपाल कृपा कै आयसु तें न टरैं॥
रसना वारि फेरि नव खँड कै, दै निर्गुन के साथ।
इतनी तनक बिलग जनि मानहुँ, अँखियाँ नाहीं हाथ॥
सेवा कठिन, अपूरब दरसन कहत अबहुँ मैं फेरि।
कहियो जाय सूर के प्रभु सों केरा पास ज्यों बेरि॥ 148॥

शब्दार्थ—आयसु तें न टरैं = आपकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं करेंगी। वारि = निछावर करके। फेरि = पुनः। नव खंड कै = नौ टुकड़ों में विभाजित करके—टुकड़े-टुकड़े करके। इतनी तनक = इतनी थोड़ी सी बात। विलग = बुरा। केरा पास ज्यों बेरि = बेर के पेड़ के पास रहने से केले के डाल-पत्तों में बराबर काँटे चुभते रहते हैं।

सन्दर्भ—गोपियाँ निर्गुण ब्रह्मोपासना के प्रति अपनी विवशता प्रकट कर रही हैं। वे उद्धव से कहती हैं कि अपनी जिह्वा तो हम तुम्हारे निर्गुण के हवाले कर सकती हैं, लेकिन अपनी आँखों से विवश हैं—वे श्रीकृष्ण की रूप-माधुरी के बिना रह ही नहीं सकतीं। उन्हें हम अपने वश में नहीं कर सकतीं।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, आप जो भी कहें हम सब करने के लिए तैयार हैं, आपको श्रीकृष्ण ने कृपापूर्वक हमारे पास भेजा है, हम आपकी आज्ञा का उल्लंघन किसी भी रूप में नहीं करेंगी। आशय यह है कि आप श्रीकृष्ण के परम मित्र हैं और उन्होंने तुम्हें हमारे पास भेजा है, इसलिए आज्ञा उल्लंघन की कोई बात ही नहीं है। हाँ, इतना अवश्य कर सकती हैं कि अपनी जिह्वा जो श्रीकृष्ण का निरन्तर नाम जपा करती है, उसे तुम्हारे निर्गुण पर निछावर कर सकती हैं—निर्गुण जाप के लिए लगा सकती हैं और आवश्यकता पड़ने पर उसे नौ खण्डों में विभाजित करके—टुकड़े-टुकड़े करके निर्गुण को अर्पित भी कर सकती हैं, लेकिन हमारी थोड़ी सी विवशता है, उसके लिए बुरा न मानना, वह यह कि ये हमारी आँखें हमारे वश

में नहीं हैं (वे तो मात्र श्रीकृष्ण की रूप माधुरी के वशीभूत हैं—उन्हें श्रीकृष्ण की मनोरम मूर्ति के अतिरिक्त दूसरी वस्तुएँ अच्छी लगती ही नहीं)। अब भी हम सब यही कह रही हैं कि निर्गुणोपासना का मार्ग बड़ा ही कठिन है—उस निर्गुण की सेवा (आराधना करना) हमारे लिए सरल नहीं है और उसका दर्शन (ब्रह्म ज्योति का साक्षात्कार) तो और भी कठिन तथा विलक्षण है—सहज साध्य नहीं। सूर के शब्दों में गोपियों का कथन है कि हे उद्धव, यह निर्गुण-मार्ग हमें रह-रह कर पीड़ित करता है, यह श्रीकृष्ण से जाकर कह देना। योग और निर्गुण ब्रह्म का संदेश तो हमारी प्रकृति के सर्वथा विरुद्ध है। वह हमें उसी प्रकार कष्ट देता है जैसे बेर के पेड़ के पास रहने से केले के डाल-पत्तों में बराबर बेर के काँटे चुभते रहते हैं अर्थात् दोनों का प्रकृति वैषम्य के कारण निर्वाह नहीं हो सकता।

टिप्पणी—

(1) अन्तिम पंक्ति में लोकोक्ति अलंकार का प्रयोग हुआ है।

(2) 'आँखिया नहीं हाथ' एक मुहावरा है।

(3) अन्तिम पंक्ति का भाव रहीम के इस दोहे में भी देखने को मिला है—

कहु रहीम कैसे निभै बेर केर को संग।
वे डोलत रस आपने इनके फाटत अंग॥

(4) श्रीकृष्ण की रूप-माधुरी में आँखों के मोहित होने के कारण मोह संचारी की झलक मिलती है।

राग धनाश्री

मधुकर ! तौ औरनि सिख देहु।
जानौगे जब लागैगो, हो, खरो कठिन है नेहु॥
मन जो तिहारो हरिचरनन-तर, तन धरि गोकुल आयो।
कमलनयन के सँग तें बिछुरे कहु कौने सचु पायो ?
ह्याँई रहौ जाहु जनि मथुरा, झूठो माया-मोहु।
गोपी सूर कहत ऊधो सों हमहीं से तुम होहु॥ 149 ॥

शब्दार्थ—खरो = अतिशय। हरिचरनन = श्रीकृष्ण चरणों में। सचु = सुख।ह्याँई = यहाँ ही (इस ब्रजमंडल में)। हमहीं से = हमारी भाँति।

सन्दर्भ—इसमें गोपियों ने उद्धव को बताया कि प्रेम का मार्ग बड़ा कठिन होता है—जब प्रेम बाण से प्रेमी बिद्ध होता है, तभी इसकी पीड़ा का अनुभव उसे होता है। गोपियों के अनुसार उद्धव अभी प्रेम की पीड़ा के सम्बन्ध में नहीं जानते, इन्हें तब बोध होगा जब गोपियों की भाँति ये भी प्रेम-व्यथा से पीड़ित होंगे।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, प्रेम का मार्ग अतिशय कठिन मार्ग है, उस पर चलना आसान नहीं है। तुम्हें अभी प्रेम का बाण नहीं लगा है जब लगेगा तो समझ पड़ेगा और तब तुम अपने योग की शिक्षा दूसरों को देना—अर्थात् जब तुम श्रीकृष्ण के प्रेम में अभिभूत हो जाओगे तो तुम योग की शिक्षा जो दूसरों को देते फिरते हो, भूल जाओगे। यद्यपि तुम्हारा मन तो निरन्तर श्रीकृष्ण के कमलवत् चरणों में लगा रहता है, लेकिन यहाँ तुम अपना

मात्र शरीर लेकर आए हो। क्योंकि श्रीकृष्ण से वियुक्त होने पर किसे सुख मिला है ? व्यंजना **यह है** कि तुम भी श्रीकृष्ण का साथ कैसे छोड़ सकते हो, उनका साथ छोड़ने पर तुम्हें कैसे सुख मिल सकता है ? तुम तो हमसे यह कहते फिरते हो कि यह माया-मोह सब झूठा है, यदि झूठा है तो तुम यहाँ ही (इस गोकुल ही में) हम लोगों के साथ रहो और मथुरा मत जाओ। लेकिन तुम तो मथुरा रहना पसंद करते हो। इससे स्पष्ट है कि तुम माया-मोह से मुक्त नहीं हो और मथुरा तथा श्रीकृष्ण का मोह तुम्हारे मन में है। सूर के शब्दों में गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि हमारी ही भाँति तुम भी प्रेम-मार्ग के पथिक बन जाओ और इस योग-मार्ग को छोड़ दो (ऐसी स्थिति में तुम वियोग-व्यथा के मर्म को समझोगे)।

टिप्पणी—

(1) इसमें गोपियों के कथनानुसार उद्धव जी 'पर उपदेस कुसल बहुतेरे' की उक्ति चरितार्थ कर रहे हैं।

(2) द्वितीय पंक्ति का भाव सूर के अन्य पद में यों मिला है—

'जाहि लगै सोई पै जानै प्रेम बान अनियारो'

(3) चौथी पंक्ति में काकु वक्रोक्ति का प्रयोग हुआ है।

(4) 'हमहीं से होहु' में व्यंजना यह है कि तुम भी वियोगी बन जाओ।

राग धनाश्री

मधुकर ! जानत नाहिंन बात।
फूँकि फूँकि हियरा सुलगावत उठि न यहाँ तें जात॥
जो उर बसत जसोदानंदन निर्गुन कहाँ समात ?
कत भटकत डोलत कुसुमन को तुम हौ पातन पात ?
जदपि सकल बल्ली बन बिहरत जाय बसत जलजात।
सूरदास ब्रज मिले बनि आवै ? दासी की कुसलात॥ 150॥

शब्दार्थ—हियरा = हृदय (अवधी प्रयोग)। सुलगावत = जलाते हो। समात = प्रवेश करना, बसना। बल्ली = लता। जलजात = कमल। कुसलात = कुशलता, कल्याण।

सन्दर्भ—इस पद में गोपियों ने उद्धव से कहा कि जिस हृदय में श्रीकृष्ण बसते हैं वहाँ हम सब तुम्हारे निर्गुण ब्रह्म को कैसे स्थान दे सकती हैं ?

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, तुम बात करना भी नहीं जानते। यदि तुम्हें बात करने का ढंग ज्ञात होता तो हम गँवार गोपियों के समक्ष अपने निर्गुण ब्रह्म की चर्चा कभी न करते। तुम अपनी अटपटी वाणी द्वारा हमारी वियोगाग्नि को फूँक-फूँक कर प्रज्ज्वलित कर रहे हो और उसमें हमारे हृदय को जला रहे हो। आशय यह है कि तुम्हारी इन बातों से हमारी वियोग-व्यथा बढ़ जाती है और हमारा हृदय जलने लगता है। भला, तुम यह तो बताओ कि जिस हृदय में श्रीकृष्ण बस रहे हैं उसमें तुम्हारे निर्गुण ब्रह्म को हम कैसे स्थान दे सकती हैं (एक म्यान में दो तलवारें कैसे आ सकती हैं ?) हे भ्रमर, यद्यपि तुम समस्त बन की लताओं में विहार करते रहते हो (उन लताओं के पुष्पों का रसास्वादन करते हो) लेकिन अन्त में तुम कमल में ही जाकर बस जाते हो (तुम्हारा सच्चा प्रेम तो कमल से है और उसी के प्रेम-पाश में बँध जाते हो) फिर भी

तुम क्यों बन के पत्ते-पत्ते में पुष्पों की खोज करते हुए भटकते फिरते हो (यह भटकना ही तुम्हारी चंचलता और वासनात्मक प्रकृति की द्योतक है) कहने का आशय यह है कि तुम चंचल होते हुए भी अपना सच्चा प्रेम एक मात्र कमल के प्रति व्यक्त करते हो। उसी प्रकार हमारा भी एकनिष्ठ प्रेम श्रीकृष्ण के प्रति है। जिस प्रकार अनेक पुष्पों से सम्पर्क रखकर भी तुम सबको अपने हृदय में स्थान नहीं दे पाते—केवल कमल को ही अपने हृदय में बसाते हो, उसी तरह हम तुम्हारे निर्गुण को स्थान देकर एक मात्र श्रीकृष्ण को स्थान देती हैं। सूरदास के शब्दों में गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि श्रीकृष्ण के ब्रज में आने से क्या कुब्जा का हित हो सकता है ? शायद उसके कल्याण को ध्यान में रखकर ही कृष्ण यहाँ नहीं आये। दासी कुब्जा ने तुम्हें इसीलिए भेजा है कि तुम्हारे योग-संदेश से हम सब की कृष्ण के प्रति जो प्रीति है—उसे भूल जायँ।

टिप्पणी—

(1) 'फूँकि-फूँकि' में पुनरुक्ति प्रकाश अलंकार है।

(2) 'हियरा' अवधी भाषा का शब्द है, इसमें 'रा' प्रत्यय अवधी का है।

(3) भ्रमर से उद्धव का संकेत होने का कारण इसमें अन्योक्ति अलंकार है।

राग सारंग

तिहारी प्रीति किधौं तरवारि ?
दृष्टि-धार करि मारि साँवरे घायल सब ब्रजनारि॥
रही सुखेत ठौर बृन्दाबन रनहु न मानति हारि।
बिलपति रही सँभारत छन छन बदन-सुधाकर-बारि॥
सुन्दर स्याम-मनोहर-मूरति रहिहौं छबिहि निहारि।
रंचक सेष रही सूरज प्रभु अब जनि डारौ मारि॥ 151 ॥

शब्दार्थ—तरवारि = तलवार। दृष्टि-धार = चितवन रूपी तलवार की तीक्ष्ण धार से। सुखेत ठौर = रणस्थल। रनहु = रण में भी। रही-सँभारत = रक्षा करती रहीं। बदन-सुधाकर = चंद्रमुख। सुधाकर = अमृत का भण्डार। वारि = जल ; कांति। रंचक सेष रही = जिन्दगी थोड़ी शेष रह गयी है।

सन्दर्भ—इसमें श्रीकृष्ण के वियोग में व्यथित गोपियों की मार्मिक दशा का वर्णन हुआ है। वियोग में गोपियों को ऐसा प्रतीत हो रहा है कि श्रीकृष्ण का प्रेम प्रेम न होकर उन सबों के लिए तलवार की भाँति घातक है।

व्याख्या—(श्रीकृष्ण-प्रति गोपियों का कथन) हे श्याम, यह तुम्हारा प्रेम है कि तलवार है। (आशय यह है कि तुमने संयोग की घड़ियों में जो अपने प्रेम का जादू हम सब गोपियों पर डाला आज वियोग में वह हमारे लिए तलवार की भाँति चुभ रहा है)। तुमने वृन्दावन रूपी रण क्षेत्र में जो अपनी तीक्ष्ण चितवन रूपी तलवार की धार से चोट की उसके कारण घायल होकर आज भी ब्रज की युवतियाँ पड़ी हुई तड़प रही हैं। और रणस्थल में घायल होकर भी अपनी पराजय स्वीकार नहीं करतीं (प्रेम के इस युद्ध में उन्हें विश्वास है कि उनकी विजय होगी)। हे कृष्ण, तुम्हारे वियोग में प्रेम की तलवार से घायल हम सब रो रही हैं और क्षण-क्षण तुम्हारे चन्द्र-मुख के अमृत जल से (तुम्हारे चन्द्र मुख की कांति रूपी अमृत जल से) अपने प्राणों की रक्षा करती

रहीं व्यंजना यह है कि स्मृति-पटल पर अंकित तुम्हारे सौन्दर्य का अवलोकन करके हम सब जीवित हैं। और भविष्य में भी हे श्यामसुंदर, तुम्हारी मनोहारिणी मूर्ति की शोभा को देखकर अपने जीवन को बिता देंगी। सूरदास के शब्दों में गोपियाँ श्रीकृष्ण से कह रही हैं कि तुम्हारी प्रेम रूपी तलवार से घायल हम सबों का जीवन अब बहुत थोड़ा शेष रह गया है (मरणोन्मुख हैं) अब हमें मत मारिए (इस थोड़े से जीवन में तो अपना दर्शन दे दें—क्योंकि इसी आशा में टिकी हैं कि शायद श्यामसुंदर का दर्शन हो जाय)।

टिप्पणी—

(1) पूरे पद में साङ्गरूपक है। 'सुधाकर' और 'बारि' में श्लेष है।
(2) 'छन छन' में पुनरुक्ति प्रकाश अलंकार है और तिहारी . . . . तलवार में संदेह अलंकार है।
(3) श्रीकृष्ण मिलन की आशा की एक झलक।
(4) विषाद, उद्वेग और चिन्ता संचारी भाव की प्रधानता है।

राग धनाश्री

मधुकर ! कौन मनायो मानै ?
अबिनासी अति अगम अगोचर कहा प्रीति-रस जानै ?
सिखवहु ताहि समाधि की बातैं जैहैं लोग सयाने।
हम अपने ब्रज ऐसेहि बसिहैं बिरह-बाय-बौराने॥
सोवत जागत सपने सौंतुख रहिहैं सो पति माने।
बालकुमार किसोर को लीलासिंधु सो तामे साने॥
पर्यो जो पयनिधि बूँद अलप सो को जो अब पहिचाने ?
जाके तन धन प्रान सूर हरिमुख-मुसुकानि बिकाने॥ 152 ॥

शब्दार्थ—मनायो = मनाने या समझाने पर। अगम = अगम्य (जहाँ पहुँचा न जा सके)। अगोचर = जो दिखाई न पड़े। बाय = सन्निपात। बौराने = पागल। सौंतुख = प्रत्यक्ष, सामने। साने = मिला दिया। पयनिधि = समुद्र। अलप = थोड़ा।

सन्दर्भ—गोपियाँ उद्धव के निर्गुण ब्रह्म को किसी भी रूप में स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हैं। उनका समस्त व्यक्तित्व श्रीकृष्ण के लीला समुद्र में डूब चुका है, अतः पृथकता का भावन वे किसी भी रूप में नहीं कर सकतीं। इन्हीं सब कारणों से वे उद्धव के निर्गुण ब्रह्म की उपासना के प्रति अपनी पूर्ण असमर्थता प्रकट कर रही हैं।)

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे भ्रमर, तुम्हारे पूर्णतया समझाने पर भी इस निर्गुण ब्रह्म की उपासना पद्धति को कौन स्वीकार करे ? भला, वह अविनाशी अत्यंत अगम्य (जहाँ तक पहुँचना अति कठिन है) अगोचर (दृष्टि द्वारा जिसे देखा नहीं जा सकता) प्रेम के रस को क्या समझे (हमारे हृदय में सगुण रूप श्रीकृष्ण का जो प्रेम है और उस प्रेम से हमें जो सुख प्राप्त होता है, उसे तुम्हारा निर्गुण ब्रह्म क्या जाने) ? तुम योगियों की समाधि विषयक बातें उन्हें सिखाओ जो चतुर लोग हैं। आशय यह है कि यहाँ तो इन बातों को समझने वाले नहीं हैं। हाँ, मथुरा में कृष्ण और कुब्जा आदि तुम्हारी बातों को ग्रहण करने में सक्षम हैं, वे सब योगी होने के

नाते योग के मर्म को आसानी से जान सकते हैं और इसकी उन्हें आवश्यश्कता भी है। लेकिन हम तो श्रीकृष्ण के वियोग सन्निपात से ग्रस्त बावली की भाँति इस ब्रज में बसकर अपना जीवन बिता देंगी (हमें वियोग में पगली की भाँति ब्रज में जीवन बिताने में जो सुख है, वह तुम्हारे निर्गुण ब्रह्म की उपासना में नहीं)। हम तो सोते समय, जागृत अवस्था में, स्वप्न में और प्रत्यक्ष श्रीकृष्ण को पति मानकर ही इस जीवन को बिता देंगी, किन्तु दूसरों को पति के रूप में कथमपि वरण नहीं करेंगी। हम तो श्रीकृष्ण की बाल, कुमार और किशोरावस्था के लीलारूपी समुद्र में अपने स्वतंत्र अस्तित्व को डुबा चुकी हैं (अब हमारा मानस उनकी लीला में तन्मय हो चुका है) अब हमारे लिए उस समुद्र से निकलना उसी प्रकार कठिन है जैसे समुद्र में यदि थोड़ी सी बूँद गिर जाय तो कौन ऐसा है जो उसे पहचान सके अर्थात् बूँदों के स्वतंत्र अस्तित्व का कौन उल्लेख कर सकता है। सूर के शब्दों में गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि हमारे लिए तो श्रीकृष्ण के मुख की मुस्कराहट ही तन, धन और प्राण तुल्य है और हम सब उस मुस्कराहट के वशीभूत हैं।

टिप्पणी—

(1) 'बिरह-बाय' और 'लीला-सिंधु' में रूपक अलंकार है।

(2) पाँचवीं पंक्ति में गोपियों के पातिव्रत धर्म के उदात्त स्वरूप की अभिव्यक्ति हुई है। इसमें स्वकीया के आदर्श गुणों की झलक मिलती है।

(3) सातवीं पंक्ति में जीव और ब्रह्म की एकता की दृष्टि से अद्वैत दर्शन के सिद्धान्त का संकेत मिलता है।

(4) कबीर ने भी बूँद और समुद्र के अभिन्नत्व का वर्णन इस प्रकार किया है—

हेरत हेरत हे सखी हेरत गया हिराय।
बूँद समानी समंद में सो कत हेरी जाय॥

(5) इसमें जीवात्मा का परमात्मा के प्रति जो समर्पण की भावना है, वह पूर्णतया व्यक्त है।

राग मलार

मधुकर ! ये मन बिगरि परे।
समुझत नाहिं ज्ञानगीता को हरि-मुसुकानि अरे॥
बालमुकुन्द रूप-रसराचे तातें बक्र खरे।
होय न सूधी स्वान पूँछि ज्यों कोटिक जतन करे॥
हरि-पद-नलिन बिसारत नाहीं सीतल उर सँचरे।
जोग गँभीर है अंधकूप तेहि देखत दूरि डरे॥
हरि-अनुराग सुहाग भाग भरे अमिय तें गरल गरे।
सूरदास बरु ऐसेहि रहिहैं कान्ह-बियोग-भरे॥ 153 ॥

शब्दार्थ—अरे = अड़ गये हैं। बिगरि परे = बिगड़ चुके हैं। रूप-रस-राचे = सौन्दर्य के आनन्द में अनुरक्त। तातें = इसीलिए। बक्रखरे = अतिशय टेढ़े हैं। सूधी = सीधी। स्वान = श्वान, कुत्ता। पद-नलिन = कमलवत् चरण। बिसारत नाहीं = भूलते नहीं। सँचरे = संचरित हो गये हैं, व्याप्त हैं। अनुराग सुहाग = प्रेम रूपी सिंदूर। भाग = मस्तक। अमिय तें गरल गरे = अमृत छोड़ कर चाहे विष में गलना पड़े। बरु = भले ही।

सन्दर्भ—गोपियाँ इस पद में उद्धव के समक्ष अपने मन की विवशता प्रकट कर रही हैं। उनके अनुसार यह मन इस सीमा तक बिगड़ चुका है कि उद्धव की बातों पर थोड़ा भी ध्यान नहीं देता।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे भ्रमर, हम तुम्हारी ज्ञान की बातों को सुनतीं, लेकिन हमारा मन इस प्रकार बिगड़ चुका है कि वह तुम्हारी गीता का ज्ञान नहीं समझता और श्रीकृष्ण की मुस्कराहट में अड़ गया है (उस मुस्कराहट को ही देखा करती हैं वहाँ से हटना ही नहीं चाहता)। ये श्रीकृष्ण के सौन्दर्य-रस में सदैव अनुरक्त रहते हैं, इसीलिए इन्हें गर्व हो गया और बहुत टेढ़े स्वभाव के हो गए हैं (श्रीकृष्ण के सौन्दर्य का आनन्द प्राप्त करके ये किसी को नहीं समझते और सदैव वक्र बने रहते हैं)। अब इनके स्वभाव में किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं हो सकता—जैसे कितना ही यत्न किया जाय लेकिन कुत्ते की टेढ़ी पूँछ सीधी नहीं हो सकती, उसी प्रकार इनके स्वभाव की वक्रता दूर नहीं हो सकती। ये श्रीकृष्ण के उन कमलवत् चरणों को भूल नहीं पाते जो हृदय में शीतल रूप में संचरित (व्याप्त) हो गये हैं अर्थात् श्रीकृष्ण के उन कमलवत् चरणों का निरन्तर ध्यान किया करते हैं जिनसे इनका हृदय शीतल हो जाता है। इन्हें तुम योग की शिक्षा देना चाहते हो, लेकिन ये तो योग को गहरे अंधकूप की भाँति दूर से ही देखकर डर जाते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि योग की जटिलताओं से हम लोगों का मन सदैव उदासीन रहता है। इनका तो यह संकल्प है कि श्रीकृष्ण के प्रेमरूपी सौभाग्य (सिंदूर) को मस्तक पर धारण करके यदि इन्हें अमृत को छोड़कर (अमरता से अलग होकर) विष (नश्वरता) में गलना पड़े तो स्वीकार है अर्थात् सुख की जगह चाहे इन्हें दुख झेलना पड़े, परन्तु ये तुम्हारे निर्गुण ब्रह्म की ओर नहीं जाएँगे। तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्ण के अनुराग को धारण करने पर चाहे जो भी कष्ट मिले उससे ये भयभीत होने वाले नहीं है। सूरदास के शब्दों में गोपियों का कथन है कि श्रीकृष्ण के वियोग को धारण किए हुए—श्रीकृष्ण की वियोगाग्नि में जलते हुए ये भले ही ऐसे ही जीवन बिता दें, किन्तु योग-साधना को स्वीकार न करेंगे।

टिप्पणी—

(1) 'रूप-रस-राचे', 'हरिपदनलिन', 'हरि अनुराग सुहाग भाग भरे' में रूपक अलंकार है। 'जोग गंभीर है अंधकूप' में वाचक लुप्तोपमा अलंकार है।

(2) चौथी पंक्ति में लोकोक्ति अलंकार है।

(3) श्रीकृष्ण के प्रति अनुरक्त गोपियों के मन का बड़ा ही सजीव वर्णन हुआ है। आधुनिक शब्दावली में इसमें मानवीकरण है।

(4) रत्नाकर के 'उद्धव शतक' में भी इस पद के अंतिम चरण का भाव देखने को मिला है—

जाके या वियोग दुखहू में कछु ऐसो सुख
जाहि पाय ब्रह्मसुखहू में दुख मानें हम।

राग मलार

मधुकर ! जौ तुम हितू हमारे।
तौ या भजनसुधानिधि में जनि डारौ जोग-जल खारे॥

सुनु सठ रीति, सुरभि पयदायक क्यों न लेत हल फारे।
जो भयभीत होत रजु देखत क्यों बढ़वत अहि कारे।
निज कृत बूझि, बिना दसनन हति तजत धाम नहिं हारे।
सो बल अछत निसा पंकज में दल-कपाट नहिं टारे॥
रे अलि, चपल मोदरस-लंपट ! कतहि बकत बिन काज ?
सूर स्याम-छवि क्यों बिसरत है नखसिख अंग बिराज ?॥ 154 ॥

शब्दार्थ—हितू = हितैषी, शुभचिन्तक। भजन-सुधानिधि = भजन रूपी अमृत के समुद्र में। जोग-जल खारे = योग रूपी खारा जल। सुरभि = गाय। पयदायक = दूध देने वाली। फारे = फाल। रजु = रज्जु, रस्सी। बढ़वत = बढ़ाते हो, उसके आगे करते हो। अहिकारे = काला सर्प। निजकृत बूझि = अपने कर्म को देख। बिनदसनन . . . . हारे = बिना दाँतों से काटे छत्ता को छोड़कर नहीं जाता। हारे = विवश होने पर। अछत = रहते। दल-कपाट = पत्र या पंखुड़ी रूप दरवाजा। टारें = खोलता है। मोद = आनन्द, आमोद-सुगंध। रस = आनन्द; मकरन्द। लंपट = लोभी। कतहिं = क्यों। बिराज = सुशोभित।

सन्दर्भ—इस पद में गोपियाँ उद्धव से क्रुद्ध होकर कहती हैं कि यदि तुम हमारे सच्चे हितैषी हो तो योग की शिक्षा मत दो। हमारे लिए तुम्हारा यह उपदेश नीति के विरुद्ध है।

व्याख्या—(उद्धव के प्रति गोपियों का कथन) हे भ्रमर, यदि तुम हमारे सच्चे हितैषी बनते हो, तो श्रीकृष्ण के भजन रूपी अमृत के समुद्र में योगरूपी खारा जल मत डालो। कहने का तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्ण के भजन में हमें अमृत जैसा सुख और आनन्द की प्राप्ति होती है और तुम्हारे योग की बातें सुनने पर हमें कड़ुवाहट और खारेपन का अनुभव होता है (हमारा मन कड़ुवा हो जाता है और उसे अपार दुख होता है)। रे दुष्ट भ्रमर, क्या तुम्हें यह रीति ज्ञात नहीं है कि जिसका जो काम होता है वही उस काम को करता है—उसे दूसरा नहीं कर सकता। तुम इस रीति को सुनो और समझो। यदि ऐसा नहीं तो दूध दुहने वाली गाय हल और फाल क्यों नहीं लेती अर्थात् हल में तो बैल ही जुतता है गाय नहीं। उसी प्रकार नारियों को योग की शिक्षा देना नियम-विरुद्ध है और यह गाय को हल में जोतने के समान है। तुम बार-बार हमें निर्गुण ब्रह्म की बातें बताते हो। भला, जो रस्सी को सर्प समझ कर डर जाता है, उसके आगे काले सर्प को क्यों बढ़ाते हो अर्थात् जो वास्तविक सर्प से नहीं बल्कि रस्सी से (सर्प के भ्रम में) भयभीत हो जाता है उसे वास्तविक काले सर्प को क्यों दिखाते हो ? आशय यह है कि जो योग की बातों को सुनकर डर जाती हैं उन्हें श्रीकृष्ण को छोड़कर निर्गुण ब्रह्मोपासना की ओर क्यों लगा कर डरवाते हो। तुम दूसरों को तो उपदेश देते फिरते हो; किन्तु पहले अपनी करनी को तो देखो कि दाँतों से बिना काटे अपने उस गृह से (छत्ते से) बाहर नहीं निकलते, बल्कि उनको काट कर बाहर निकल आते हो। किन्तु तुम्हारे पास काटने की शक्ति होते हुए भी तुम रात्रि बेला में कमल में बस जाते हो और उसकी पंखुड़ी रूपी दरवाजे को नहीं खोलते (उसमें बन्द रहकर घुटन सह कर भी उसे नष्ट नहीं करते)। अरे चंचल और सुरभि एवं मकरन्द लोभी भ्रमर (आनन्द और रस का उपभोग करने वाले), क्यों बड़-बड़ कर रहे हो—व्यर्थ क्यों प्रलाप कर रहे हो अर्थात् तुम दूसरों को योग और वैराग्य की शिक्षा देते हो, लेकिन स्वयं रस और भोग में लगे रहते हो, तुम्हारी लम्पटता का यह सबसे बड़ा प्रमाण है। सूर के शब्दों में गोपियों का कथन है कि हे भ्रमर, श्रीकृष्ण की मधुर छवि तो हमारे प्रत्येक अंग में विराजमान है, वह हमें कैसे भूल सकती है तात्पर्य यह है कि उनकी सुन्दरता हमारे अंग-अंग में बस गयी है और उसे हम सब किसी भी रूप में विस्मरण नहीं करतीं।

टिप्पणी—

(1) द्वितीय पंक्ति में ('भजन सुधा निधि', 'जोग जल खारे' कपाट दल) रूपक अलंकार है। तीसरी, चौथी, पाँचवीं और छठीं पंक्ति में निदर्शन अलंकार है।

(2) चतुर्थ पंक्ति में रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के अनुसार 'रज्जु' में सर्प के भ्रम की सत्यता पर भी विश्वास किया गया है।

(3) 'मोद रस' में श्लेष है—मोद प्रसन्नता और आमोद (सुगंध) दोनों अर्थ में प्रयुक्त् है। इसी प्रकार रस भी मकरन्द और आनंद दोनों अर्थ का बोधक है।

राग सोरठ

मधुकर ! कौन गाँव की रीति ?
ब्रज जुवतिन को जोग-कथा तुम कहत सबै बिपरीति ॥
जा सिर फूल फुलेल मेलिकै हरि-कर ग्रंथैं छोरी।
ता सिर भसम्, मसान पै सेवन, जटा करत आघोरी ॥
रजनजटित ताटंक बिराजत अरु कमलन की जोति।
तिन स्त्रवनन पहिरावत मुद्रा तोहिं दया नहिं होति ॥
बेसरि नाक, कंठ मनिमाला, मुखनि सार असबास।
तिन मुख सिंगी कहौ बजावन, भोजन आक, पलास ॥
जा तन को मृगमद घसि चंदन सूछम पट पहिराए।
ता तन को रचि चीर पुरातन दै ब्रजनाथ पठाए ॥
वै अबिनासी ज्ञान घटैगो यहि बिधि जोग सिखाए।
करैं भोग भरिपूर सूर तहँ, जोग करैं ब्रज आए ॥ 155 ॥

शब्दार्थ—बिपरीति = नीति-विरुद्ध। फुलेल = इत्र, सुगंधित तेल। मेलिकर = लगाकर। हंरि-कर = श्रीकृष्ण ने अपने हाथों से। ग्रंथैं = गाँठें। छोरी = खोली। ताटंक = कर्णफूल नामक कान में पहनने का गहना। कमलन की जोति = कमलन > जलज > मोत = मोतियों की आभा। मुद्रा = कुंडल जो योगीजन पहनते हैं। बेसरि = नाक में पहना जाने वाला एक आभूषण। सार = घनसार, कर्पूर। असवास = (आश्वास) सुगंधित सांस। आक = (अर्क) मदार। आघोरी = श्मशान में साधना करने वाले (अघोरपंथी)। मृगमद = कस्तूरी। सूछम = सूक्ष्म, महीन। चीर पुरातन = पुराना वस्त्र। रचि = सजाना।

सन्दर्भ—इस पद में गोपियाँ उद्धव से शिकायत कर रही हैं और कह रही हैं कि हे उद्धव, तुम यह नहीं देखते कि योग-साधना किसके लिए है तथा भोग और योग के अन्तर को तुम बिल्कुल नहीं समझ रहे हो। भला, यह तो बताओ कि जो अभी तक भोगमय जीवन में लगी रहीं, उन्हें यह योग-साधना कैसे अच्छी लग सकती है ?

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे भ्रमर, यह किस गाँव की रीति है कि तुम ब्रज की युवतियों को योग-कथा बता रहे हो जो सब प्रकार से नीति विरुद्ध है—व्यंजना यह है कि क्या तुम्हारे मथुरा में ऐसी ही उल्टी नीति का व्यवहार होता है और क्या वहाँ नवयुवतियों को योग की शिक्षा दी जाती है ? हमारे जिस सिर को श्रीकृष्ण ने फूलों से अलंकृत किया और

सुगंधित तेल लगा कर उन्होंने इसकी गाँठें खोलीं। आज तुम उसी सिर पर भस्म मलने के लिए कह रहे हो और अघोरपंथी की भाँति सिर पर जटा बाँधकर श्मशान की साधना करने पर बल दे रहे हो। यह कैसे संभव हो सकता है ? जिन कानों में रत्नजटित ताटंक (कर्णफूल नामक आभूषण) शोभित होता था और जिनमें मोतियों की कांति दीप्त होती थी उन कानों में योगियों की भाँति काँच के कुण्डलों को पहनाते समय तुम्हें दया नहीं आ रही है अर्थात् तुम इतने निष्ठुर हो रहे हो कि जिन कोमल कानों में सुंदर आभूषण शोभित होते थे उन्हें फाड़कर बलात् कुण्डल पहना रहे हो ? हमारी नाक में नथिया शोभित होती थी, गले में मणिमाला और मुख कपूर की सुगंध से सदैव सुरभित रहता था, आज तुम उस मुख को सिंगी-बाजा (योगियों का एक बाजा) बजाने को कह रहे हो और भोजन के लिए मदार और ढाक बता रहे हो—तुम्हें शर्म नहीं आती। हमने अपने जिस शरीर में कस्तूरी और चंदन घिस कर लगाया (कस्तूरी और चंदन से सुरभित किया) और जिस पर महीन वस्त्र धारण किया आज हमारा यह समय है कि उस शरीर को सजाने के लिए हमारे पास पुराना वस्त्र भिजवाया है। तुम श्रीकृष्ण को अविनाशी (ब्रह्म) कह रहे हो—तुम्हारे कहने से हमने उन्हें ब्रह्म मान लिया लेकिन तुम पात्रापात्र का बिना विचार किए जो युवतियों को इस प्रकार योग सिखा रहे हो उससे तुम्हारा ज्ञान घटेगा—तुम अज्ञानी माने जाओगे। वे वहाँ (मथुरा में) भले ही पूर्णरूपेण भोग की साधना करें (कुब्जा के साथ भोगमय जीवन बिताएँ) लेकिन हम तो उन्हें तब समझेंगी जब वे ब्रज में आकर योग-साधना हमारे साथ करें—योग-साधना कितनी कठिन है, यह उन्हें मालूम हो जाएगी—क्योंकि वे मथुरा में बैठे-बैठे हमारे पास योग-संदेश तो भेजा करते हैं पर स्वयं योग-साधना के लिए यहाँ नहीं आते। व्यंजना यह है कि यहाँ आने पर वे अपनी योग-साधना की बातें गोपियों को देखते ही भूल जाएँगे और उनके साथ वे भी भोगमय जीवन की साधना में जुट जाएँगे।

टिप्पणी—

(1) 'कमलन की जोति' मोतियों की ज्योति या कांति के अर्थ में सूर का विशिष्ट प्रयोग है। इसे बहुत से टीकाकारों ने नहीं समझा। 'कमल' या 'जलज' मोती के अर्थ में सूर ने अन्यत्र भी प्रयुक्त किया है। यथा, दुर दमंकत सुभग सुवननि जुग जलज डहडहत।

(2) 'घनसार' के अर्थ में 'सार' का प्रयोग न्यून पदत्व दोष के अन्तर्गत आता है।

(3) चतुर्थ पंक्ति में प्रयुक्त 'आघोरी' तत्कालीन अघोरपंथियों की ओर इंगित कर रहा है। योगी और ये अघोरपंथी मध्यकाल में समाज को एक गलत दिशा की ओर अग्रसर कर रहे थे। सूर ने इस पंथ के विकृत स्वरूप को देखा था, इसी से इस पद में इसका खंडन किया गया है।

राग नट

मधुकर ! ये नयना पै हारे।
निरखि निरखि मग कमलनयन को प्रेममगन भए भारे॥
ता दिन तें नींदौ पुनि नासी, चौंकि परत अधिकारे।
सपन तुरी जागत पुनि सोई जो हैं हृदय हमारे॥
यह निर्गुन लै ताहि बताओ जो जानैं याके सारे।

सूरदास गोपाल छाँड़ि कै चूसैं टेटी खारे ॥ 156 ॥

शब्दार्थ—हारे = थक गए। भारे = अतिशय। नासी = चली गयी। अधिकारे = अधिक। तुरी = तुरीयावस्था। जागत = जागृत अवस्था। याके सारे = इसके तत्व को। टेटी = करील का फल। खारे = कडुए। सोई - वे ही। हृदय हमारे = हमारे प्राणस्वरूप श्रीकृष्ण।

सन्दर्भ—इस पद में गोपियों ने अपने नेत्रों की दशा का वर्णन उद्धव के समक्ष किया है।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे भ्रमर, हमारे ये नेत्र कमलनेत्र श्रीकृष्ण का मार्ग देखते-देखते थक गए और अन्ततः उनके प्रेम में अतिशय मग्न हो गए (इन्हें सभी चीजें भूल गयीं और इनके सामने एक मात्र श्रीकृष्ण का ही रूप शेष रह गया)। जब से श्रीकृष्ण यहाँ से गये हैं उसी दिन से इनकी नींद भी चली गयी (ये सोते नहीं, उन्हें देखते ही रहते हैं) और किसी समय उनके ध्यान में ये अधिक चौंक पड़ते हैं। इन्हें तो स्वप्न में, तुरीयावस्था में और जागृतावस्था में (तीनों अवस्थाओं में) हमारे प्राणस्वरूप वे ही (श्रीकृष्ण) दिखाई पड़ते हैं, कहने का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक स्थिति में हमारे ध्यान में श्रीकृष्ण का ही चित्र रहता है। तुम यह देखते हुए भी बार-बार निर्गुण की महत्ता प्रतिपादित करते रहते हो। अरे, निर्गुण की बात तो उन्हें बताओ जो इसके तत्व को—इसके गूढ़ मर्म को—समझते हों। हम सब निर्गुण के बारे में क्या जानें ? कहने का आशय यह है कि इसे कृष्ण जैसे योगी और कुब्जा जैसी योगिनी को समझाओ, ये सब इसे सहर्ष ग्रहण करेंगे। हम सब तो गोपाल की उपासिका हैं, उनकी रूप-माधुरी का निरन्तर आनन्द लिया करती हैं। भला, ऐसे मधुर रस को छोड़कर तुम्हारे निर्गुण के रस को जो करील के कडुए फल की भाँति है—कौन पसन्द करेगा ? तात्पर्य यह है कि जैसे कोई मधुर फल का रसास्वादन करने के पश्चात् करील के कडुए फल को नहीं चूसता ठीक उसी प्रकार गोपाल के आनन्द को प्राप्त करके—इस निर्गुण के कडुए स्वाद से कौन संतुष्ट होगा ?

टिप्पणी—

(1) अंतिम पंक्ति में लोकोक्ति अलंकार का प्रयोग हुआ है।

(2) चौथी पंक्ति में गोपियों के प्रेममग्न नेत्रों की दशा का बड़ा ही सजीव वर्णन हुआ है।

(3) 'जो जाने याके सारे' में कृष्ण और कुब्जा के प्रति व्यंग्य है।

(4) 'निरखि निरखि' में पुनरुक्ति प्रकाश अलंकार है।

(5) इस पद में योगियों की चार अवस्थाओं की जगह मात्र तीन ही अवस्थाओं का उल्लेख हुआ है—जागृत, स्वप्न और तुरीय। सुषुप्ति का उल्लेख नहीं हुआ। श्रीकृष्ण की प्रतीक्षा में रत गोपियों के नेत्र कभी सोते नहीं। निरन्तर जागते रहते हैं, इसी कारण सुषुप्ति का उल्लेख नहीं किया गया।

राग धनाश्री

मधुकर ! कह कारे की जाति ?
ज्यों जल मीन, कमल पै अलि की, त्यों नहिं इनकी प्रीति ॥
कोकिल कुटिल कपटबायस छलि फिरि नहिं वहि बन जाति।

तैसेहि कान्ह केलि-रस अँचयो बैठि एक ही पाँति ॥
सुत-हित जोग जज्ञ व्रत कीजत बहु बिधि नीकी भाँति।
देखहु अहि मन मोहमया तजि ज्यों जननी जनि खाति ॥
तिनको क्यों मन बिसमौ कीजै औगुन लौं सुख-साँति।
तैसेइ सूर सुनौ जदुनंदन, बजी एकस्वर ताँति ॥ 157 ॥

शब्दार्थ—कह = क्या। बायस = कौआ। अंचयो = पी गए। पाँति = पंक्ति, पंगत। सुत-हित = पुत्र के लिए। अहि = सर्प। जनि = पैदा करके। बिसमौ = विस्मय, आश्चर्य। लौं = तक। बजी एक ही ताँति = एक ही ढंग के बाजे बजे, सब एक ही रंगत के हैं। पाँति = तंत्री, बाजा।

सन्दर्भ—गोपियों ने इस पद में काले वर्ण वालों का उपहास किया है। श्याम वर्ण के होने के कारण श्रीकृष्ण को लेकर श्यामरंग वालों के प्रति बहुत चुभता हुआ व्यंग्य किया गया है।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे भ्रमर, क्या काले रंगवालों की भी कोई जाति होती है (क्या इनमें कुलीनता के कुछ गुण होते हैं ?) आशय यह है कि काले रंग वाले बड़े कुटिल, छली और निष्ठुर होते हैं। जिस प्रकार जल से मछली का और कमल से भौंरा का प्रेम होता है वैसा सच्चा और दृढ़ प्रेम इन कालों (उद्धव, श्रीकृष्ण और अक्रूर आदि) का नहीं है, ये सब भी काले माने गए हैं। काली कोयल को देखो वह कितनी कुटिल और कपटी है। वह कपट से अपने बच्चों को कौवा के घोंसले में रख आती है और जब वे बच्चे बड़े हो जाते हैं तो कोकिल कुल में मिल जाते हैं और कोकिला अपने बच्चों को प्राप्त करके पुनः उस बन में नहीं जाती और कौवे से किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखती। उसी प्रकार ये काले कृष्ण ने भी हम लोगों की पंक्ति में बैठकर—हम लोगों के साथ में रहकर नाना प्रकार की क्रीड़ाओं के रस को प्राप्त किया, लेकिन अन्त में धोखा देकर वे मथुरा चले गये और हम लोगों की याद भुला दी। इसी प्रकार लोग जहाँ पुत्र-प्राप्ति के लिए नाना प्रकार के यज्ञ करते हैं, व्रत रखते हैं तब बड़ी कठिनाई के साथ वह मिलता है, वहीं सर्पिणी को तो देखो, यह जैसे ही बच्चों को जन्म देती है, उसी क्षण समस्त माया-मोह को छोड़कर (निष्ठुर होकर) अपने बच्चों को खा जाती है (यह है काले रंग वालों की निष्ठुरता)। उनके सम्बन्ध में वस्तुतः मन में आश्चर्य करने की आवश्यकता नहीं है जिन्हें अवगुण ग्रहण करने में ही सुख और शान्ति मिलती है। सूर के शब्दों में गोपियों का कथन है कि इसी तरह यशोदा के पुत्र श्रीकृष्ण भी हैं। ये भी उसी रंग में रँगे हुए हैं (एक ही रंगत के हैं) और इनके यहाँ भी एक ही ढंग की तंत्री बजी (एक ही प्रकार का स्वर निकला)। अर्थात् इनमें भी उक्त कालों के गुण मौजूद हैं।

टिप्पणी—

(1) 'बजी एक स्वर ताँति' में लोकोक्ति अलंकार है।
(2) इस पद में वस्तु से वस्तु व्यंग्य है—काले रंग वालों की निष्ठुरता से कृष्ण की निष्ठुरता व्यंजित हुई है।
(3) इसमें असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य का निर्वाह कुशलता से हुआ है—श्रीकृष्ण के जिन गुणों की निंदा की गयी है, वह उनकी प्रकृत निंदा नहीं है।
(4) 'केलि-रस अँचयो' में रूढ़ि लक्षणा का प्रयोग हुआ है।

राग रामकली

मधुकर ! ल्याए जोग-सँदेसो।
भली स्याम कुसलात सुनाई, सुनतहिं भयो अँदेसो ॥
आस रही जिय कबहुँ मिलन की, तुम आवत ही नासी।
जुवतिन कहत जटा सिर बाँधहु तौं मिलिहैं अबिनासी ॥
तुमको जिन गोकुलहिं पठायो ते बसुदेव-कुमार।
सूर स्याम मनमोहन बिहरत ब्रज में नंददुलार ॥ 158 ॥

शब्दार्थ—कुसलात = कुशलता का समाचार। नासी = नष्ट हो गयी। अविनासी = ब्रह्म। अँदेसो = शंका, संदेह।

सन्दर्भ—गोपियों को यह विश्वास नहीं है कि नंदकुमार ने उनके पास योग का संदेश भिजवाया है। उनके अनुसार नंद कुमार तो ब्रज में हैं और योग-संदेश भिजवाने वाले मथुरा के राजा वसुदेव-पुत्र हैं।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे भ्रमर, तुम तो योग-संदेश क्या लाए उसी के बहाने श्याम का अच्छा कुशल-समाचार सुनाया जिसे सुनते ही हमारे मन में शंका उत्पन्न हो गयी। शंका इस बात की है कि यह संदेश कृष्ण का भेजा नहीं है। वे ऐसी बातें नहीं भिजवा सकते हैं। व्यंग्यार्थ यह है कि तुमने श्याम का जो समाचार दिया है, वह बड़ा दुखद है, उसने हमारे मन में शंका और उद्विग्नता उत्पन्न कर दी है। अभी तक तो हमारे मन में यह आशा बनी हुई थी कि श्रीकृष्ण कभी आवेंगे, लेकिन तुम्हारे आते ही और इस योग के संदेश को सुनते ही हमारी सभी आशाएँ नष्ट हो गयीं और हम सब निराश हो गयीं। तुम तो हम युवतियों को सिर पर जटा बाँधने का उपदेश दे रहे हो (हमें योगिनी बना रहे हो) और यह कहते हो कि ऐसा करने से उस अविनाशी (ब्रह्म) का साक्षात्कार होगा, लेकिन हमें इस बात की शंका है कि इस प्रकार का उपदेश देने के लिए श्रीकृष्ण ने तुम्हें गोकुल भेजा है बल्कि वसुदेव-पुत्र मथुराधिपति ने यह संदेश तुम्हारे द्वारा भिजवाया है। सूर के शब्दों में गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि हमारे नंदकुमार तो हमारे साथ ब्रज में विचरण कर रहे हैं और वे यहीं रहते हैं—संदेश भिजवाने वाले ये नहीं हैं। वे कोई दूसरे हैं (वसुदेव-पुत्र हैं)।

टिप्पणी—

(1) इसमें गोपियों के उपास्य ब्रज के नंदकुमार हैं, मथुरा के वसुदेव-पुत्र नहीं।
(2) 'भली-स्याम कुसलात सुनायी', में अत्यंत तिरस्कृत वाच्य ध्वनि है।
(3) तीसरी पंक्ति में गोपियों की निराशा का एक सजीव चित्र मिलता है।
(4) पं० प्रताप नारायण मिश्र की यह रचना सूर के इस पद से अत्यधिक प्रभावित है,
ऊधो, मथुरा के हरि और।
उनके नंद जसुमति पितु-माता, वे वसुदेव देवकी किसोर ॥

राग सोरठ

स्याम विनोदी रे मधुबनियाँ।
अब हरि गोकुल काहे को आवहिं चाहत नवयौवनियाँ ॥

वे दिन माधव भूलि बिसरि गए गोद खिलाए कनियाँ।
गुहि गुहि देते नंद जसोदा तनक काँच के मनियाँ॥
दिना चारि तें पहिरन सीखे पट पीतांबर तनियाँ।
सूरदास प्रभु तजी कामरी अब हरि भए चिकनियाँ॥ 159 ॥

शब्दार्थ—विनोदी = रसिक स्वभाव के। मधुबनियाँ = मथुरा के। काहे को = किसलिए। नव यौवनियाँ = नवयुवतियों को। कनियाँ = कन्धे पर। काँच के मनियाँ = काँच की छोटी-छोटी गुरियाँ। तनियाँ = कुर्ता। चिकनियाँ = छैला।

सन्दर्भ—यद्यपि श्रीकृष्ण गोकुल से जाकर मथुरा में राजा हो गए। लेकिन गोपियाँ ब्रज के बाल कृष्ण को आज भी भूल नहीं सकीं। व्यंग्य-विनोद के साथ वे कृष्ण के पूर्व रूप और कार्य-कलाप को स्मरण करती हुई उन्हें उपालम्भ दे रही हैं।

व्याख्या—(गोपियाँ परस्पर कह रही हैं) हे सखी, कृष्ण तो अब मथुरा के रसिक बन गए हैं, बड़े लोगों के साथ में रहने लगे हैं, वे अब गोकुल क्यों आवें—गोकुल में अब क्या धरा है—अब तो वे मथुरा की नवयुवतियों की चाह करने लगे हैं (कुब्जा जैसी नारियों पर आसक्त होने लगे हैं), यहाँ उन्हें ऐसी युवतियाँ कहाँ मिलेंगी ? उन्हें अब हमारी चाह क्यों होने लगे ? अब तो कृष्ण अपने बचपन के उन दिनों को बिल्कुल भूल गए जब हमने उन्हें अपनी गोद में खिलाया और प्यार में उन्हें अपने कन्धे पर चढ़ाया। हे सखी, हम उन दिनों को याद करती हैं, जब यशोदा और नन्द काँच की छोटी-छोटी गुरियों की माला गुह कर उन्हें पहना देते थे। तब वे मणि-मुक्ता की बात नहीं जानते थे। उन्होंने रेशमी पीताम्बर और कुर्ता तो थोड़े समय से ही पहनना सीखा है (जब से मथुरा में वे राजा हुए हैं तभी से ऐसे वस्त्रों को पहनने लगे हैं)। सूर के शब्दों में गोपी का कथन है कि हे सखी, अब तो श्रीकृष्ण अपनी कमरी त्याग कर मथुरा के छैला बन गए हैं (अब वे कम्बल और लाठी लेकर गाय चराना भूल गए और छैला जैसी बातें करने लगे हैं)। तात्पर्य यह है कि मथुरा जाते ही श्रीकृष्ण का स्वभाव पूर्णतया बदल गया है।

टिप्पणी—

(1) इसमें व्यंग्य शैली में श्रीकृष्ण के बचपन के रूप की सुंदर कल्पना की गयी है।
(2) 'नव यौवनियाँ' द्वारा एक ओर जहाँ कुब्जा जैसी नारियों का संकेत है, दूसरी ओर श्रीकृष्ण के तरुण व्यक्तित्व की भी परिकल्पना की गयी है।
(3) व्यंग्य-विनोद और उपालम्भ-भाव का यह एक अच्छा नमूना है।
(4) चिकनियाँ, शब्द द्वारा श्रीकृष्ण की रसिकता सहज रूप में व्यंजित हुई है।
(5) सख्यभाव की भक्ति का प्रतिपादन और स्मृति संचारी का प्रयोग इसमें हुआ है।
(6) 'गुहि-गुहि' में पुनरुक्ति प्रकाश अलंकार है।

राग धनाश्री

ऊधो ! हम ही हैं अति बौरी।
सुभग कलेवर कुंकुम खौरी। गुंजमाल अरु पीत पिछौरी॥
रूप निरखि दृग लागे ढोरी। चित्त चुराय लयो मूरति सो री।
गहियत सो जा समय अँकोरी। याही ते बुधि कहियत बौरी॥

सूर स्याम सों कहिय कठोरी ! यह उपदेस सुने तें बौरी ॥ 160 ॥

शब्दार्थ—बौरी = पगली। सुभग कलेवर = सुंदर शरीर। कुंकुम खौरी = कुंकुम का टीका। अरु = और। पीत पिछौरी = पीताम्बर। लागे ढोरी = संग लगे, पीछे हो लिए। कहियत = पकड़ती थी, लेती थीं। अंकोरी = अंक, गोद।

संदर्भ—गोपियाँ उद्धव को बता रही हैं कि हम सब पगली थीं जो उनके मनोहर रूप को देखकर मुग्ध हो गयीं (यह दोष हमी सब का था) यदि हम उनके रूप पर मोहित न होतीं तो आज कृष्ण के कठोर हो जाने के कारण हमें दुख क्यों होता ?

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, हमी सब अति पगली हैं। यदि पगली न होतीं तो उनके सुंदर शरीर, कुंकुम का टीका, गले में पड़ी गुंजा की माला और पीताम्बर की शोभा को देखकर हमारे नेत्र उनके पीछे क्यों लगते और हमें इस प्रकार का कष्ट क्यों होता ? उनकी उस मूर्ति ने हमारे चित्त को चुरा लिया (हमारा मन उनके वशीभूत हो गया)। जिस समय हम उन्हें अपनी गोद में लेकर आलिंगन करती थीं उस समय लोग हमें पगली बुद्धि की नारी कहते थे—लेकिन हमने उनकी परवाह नहीं की। सूर के शब्दों में गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे उद्धव, तुम श्याम से कह देना कि तुम अब अतिशय कठोर हो गए हो, यदि कठोर न होते तो योग का संदेश हमारे पास क्यों भेजते, लेकिन बता देना कि तुम्हारे इस योग का सन्देश सुनते ही सभी गोपियाँ पगली हो गयी हैं (उनकी चित्तवृत्ति ठिकाने नहीं रहती—पागल की तरह घूमती रहती हैं)।

टिप्पणी—

(1) इसमें 'स्मृति संचारी' द्वारा बाल-कृष्ण के सौन्दर्य का वर्णन किया गया है।
(2) 'लागे ढोरी' एक मुहावरा है। इसका प्रयोग परवर्ती कवियों में घनानंद आदि ने खूब किया है।
(3) 'चित्त चुराय लयो' में रूढ़ि लक्षणा का प्रयोग हुआ है।

राग धनाश्री

कहाँ लगि मानिए अपनी चूक ?
बिन गोपाल, ऊधो, मेरी छाती ह्वै न गई द्वै टूक ॥
तन, मन, जौबन बृथा जात है ज्यों भुवंग की फूँक।
हृदय अग्नि को दवा बरत है, कठिन बिरह की हूक ॥
जाकी मनि हरि लई सीस तें, कहा करै अहि मूक ?
सूरदास ब्रजवास बसीं हम मनहुँ दाहिने सूक ॥ 161 ॥

शब्दार्थ—कहाँ लगि = कहाँ तक। चूक = गलती, अपराध। द्वै टूक = दो टुकड़े। जौबन = यौवन। भुवंग की फूँक = सर्प की फूँक या फुफकार। अग्नि को दवा = दावानल, दावाग्नि। बरत है = जलती रहती है। कठिन = दुखदायी। हूक = शूल, पीड़ा। जाकी = जिसकी। मनि हरि लई = मणि छीन ली गयी हो। अहि = सर्प। मूक = गूँगा, न बोलने वाला। ब्रजवास = ब्रज-निवास, ब्रजमण्डल में। दाहिने सूक = दक्षिण शुक्र होने पर (ज्योतिष में यह बुरा योग माना गया है)।

सन्दर्भ—गोपियाँ अन्ततः अपनी ही गलती स्वीकार करती हैं और उनके अनुसार अपने अपराधों के कारण ही उन्हें ये कष्ट भोगना पड़ रहा है। यदि कृष्ण के जाते ही उनकी छाती फट गयी होती तो इस असह्य पीड़ा की अनुभूति उन्हें न होती। वे कृष्ण के बिना अपने जीवन को निरर्थक समझती हैं और इसे स्पष्टतया उद्धव से बता रही हैं।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति किसी गोपी का कथन) हे उद्धव, मैं अपनी गलती कहाँ तक बताऊँ (मैंने इतने अपराध किए हैं कि उन सबों को बताना मेरे लिए संभव नहीं)। अभी तक गोपाल के बिना मैं जी रही हूँ यही एक बड़ा अपराध है, क्योंकि उनके जाते ही मेरी यह छाती दो टुकड़े नहीं हो गयी—यदि छाती फट गयी होती तो आज इस प्रकार की पीड़ा का अनुभव न करना पड़ता। अब तो श्रीकृष्ण के बिना मेरा तन, मन और यौवन व्यर्थ में (निरुद्देश्य) बीत रहा है, उसका उपभोग करने वाला कोई नहीं है। यह उसी प्रकार व्यर्थ में नष्ट हो रहा है जैसे सर्प की फुफकार (बिना किसी को काटे ही जैसे सर्प व्यर्थ में फुफकारता रहता है, उसका कोई उपयोग नहीं हो पाता, ठीक यही दशा मेरी है) अर्थात् श्रीकृष्ण ही इसका उपभोग कर सकते हैं, लेकिन वे यहाँ नहीं हैं। कृष्ण के बिना वियोग की पीड़ा मुझे अत्यंत कष्ट दे रही है और हृदय में निरन्तर वियोग का दावानल जलता रहता है—हृदय शीतल नहीं हो पाता है। भला जिस सर्प की मणि छीन ली गयी हो वह वाणीविहीन (मूक) सर्प क्या करे अर्थात् मेरी दशा उस सर्प जैसी हो रही है जिसकी श्रीकृष्ण रूपी मणि छीन ली गयी है। हे सखी, मुझे तो ऐसा लगता है कि ब्रज में शुभ मुहूर्त में नहीं बसी। बसते समय मानो शुक्र दक्षिण थे (कहा जाता है कि शुक्र के दक्षिण होने पर शुभ कार्य नहीं करना चाहिए, क्योंकि ज्योतिष के अनुसार यह बुरा माना जाता है)।

टिप्पणी—

(1) अन्तिम पंक्ति में ज्योतिष की इस मान्यता को कि शुक्र के दक्षिण होने पर कोई कार्य नहीं करना चाहिए, सूर ने बड़ी कुशलता से वियोग के संदर्भ में प्रयुक्त किया है।

(2) तीसरी पंक्ति में उपमा और पाँचवीं में अन्योक्ति अलंकार है।

(3) 'छाती है न गई दो टूक' मुहावरे में गर्भित भाषा का प्रयोग हुआ है।

(4) 'चूक' फारसी भाषा का शब्द है, सूर ने इसे ब्रजभाषा का बना लिया।

राग कल्याण

ऊधो ! जोग जानै कौन ?
हम अबला कह जोग जानैं जियत जाको रौन॥
जोग हम पै होय न आवै धरि न आवै मौन।
बाँधिहैं क्यों मन-पखेरू साधिहैं क्यों पौन ?
कहौ अंबर पहिरि कै मृगछाल ओढ़ै कौन ?
गुरु हमारे कूबरी-कर-मंत्र-माला जौन॥
मदनमोहन बिन हमारे परै बात न कौन ?
सूर प्रभु कब आयहैं वे स्याम दुख के दौन ?॥ 162 ॥

शब्दार्थ—कह = क्या। रौन = रमण, पति। हम पै = हमसे। मन पखेरू = मन रूपी

पक्षी। पौन = हवा (प्राणायाम)। अंबर = अच्छे वस्त्र। जौन = जो। परै बात न कौन = कोई बात बैठती नहीं (कोई बात अच्छी नहीं लगती)। दौन = दमन करने वाले।

संदर्भ—गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि जिस योग की साधना पर आप बल दे रहे हैं, क्या वह हमारे लिए उचित है ? योग तो विधवाओं के लिए है। हमारे पति श्रीकृष्ण तो अभी जीवित हैं, फिर हमें योग की क्या आवश्यकता ?

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, यह तुम्हारा योग कौन समझे ? (हमारे यहाँ तुम्हारे योग का साधक कोई नहीं है) भला, हम अबलाएँ योग क्या जानें जिनके पति श्रीकृष्ण जीवित हैं अर्थात् तुम योग उन विधवाओं को समझाओ जिनके पति नहीं हैं और अनाथ हैं। हमसे योग साधते नहीं बनता और न हम सब मौन धारण करना ही जानती हैं, ऐसी स्थिति में तुम्हारी बातों को हम किस प्रयोजन से ग्रहण करें। आशय यह है कि तुम ठीक स्थान पर नहीं पहुँचे, वहाँ जाओ जहाँ इसके सम्बन्ध में लोग जानते हों। हम सब अपने मन रूपी पक्षी को कैसे बाँधें (चंचल मन को कैसे नियंत्रित करें—क्योंकि बिना चित्तवृत्ति निरोध के योग-साधना संभव ही नहीं है) और अपने श्वासों को प्राणायाम द्वारा कैसे साधें ? (हम तो वियोग की श्वासें निरंतर निकाला करती हैं, अतः श्वासों को संयमित करने का हमारे लिए कोई प्रश्न ही नहीं है)। अब आप ही बताइए कि जिस शरीर पर हमने अच्छे वस्त्रों को धारण किया उसकी जगह योगिनी के रूप में कौन मृगछाला ओढ़े ? हे उद्धव, हमारे जो गुरु (श्रीकृष्ण) हैं वे तो कूबरी के हाथों की मंत्र-माला हैं (जैसे मंत्र जपने की माला को लोग घुमाया करते हैं)। कूबरी भी श्रीकृष्ण को अपने ढंग से मंत्र माला की भाँति घुमाया करती है—वह उन्हें अपने वश में किए हुए है। जिधर वह घुमाती है, श्रीकृष्ण उधर ही नाचा करते हैं। लेकिन सच बात तो यह है कि बिना श्रीकृष्ण के हमारे मन में कोई बात बैठती ही नहीं (उनके बिना हमें कुछ भी अच्छा नहीं लगता)। सूर के शब्दों में गोपियाँ उद्धव से पूछ रही हैं कि हमारे दुख को दूर करने वाले वे श्रीकृष्ण कब आवेंगे ? (कब ऐसा सुयोग मिलेगा जब इन नेत्रों से हम सब प्रियतम श्रीकृष्ण का दर्शन करेंगी ?)

टिप्पणी—

(1) तुकों के कारण सूर को शब्दों को कभी-कभी विकृत करना पड़ा है। यथा 'रमण' के लिए उन्हें 'रौन' और 'दमन' के लिए 'दौन' करना पड़ा।

(2) छठीं पंक्ति में कूबरी के संदर्भ के कारण 'असूया' संचारी भाव है।

(3) 'मन-पखेरू' और कूबरी-कर-मंत्र-माला में रूपक अलंकार है।

(4) अंतिम पंक्ति में श्रीकृष्ण के दर्शन के प्रति गोपियों की आतुरता व्यक्त हुई है।

राग केदारो

फिर ब्रज बसहु गोकुलनाथ।
बहुरि न तुमहिं जगाय पठवौं गोधनन के साथ॥
बरजौं न माखन खात कबहूँ, दैहौं देन लुटाय।
कबहूँ न दैहौं उराहनो जसुमति के आगे जाय॥
दौरि दाम न देहुँगी, लकुटी न जसुमति-पानि।

चोरी न देहुँ उघारि, किए औगुन न कहिहौं आनि ॥
करिहौं न तुमसौं मान हठ, हठिहौं न माँगत दान।
कहिहौं न मृदु मुरली बजावन, करन तुमसों गान ॥
कहिहौं न चरनन देन जावक, गुहन बेनी फूल।
कहिहौं न करन सिंगार बट-तर, बसन जमुना-कूल ॥
भुज भूषननयुत कंध धरिकै रास नृत्य न कराउँ।
हौं संकेत-निकुंज बसिकै दूति-मुख न बुलाउँ ॥
एक बार जु दरस दिखावहु प्रीति-पंथ बसाय।
चँवर करौं चढ़ाय आसन, नयन अँग-अँग लाय ॥
देहु दरसन नंदनंदन मिलन ही की आस।
सूर प्रभु की कुँवर-छबि को मरत लोचन प्यास ॥ 163 ॥

शब्दार्थ—बहुरि = पुनः। गोधनन = गायों। बरजौं न = मना न करेंगी। दाम = रस्सी। लकुटी = लाठी। पानि = (सं० पाणि) हाथ। न देहुँ उघारि = नहीं खोलूँगी। आनि = आकर। हठिहौं न = हठ नहीं करेंगी। दान = रतिदान। जावक = महावर। बेनी = चोटी। बट-तर = बरगद के नीचे। बसन = बसने के लिए। कूल = किनारे। संकेत = संकेत-स्थल। दरस दिखावहु = दर्शन दो। चढ़ाय = बैठाकर। कुँवर-छवि = किशोरावस्था का सौन्दर्य। बसाय = निर्मित करके। प्रीति-पंथ = प्रेम-मार्ग।

सन्दर्भ—गोपियों को इस बात की शंका है कि जब श्रीकृष्ण ब्रज में थे तो उन्होंने उनके साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया। इसी से नाराज होकर कदाचित श्रीकृष्ण मथुरा चले गए। गोपियाँ अपने इस दुर्व्यवहार के लिए पश्चाताप कर रही हैं और कृष्ण को आश्वासन दे रही हैं कि भविष्य में वे सब उनके साथ इस प्रकार का व्यवहार नहीं करेंगी। वे निश्चिन्त होकर पुनः ब्रज में आकर रहने लगें। कोई कुछ नहीं कहेगा।

व्याख्या—(कृष्ण प्रति किसी गोपी या राधा का कथन) उद्धव के माध्यम से कोई गोपी श्रीकृष्ण के प्रति अपना संदेश भेजते हुए कह रही है—हे गोकुलनाथ, अब मेरा यह निवेदन है कि आप पुनः ब्रज में आकर रहने लगें। जब आप ब्रज में थे तो हम सबों ने आपके साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया। अब फिर तुम्हें प्रातःकाल जगाकर ग्वालों के साथ बन में गायों को चराने के लिए नहीं भेजूँगी। कभी तुम्हें मक्खन खाने से भी नहीं रोकूँगी—और यदि तुम ग्वालों के बच्चों में दही लुटाना चाहोगे तो ऐसा करने से तुम्हें मना नहीं करूँगी (लुटाने दूँगी)। तुम जो दही लुटाते थे, उसके लिए कभी भी अब यशोदा के समक्ष इस सम्बन्ध में उलाहना भी नहीं दूँगी। यशोदा के हाथ में दौड़ कर न रस्सी दूँगी न डंडा (अब ऐसा अवसर नहीं आयेगा कि यशोदा तुम्हें मक्खन और दही चुराने पर रस्सी से बाँधे और दण्ड से तुम्हें मारे)। हम सब न तो तुम्हारी चोरी की कलई यशोदा के समक्ष खोलेंगी और न तुम्हारे किए हुए अवगुणों को ही आकर कहेंगी। पहले की भाँति हठपूर्वक मना भी नहीं करूँगी—और काम-क्रीड़ा के लिए इनकार भी नहीं करूँगी। अब न तुमसे बंशी बजाने का आग्रह करूँगी और न गीत गाने के लिए ही कहूँगी। पहले मैं तुमसे अपने पैरों में महावर लगवाती थी और अब ऐसा नहीं करूँगी—और सिर में न चोटी गूँथने को कहूँगी और न उसे फूलों से अलंकृत करवाऊँगी। वंशी वट-वृक्ष के नीचे बैठ कर तुम्हें सिंगार करने के लिए नहीं कहूँगी और न यही आग्रह करूँगी कि तुम हमारे साथ

यमुनातट पर निवास करो। हम भूषणों से युक्त अपनी भारी भुजाओं को तुम्हारे कंधे पर नहीं रखूँगी और रास-मण्डल में नृत्य करने के लिए भी नहीं कहूँगी। अब पहले की भाँति संकेत-स्थल में बैठकर तुम्हें दूती के द्वारा नहीं बुलाऊँगी। यदि तुम एक बार भी अपने दर्शन देकर प्रेम-मार्ग को सफल कर दोगे तो तुम्हें आसन पर बैठाकर तुम्हारे ऊपर चंवर डुलाऊँगी और स्वनेत्रों से तुम्हारे अंग-प्रत्यंग की शोभा देखूँगी (कहने का आशय यह है कि तुम्हारे अंगों की शोभा में अपने नेत्रों को लगा दूँगी)। हे कृष्ण, अब विलम्ब न कीजिए, हमें अपने दर्शन दें—हम दर्शनातुर हैं, और तुम्हारे मिलने की मन में बड़ी आशा है। हमारे नेत्र तुम्हारी कुमारावस्था की शोभा का रसास्वादन करने के लिए प्यासे मर रहे हैं (हमारे नेत्रों में तुम्हारे दर्शन की उत्कट चाह है)।

टिप्पणी—

(1) इसमें स्मृति संचारी भाव की प्रधानता है।

(2) अंतिम चरण में श्रीकृष्ण की कुमार-छवि के प्रति गोपियों ने अपना उत्कट अभिलाष भाव व्यक्त किया है।

(3) पश्चाताप और दैन्य भाव का यह एक सुंदर उदाहरण है।

राग सारंग

कबहूँ सुधि करत गोपाल हमारी ?
पूछत नंद पिता ऊधो सों अरु जसुमति महतारी ॥
कबहूँ तौ चूक परी अनजानत, कह अबके पछिताने ?
बासुदेव घर भीतर आए हम अहीर नहिं जाने ॥
पहिले गरग कह्यो हो हमसों, 'या देखे जनि भूलै'।
सूरदास स्वामी के बिछुरे राति-दिवस उर सूलै ॥ 164 ॥

शब्दार्थ—कह = क्या। बासुदेव = श्रीकृष्ण। गरग = गर्ग नामक एक ऋषि। कह्यो हो = कहा था। सूलै = पीड़ित रहता है।

सन्दर्भ—नंद और यशोदा उद्धव से पूछते हैं कि क्या श्रीकृष्ण कभी हमारी याद भी करते हैं ? इसमें श्रीकृष्ण के ईश्वरत्व का भी संकेत मिलता है।

व्याख्या—नन्द और यशोदा वात्सल्य भाव से प्रेरित होकर उद्धव से कहते हैं कि हे उद्धव, क्या श्रीकृष्ण कभी हमारी भी याद करते हैं ? शायद हमसे अनजाने में कोई गलती हो गयी, इसी कारण श्रीकृष्ण नाराज हैं और ब्रज नहीं आ रहे हैं। लेकिन अब पश्चाताप करने से क्या लाभ (हमें गलती करनी ही नहीं चाहिए थी)। वस्तुतः श्रीकृष्ण जो ईश्वर के अवतार थे—हमारे घर में आए—बहुत समय तक हमारे साथ रहे, लेकिन हम गँवार अहीर इस मर्म को समझ नहीं सके—उन्हें साधारण जन ही जाना। गर्ग मुनि ने हमें पहले ही संकेत कर दिया था कि इन्हें देखकर भूल मत जाना अर्थात् ये पारब्रह्म के अवतार हैं, इसे स्मरण रखना लेकिन माया-मोह में हमने इस पर ध्यान नहीं दिया और उन्हें भूल गए। सूरदास के शब्दों में नन्द और यशोदा कह रहे हैं कि स्वामी श्रीकृष्ण के बिछुड़ जाने से हम दोनों का हृदय रात-दिन (निरन्तर) पीड़ित रहता है (उनके बिछुड़ने की पीड़ा हृदय से जाती नहीं)।

टिप्पणी—

(1) पाँचवीं पंक्ति में श्रीकृष्ण को ब्रह्म रूप में अवतरित होना सूचित किया गया है।
(2) इसमें वात्सल्य भाव की मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है।
(3) 'हम अहीर नहिं जाने' में उनके अज्ञानी और गँवार होने की सुन्दर व्यंजना है।
(4) 'या देखे जनि भूलै' में पारब्रह्म का स्पष्ट संकेत है।

राग बिलावल

भली बात सुनियत है आज।
कोऊ कमलनयन पठयो है तन बनाय अपनो सो साज॥
बूझौ सखा कहौ कैसे के, अब नाहीं कीबे कछु काज।
कंस मारि बसुदेव गृह आने, उग्रसेन को दीनो राज॥
राजा भए कहाँ है यह सुख, सुरभि-संग बन गोप-समाज ?
अब जो सूर करौ कोउ कोटिक नाहिंन कान्ह रहन ब्रज आज॥ 165 ॥

शब्दार्थ—साज = शोभा। बूझौ = पूछो। कैसे के = कैसे हो, क्या समाचार है। सुरभि-संग = गायों के साथ।

सन्दर्भ—उद्धव के आगमन पर कोई सखी किसी सखी से कह रही है कि लगता है श्रीकृष्ण ने अपना ही जैसा रूप बनाकर किसी को यहाँ भेजा है।

व्याख्या—(कोई गोपी किसी गोपी से कह रही है कि) हे सखी, ब्रज में एक अच्छा समाचार सुना है। वह यह कि कमल नेत्र श्रीकृष्ण ने किसी को अपने जैसे रूप में सज्जित करके यहाँ भेजा है। चलो, उनसे पूछें कि तुम्हारे सखा (श्रीकृष्ण) का क्या समाचार है ? अब हमें कुछ अन्य कार्य नहीं करना है अर्थात् उनसे मिलकर श्रीकृष्ण का समाचार पूछने की इतनी जिज्ञासा बढ़ गयी है कि अन्य कार्य में अब मन नहीं लग रहा है। उनसे ऐसा समाचार मिला है कि श्रीकृष्ण कंस को मार कर अपने पिता बसुदेव को बन्दीगृह से छुड़ाकर लाए हैं और उन्होंने अपने नाना उग्रसेन को राज्य सौंप दिया है। ये यद्यपि अब राजा हो गए हैं, लेकिन जो सुख उन्हें वहाँ मिल रहा है गाय के संग बन में गोप-समाज में वह सुख यहाँ कहाँ मिलेगा ? इसीसे हे सखी, कोई करोड़ों उपाय करे, अब श्रीकृष्ण ब्रज में आकर बसने वाले नहीं है (अब राजा होने पर उनका स्वभाव पूर्णतया बदल गया है)।

टिप्पणी—

(1) ग्राम्य जीवन के सहज व्यवहारों और सुखों की तुलना में नगर के कृत्रिम और अस्वाभाविक सुख-विलास में कितना अन्तर होता है, इसकी सहज व्यंजना इस पद की पाँचवीं पंक्ति में हुई है।
(2) अंतिम पंक्ति में गोपियों के मन की निराशा की एक झलक मिलती है।
(3) आश्चर्य है कि आचार्य शुक्ल ने इस पद को उद्धव के आगमन के अन्तर्गत न रख कर बीच में रखा है। यहाँ यह प्रसंग कुछ अस्वाभाविक-सा लगता है।

राग नट

ऊधो ! हम आजु भई बड़भागी।
जैसे सुमन-गंध लै आवतु पवन मधुप अनुरागी ॥
अति आनंद बढ़्यो अंग-अंग में, परै न यह सुख त्यागी।
बिसरे सब दुख देखत तुमको स्यामसुंदर हम लागी ॥
ज्यों दर्पन मधि दृग निरखत जहँ हाथ तहाँ नहिं जाई।
त्यों ही सूर हम मिलीं साँवरे बिरह-बिथा बिसराई ॥ 166 ॥

शब्दार्थ—बड़भागी = अतिशय भाग्यशालिनी। सुमन-गंध = फूलों की महक। मधुप अनुरागी = भ्रमर का प्रेमी। परै न यह सुख त्यागी = यह सुख छोड़ते नहीं बनता। लागी = मिली। बिसराई = भुलाए। मधि = मध्य।

सन्दर्भ—इसमें उद्धव को देखकर गोपियाँ कृष्ण-मिलन जैसा सुख-प्राप्त करती हैं और उनके दर्शन से अपने को सौभाग्यशालिनी समझती हैं।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, आज आपका दर्शन करके हम सब अतिशय भाग्यशालिनी हो गयी हैं क्योंकि तुम हमारे प्रियतम श्रीकृष्ण का संदेश लेकर आए हो। तुम्हारे आगमन से हमारे अंग-प्रत्यंग में उसी प्रकार का सुख प्राप्त हुआ, जैसे पवन पुष्पों की सुगंध लेकर जब आता है तो उन पुष्पों का प्रेमी मधुप उसे प्राप्त करके अपने अंग-अंग में आनन्द का अनुभव करता और ऐसे आनन्द को उससे छोड़ते नहीं बनता (वह ऐसे आनन्द में मग्न हो जाता है)। तुम्हें देखते ही हमारी वियोग-जन्य समस्त पीड़ा भूल गयी और ऐसा लगा मानों हम सब श्यामसुंदर से मिल गयीं (हम सबों को श्याम सुंदर का दर्शन हो गया)। तुम्हें नेत्रों से देखकर श्यामसुंदर का प्रतिबिम्ब उसी प्रकार झलकने लगा जैसे दर्पण के मध्य प्रतिबिंब। किन्तु उसे हाथों से स्पर्श नहीं किया जा सकता, हाथ वहाँ तक नहीं पहुँच सकते हैं। आशय यह है कि श्रीकृष्ण की छाया ही तुममें दिखाई पड़ी, वास्तविक श्रीकृष्ण को प्राप्त नहीं कर सकीं, लेकिन इस प्रतिबिम्ब में हमें वही सुख मिला जो वास्तविक रूप में मिलता है। सूर के शब्दों में गोपियों का कथन है कि हे उद्धव, उस दर्पण की छाया की भाँति हमने अपने श्याम सुंदर का दर्शन करके अपने सभी दुखों को भुला दिया (आपको देखकर ऐसा लगा कि मानो साक्षात् श्रीकृष्ण ही आ गए हैं, अतः इतना आनन्द मिला कि सभी वियोग पीड़ा नष्ट हो गयी)।

टिप्पणी—

(1) दूसरी पंक्ति में उदाहरण और 'बिसरे सब दुख देखत तुमको' में स्मरण अलंकार है।

(2) दर्पण की छाया की उपमा गोस्वामी तुलसीदास ने भी मानस में दी है—

ज्यों मुखु मुकुर मुकुरु निजपानी। गहि न जाइ अस अद्भुत बानी।

—अयोध्या काण्ड

(3) चौथी पंक्ति में गम्योत्प्रेक्षा और पाँचवीं पंक्ति में दृष्टान्त अलंकार है।

(4) अंग-अंग में पुनरुक्ति प्रकाश अलंकार है।

राग सारंग

पाती सखि ! मधुबन तें आई।
ऊधो-हाथ स्याम लिखि पठई, आय सुनौ री माई !
अपने-अपने गृह तें दौरीं, लै पाती उर लाई।
नयनन नीर निरखि नहिं खंडित, प्रेम न बिथा बुझाई ॥
कहा कहौं सूनो यह गोकुल हरि बिनु कछु न सुहाई।
सूरदास प्रभु कौन चूक तें स्याम सुरति बिसराई ॥ 167 ॥

शब्दार्थ—पांती = पत्रिका, चिट्ठी। मधुबन = मथुरा। माई = सखी। निरखि नहिं खंडित = उस पत्र को देखकर अखण्ड अश्रु की धारा बहने लगी। प्रेम न बिथा बुझाई = प्रेम की व्यथा फिर न बुझी—फिर दूर न हो सकी।

सन्दर्भ—उद्धव द्वारा प्रेषित श्रीकृष्ण के पत्र को जानने की जिज्ञासा से ब्रज मण्डल की युवतियाँ अपने-अपने घर से निकल पड़ीं और उद्धव से पत्र को लेकर अपनी छाती में लगाने लगीं। इसमें सम्बन्ध-भावना का निरूपण बहुत ही मार्मिक ढंग से किया गया है।

व्याख्या—(उद्धव द्वारा प्रेषित श्रीकृष्ण के पत्र के सम्बन्ध में सखियाँ परस्पर कहने लगीं) हे सखी, सुना है, मथुरा से श्रीकृष्ण का पत्र आया है। यह पत्र श्रीकृष्ण ने स्वयं लिख कर उद्धव के हाथ से भिजवाया है। आकर सुनो तो, उसमें उन्होंने क्या-क्या बातें लिखी हैं। पत्र की बातों को जानने की जिज्ञासा से गोपियाँ अपने-अपने घर से निकल पड़ीं और उद्धव के पास पहुँचीं तथा उनसे पत्र लेकर स्नेह से उसे अपनी छाती में लगाने लगीं (सम्बन्ध भावना से प्रेरित होने के कारण गोपियों को यह पत्र अतिशय प्रिय लगा, क्योंकि इसे श्याम ने अपने हाथों से लिखा है)। वे श्रीकृष्ण के उस प्रेममय पत्र को पढ़ने लगीं। उस पत्र को देखकर उनके नेत्रों से अखण्ड जल की धारा (न रुकने वाले आँसू) गिरने लगी, और गोपियों के प्रेम और वियोग की पीड़ा इससे शान्त न हो सकी और उद्धव से कहने लगीं कि हे उद्धव, क्या करें श्रीकृष्ण के बिना यह गोकुल सूना-सूना लग रहा है और उनके बिना कुछ भी अच्छा नहीं लगता अर्थात् ब्रज और गोकुल में सब कुछ होते हुए भी श्रीकृष्ण के बिना जैसे कुछ नहीं रह गया है—यह सूनापन हम सब को खाए जा रहा है। सूरदास के शब्दों में गोपियाँ कह रही हैं कि हमसे क्या अपराध हो गया जिसके कारण श्याम ने हमारी सुधि भुला दी (गोपियाँ अपने ही अपराध को स्वीकार करती हैं और उपास्य को सर्वथा निरअपराध समझती हैं)।

टिप्पणी—

(1) श्रीकृष्ण का लिखा पत्र होने के कारण गोपियाँ उसे हृदय से लगा लेती हैं। इस कारण इसमें सम्बन्ध भावना का निर्वाह किया गया है।

(2) दूसरी पंक्ति का भाव रत्नाकर के 'उद्धवशतक' में भी मिला है—

भेजे मन भावन के ऊधव के आवन की,
सुधि ब्रज गावन में पावन जबै लगीं।
कहै रत्नाकर गुवालिनि की झौरि झौरि
नंद पौरि दौरि दौरि आवन तबै लगीं॥

(3) चौथी पंक्ति में (नयनन नीर निरखि नहिं खण्डित) में अश्रु संचारी भाव है।

(4) तीसरी पंक्ति का भाव सूर के एक अन्य पद में भी मिला है—

निरखति अंक स्याम सुंदर के बार-बार लावति छाती।

रत्नाकार जी ने इसे इस रूप में प्रस्तुत किया है—

उझकि उझकि पद कंजन के पंजन पै,
पेखि पेखि पाती छाती छोहनि छवै लगीं।

उद्धव-वचन

राग नट

सुनु गोपी हरि को संदेस।
करि समाधि अंतर-गति चितवौ प्रभु को यह उपदेस॥
वै अबिगत, अबिनासी, पूरन, घट-घट रहे समाय।
तिहि निश्चय कै ध्यावहु ऐसे सुचित कमल मन लाय॥
यह उपाय करि बिरह तजौगी मिलै ब्रह्म तब आय।
तत्वज्ञान बिनु मुक्ति न होई निगम सुनावत गाय॥
सुनत सँदेस दुसह माधव के गोपीजन बिलखानी।
सूर बिरह की कौन चलावै, नयन ढरत अति पानी॥ 168॥

शब्दार्थ—अन्तर गति = हृदय के भीतर। घट-घट = प्रत्येक के मन में। रहे समाय = व्याप्त हैं। अविगत = अज्ञात। पूरन = पूर्ण। कमल = योगियों के षट्चक्र जो कमल के रूप में माने जाते हैं। लाय = लगाकर। सुचित = स्वस्थ होकर। निगम = वेद।

सन्दर्भ—इस पद में उद्धव गोपियों को निर्गुण ब्रह्मोपासना का उपदेश दे रहे हैं।

व्याख्या—(गोपियों के प्रति उद्धव द्वारा श्रीकृष्ण का संदेश) हे गोपियो, श्रीकृष्ण ने तुम्हें जो संदेश हमारे द्वारा भेजा है, उसे सुनो—तुम सब समाधिस्थ होकर अपने हृदय के भीतर देखो। वे पारब्रह्म अज्ञात, अविनाशी, पूर्ण और प्रत्येक के अन्तःकरण में व्याप्त हैं। उस ब्रह्म को इस प्रकार स्वस्थ चित्त से दृढ़तापूर्वक (स्थिर होकर) कमल (योगियों के षट्चक्र जो कमल के रूप में माने जाते हैं) में मन लगाकर ध्यान करो (षट्चक्रों की साधना द्वारा उस ब्रह्म को प्राप्त करने की चेष्टा करो)। इस प्रकार के उपायों द्वारा जब तुम श्रीकृष्ण के वियोग को त्याग दोगी तब ब्रह्म का साक्षात्कार होगा (कहने का तात्पर्य यह है कि तुम जब श्रीकृष्ण के प्रति अपनी आसक्ति के भाव को त्याग कर एक मात्र ब्रह्मोपासना में अपने मन को लीन करोगी तभी ईश्वर की प्राप्ति होगी)। वेद और शास्त्र भी यही कहते हैं कि बिना तत्वज्ञान के मुक्ति संभव नहीं है (ऋते ज्ञानाभ मुक्ति, अर्थात् बिना तत्व ज्ञान के मुक्ति नहीं होती)। श्रीकृष्ण के ऐसे असह्य संदेश को सुनते ही गोपियाँ व्याकुल हो उठीं (गोपियों को यह आशा नहीं थी कि श्रीकृष्ण इस प्रकार के नीरस और दुखद संदेश भिजवा कर उनके मानस को संतप्त करेंगे)। सूरदास के शब्दों में गोपियों के विरह दुख की चर्चा कौन करे—वे इतनी व्याकुलमना हो गयीं कि बिलख-बिलख कर रोने लगीं। दूसरे शब्दों में उनके नेत्रों से अतिशय आँसुओं का प्रवाह बहने लगा।

टिप्पणी—

(1) अन्तिम पंक्ति 'नयन ढरत अति पानी' में अतिशयोक्ति अलंकार है।

(2) दैन्य, विषाद और अश्रु संचारी भाव की झलक अंतिम पंक्ति में मिलती है।

राग सारंग

मधुकर ! भली सुमति मति खोई।
हाँसी होन लगी या ब्रज में जोगै राखौ गोई॥
आतमराम लखावत डोलत घट-घट व्यापक जोई।
चापे काँख फिरत निर्गुन को, ह्याँ गाहक नहिं कोई॥
प्रेम-बिथा सोई पै जानै जापै बीती होई।
तू नीरस एती कह जानै ? बूझि देखिबै ओई॥
बड़ो दूत तू, बड़े ठौर को, कहिए बुद्धि बड़ोई।
सूरदास पूरीषहि षटपद ! कहत फिरत है सोई॥ 169 ॥

शब्दार्थ—सुमति मति = अच्छी बुद्धि। खोई = खो दी, नष्ट कर दी। राखौ गोई = छिपा रखो। जोगै = योग को। आतमराम = अन्तर्यामी ब्रह्म। लखावत डोलत = दिखाते फिरते हो। चापे काँख = काँख में दबाए हुए (बगल में दाबे)। जापै = जिस पर। पै = निश्चय। बूझि देखिबे = पूछ देखो। ओई = (ओही) उसी कृष्ण से। ठौर = स्थान। पूरीषहि = मल, विष्टा। षट्पद = भ्रमर।

सन्दर्भ—गोपियाँ उद्धव के निर्गुण ज्ञान का उपहास कर रही हैं और कहती हैं कि तुम अपने इस योग को छिपा लो, अब मत दिखाओ, क्योंकि ब्रज में सर्वत्र लोग इसका मजाक उड़ाने लगे हैं।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे भ्रमर, तुमने योग क्या सीखा अपनी अच्छी बुद्धि भी खो दी अर्थात् अब तुम्हारी गणना पागलों और अज्ञानियों में होने लगी है। इस ब्रजमंडल में सर्वत्र तुम्हारा मजाक उड़ाया जा रहा है, अतः अपनी मर्यादा बचाना चाहते हो तो इस योग को छिपा रखो—अब इसे किसी को मत दिखाओ (इसकी महत्ता का उल्लेख अब यहाँ बिलकुल मत करो)। आश्चर्य है कि तुम उस अन्तर्यामी का साक्षात्कार करते फिर रहे हो जो सबकी अन्तरात्मा में व्याप्त है। तुम अपने निर्गुण ज्ञान को काँख (बगल) में दबाए इधर-उधर नाच रहे हो (परेशान हो रहे हो), लेकिन खूब समझ लो कि यहाँ इसका कोई भी ग्राहक नहीं है (इस योग और निर्गुण ब्रह्म विषयक चर्चा सुनने वाला यहाँ कोई नहीं है)। हे भ्रमर, हमारी प्रेम-पीड़ा को तो निश्चय ही वही जान सकता है जिस पर बीती हो (जिसने इसका अनुभव किया हो)। तू नीरस-शुष्क ज्ञानी, इस प्रेम की सरसता के महत्व को क्या जाने ? यदि तुम जानना ही चाहते हो तो उसी कृष्ण से इसे पूछ देखो (वे रसिक हैं, प्रेम तत्व के मर्म को जानते हैं, वे तुझे समझा देंगे। अरे, तुम तो बहुत बड़े दूत हो (सब कुछ समझते हो) और बड़े स्थान (मथुरा) के निवासी हो तथा तुम्हारी बुद्धि भी बड़ी कही जाती है (तुम बुद्धि में बड़े हो फिर भी तुम विष्टा का ही गुण गान करते फिरते हो आशय यह है कि तुम छह पैरों वाले विष्टा के कीड़े हो, इस कारण विष्टा की सराहना करते फिरते हो)।

टिप्पणी—

(1) सूर अपने व्यंग्य विनोद के सम्बन्ध में पर्याप्त चर्चित हैं। इस पद में भी व्यंग्य, विनोद और हास्य की सुंदर व्यंजना हुई है।

(2) 'निर्गुन' में शाब्दी व्यंजना का चमत्कार है अर्थात् जिसमें किसी भी प्रकार का गुण नहीं है, ऐसे निर्गुण की रक्षा में तू लगा है, अतः तुम्हारे सदृश अन्य कौन मूर्ख होगा ? निर्गुण शब्द की जगह अन्य पर्यायवाची शब्द इतना व्यंजक न होगा।

(3) 'बड़े ठौर' से व्यंग्य में मथुरा निवासी से अर्थ लिया गया है।

राग सारंग

सुनियत ज्ञानकथा अलि गात।
जिहि मुख सुधा बेनुरव पूरित हरि प्रति छनहिं सुनात॥
जहँ लीलारस सखी-समाजहिं कहत-कहत दिन जात।
बिधिना फेरि दयो सब देखत, जहँ षट्पद समुझात॥
विद्यमान रसरास लड़ैते कत मन इत अरुझात ?
रूपरहित कछु बकत बदन तें मति कोउ ठग भुरवात॥
साधुवाद स्रुतिसार जानिकै उचित न मन बिसरात।
नँदनंदन करकमलन की छवि मुख उर पर पसरात॥
एक एक तें सबै सयानी ब्रजसुन्दरि न सकात।
सूर स्याम रससिंधुगामिनी नहिं वह दसा हिरात॥ 170 ॥

शब्दार्थ—गात = गाते हुए। बेनुरवपूरित = वंशी ध्वनि से युक्त। सुनात = सुनाते थे। फेरि दयो = बदल दिया, परिवर्तन ला दिया। सब देखत = सब के देखते-देखते। इत अरुझात = क्यों फँसाते हो ? भुरवात = भुलाता है। साधुवाद = धन्यवाद, बधाई। स्रुति सार = वेदों का तत्व (निर्गुण ज्ञान), वेदान्त। बिसरात = भुलाना। पसरात = छाई है। न सकात = डरती नहीं। हिरात = खोती नहीं, भूलती नहीं। बदन = मुख।

प्रसंग—इस पद में सखियाँ परस्पर उद्धव की बातों की निंदा कर रही हैं। उनका कहना है कि (जहाँ जिस कृष्ण प्रेम में) उनका मन अटक चुका है, वहाँ से हटाकर निर्गुण बह्म की ओर उसे लगाना कहाँ तक उचित है ? यही नहीं, ब्रह्मा द्वारा परिवर्तित इस स्थिति से गोपियों का मानस क्षुब्ध है।

व्याख्या—(सखियाँ परस्पर कह रही हैं) हे सखी, श्रीकृष्ण अपने जिस मुख से प्रतिक्षण अमृतयुक्त वंशी की ध्वनि सुनाया करते थे, आज हम लोगों को बलात् उद्धव की ज्ञान-गाथा सुननी पड़ रही है (तात्पर्य यह है कि उद्धव जी बिना किसी संकोच के आज अपनी ज्ञान-गाथा गाए जा रहे हैं, और हम सब सुन रही हैं। एक समय ऐसा भी था जहाँ श्रीकृष्ण की नाना प्रकार की लीलाओं के आनन्द की चर्चा करती हुई सखियों का समय व्यतीत हो जाता था आज ब्रह्मा ने उसे सब को देखते-देखते पलट दिया (वे सुखमय दिन समाप्त हो गए) और क्या देखती हूँ कि यह मूर्ख भ्रमर (अज्ञानी उद्धव) आज वहीं हमें निर्गुण का ज्ञान समझा रहा है। रास में नृत्य का आनन्द देने वाले प्रिय श्रीकृष्ण के होते हुए हमारा यह मन निर्गुण की ओर क्यों उलझे ?

अर्थात् आनन्दराशि श्रीकृष्ण को छोड़कर हमारा मन उद्धव की नीरस एवं आकर्षणहीन बातों में नहीं फँस सकता। वह किसी निराकार के सम्बन्ध में अपने मुख से कुछ उसी तरह मीठी-मीठी बातें बक रहा है जैसे कोई ठग किसी भोले-भाले व्यक्ति की बुद्धि को अपनी मीठी बातों में भुलाने की चेष्टा करता है अर्थात् अपनी चिकनी-चुपड़ी बातों से वह उसे ठग लेता है (हमें भी यह उद्धव कुछ उसी प्रकार का लग रहा है)। पुनः गोपियाँ उद्धव को सम्बोधित करके कहने लगीं—हे उद्धव, तुम्हारे इस वेद तत्व को जानकर हम सब प्रसन्न हैं। तुमने जो ऐसी वेदान्त की बातें सुनाईं उसके लिए तुम्हें धन्यवाद ! लेकिन तुम हमारे मन को भुलाना चाहते हो अर्थात् कृष्ण की ओर से हटा कर निर्गुण की ओर उन्मुख करना चाहते हो। किन्तु हमारा मन विवश है और वह कृष्ण को छोड़कर अन्यत्र नहीं जा सकता। वह जो कृष्ण को नहीं भुला पाता, हमारी दृष्टि में उचित और तर्क-संगत है। हे उद्धव, आज भी श्रीकृष्ण के कमलवत् हाथों की शोभा हमारे मुख और हृदय पर छाई रहती है अर्थात् जब वे अपने कमलवत् हाथों से हमारे मुख और हृदय को स्पर्श करते थे तो उनके हाथों का वह लावण्य अमिट रूप से मुख और हृदय पर छा जाता था—उसका प्रभाव अभी भी बना हुआ है। हृदय उस छवि को भूलता नहीं है और मुख हाथों के कोमल स्पर्श से गद्‌गद है (आशय यह है कि आज भी मुख उनके हाथों की शोभा का गुणानुवाद किया करते हैं)। उद्धव जी, यह खूब जान लो कि ब्रज की सभी युवतियाँ एक से एक चतुर और कुशला हैं, वे किसी से डरतीं नहीं—तुम्हारे निर्गुण ज्ञान से भी वे विचलित होने वाली नहीं हैं। सूर के शब्दों में वे श्रीकृष्णरूपी आनन्द-सागर में नदी की भाँति प्रवहमान हैं—उसी ओर प्रवाहित हैं—जैसे नदियाँ अपने प्रियतम सागर में मिलकर आनन्द का अनुभव करती हैं, उसी प्रकार ये युवतियाँ प्रियतम श्रीकृष्ण के आनन्द की ओर उन्मुख हैं और अपने इस गन्तव्य या लक्ष्य की दिशा को वे भूल नहीं सकतीं—मिलन की यह अवस्था उनके लिए अविस्मरणीय है।

टिप्पणी—

(1) इसमें अतीत की मधुर स्मृतियों का बिम्ब प्रभावात्मक रूप में अंकित है।
(2) अंतिम पंक्ति में रूपक है।
(3) इस पद में तुकों की योजना अच्छी नहीं है। इसे भाषा का शिष्ट प्रयोग नहीं कहा जा सकता। 'गाते हुए' के अर्थ में 'गात' और समझाने के लिए 'समुझात' आदि प्रयोग चिन्त्य हैं।

राग सारंग

ऊधो ! इतनी कहियो जाय।
अति कृसगात भई हैं तुम बिनु बहुत दुखारी गाय॥
जल समूह बरसत अँखियन तें हूँकत लीने नाँव।
जहाँ जहाँ गोदोहन करते ढूँढ़त सोइ सोइ ठाँव॥
परति पछार खाय तेहि तेहि थल अति व्याकुल ह्वै दीन।
माँनहुँ सूर काढ़ि डारे हैं बारि मध्य तें मीन॥ 171 ॥

शब्दार्थ—कृसगात = क्षीणकाय, दुर्बल शरीर वाली। हूँकत = हुँकार मारती हैं। नाँव = नाम। सोइ ठाँव = वही स्थान। परति पछार खाय = पछाड़े खाकर गिर पड़ती हैं। थल =

स्थल। काढ़ि डारे हैं = निकाल दी गई हैं। बारि मध्य = जल के बीच से। मीन = मछली।

सन्दर्भ—इसमें गोपियों ने उद्धव के समक्ष श्रीकृष्ण के वियोग में व्याकुल गायों का बड़ा ही मार्मिक और यथार्थ वर्णन किया है—

व्याख्या—(गायों की दशा का वर्णन करती हुई गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं) हे उद्धव, तुम श्रीकृष्ण से इतनी बातों का निवेदन अवश्य कर देना कि तुम्हारे वियोग में अति व्याकुलमना और दुखित गायें बहुत क्षीणकाय हो गयी हैं (कह देना कि जब से तुम गए हो गायों ने खाना-पीना बन्द कर दिया है और वे शरीर से अति दुर्बल हो गयी हैं) उनकी आँखों से निरन्तर आँसुओं की धारा बहती रहती है—यह धारा बन्द नहीं होती। आशय यह है कि वे तुम्हारे बिना इतनी रोती रहती हैं कि उनकी आँखों से अश्रु प्रवाह कभी बन्द नहीं होता। और यदि कभी कोई तुम्हारा नाम ले लेता है तो वे हुंकार मारने लगती हैं (चिल्लाती रहती हैं)। वे बड़ी आतुरता से तुम्हें उन-उन स्थानों पर ढूँढ़ा करती हैं, जहाँ तुमने उनका दुग्ध दोहन किया है और जब वे तुम्हें उन स्थलों पर नहीं पातीं तो वहीं पछाड़ें खाकर गिर पड़ती हैं। दूसरे शब्दों में उनकी बड़ी कारुणिक दशा है। सूर के शब्दों में गोपियों का कथन है कि वे श्रीकृष्ण के वियोग में इस प्रकार संतप्त और मरणासन्न हैं जैसे पानी के बीच से मछलियों को निकाल दिये जाने पर वे निष्प्राण हो जाती हैं।

टिप्पणी—

(1) इसमें सूर के पशु-प्रकृति विषयक सूक्ष्म ज्ञान का परिचय मिलता है। गायों की प्रकृति का इस प्रकार से मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया से वर्णन अन्यत्र विरल है।

(2) पशु प्रायः सूँघ कर लोगों का पता लगाया करते हैं। चौथी पंक्ति में इसी तथ्य का संकेत है।

(3) पाँचवीं पंक्ति में गायों की व्याकुलता का चित्रात्मक ढंग से वर्णन किया गया है। शास्त्रीय शब्दावली में इसे अनुभाव विधान के अन्तर्गत रखा जा सकता है।

(4) तीसरी पंक्ति में अश्रु एवं स्मृति संचारीभाव की प्रधानता है।

(5) अंतिम पंक्ति में उत्प्रेक्षा अलंकार है।

(6) 'गीतावली' में तुलसीदास ने इसी प्रकार का वर्णन घोड़ों की प्रकृति के सम्बन्ध में किया है—'आली हौं इनहिं बुझावौं कैसे' ?

राग सारंग

ऊधो ! जोग सिखावन आए।
सिंघी, भस्म, अधारी, मुद्रा लै ब्रजनाथ पठाए॥
जोपै जोग लिख्यो गोपिन को, कत रसरास खिलाए ?
तबहिं ज्ञान काहे न उपदेस्यो, अधर-सुधारस प्याए॥
मुरली सब्द सुनत बन गवनति सुत-पति-गृह बिसराए।
सूरदास रँग छाँड़ि स्याम को मनहिं रहे पछिताए॥ 172 ॥

शब्दार्थ—सिंघी = गाय की सींग का एक बाजा जिसे योगी लोग बजाते हैं। अधारी = योगियों की एक लकड़ी। मुद्रा = कुण्डल। पठाए = भेजा है। जोपै = यदि। कत = क्यों।

रसरास = रास का आनन्द, रास-क्रीड़ा। खिलाए = खेल-खेला। गवनति = चल देती थी। मनहिं = मन में। पछिताए = पछतावा।

सन्दर्भ—योग की शिक्षा देने पर गोपियाँ उद्धव से नाराज होकर कहती हैं कि क्या ब्रजनाथ ने तुम्हें इसी प्रयोजन से यहाँ भेजा है ?

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, क्या तुम हम सब को योग का उपदेश देने के लिए पधारे हो ? ब्रजनाथ ने क्या तुम्हें इसी प्रयोजन से सिंघी, भस्म, अधारी और कुण्डल लेकर तुम्हारे हाथों भिजवाया है—लेकिन हम लोगों की समझ में यह बात नहीं आती कि यदि गोपियों के भाग्य में योग की शिक्षा ही लिखी थी तो श्रीकृष्ण ने रास मण्डल की नृत्यादि क्रीड़ा हमारे साथ क्यों की—प्रारम्भ से ही उन्हें योग की शिक्षा देनी चाहिए थी। जब वे अपने ओष्ठों का अमृत रस हमें पिलाया करते थे तब क्यों नहीं योग का उपदेश दिया—अब मथुरा जाने पर उन्हें योग सूझ पड़ा है ? हम सब उनकी मुरली की ध्वनि सुनते ही पुत्र, पति और घर की सुधि भुलाकर (इन सब की चिन्ता न करके) वन की ओर चल पड़ती थीं। सूरदास के शब्दों में गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि श्रीकृष्ण का साथ छोड़ देने से आज भी हमारे मन में पछतावा है (हम सब श्रीकृष्ण के सत्संग से जब से वंचित हुई हैं मन में पश्चाताप कर रही हैं, क्योंकि वैसा आनन्दमय साथ आज तक न मिला)।

टिप्पणी—

(1) व्यंग्य-गर्भित शैली में रचित सूर का यह पद बहुत उत्तम माना जाता है।
(2) 'आए जोग सिखावन पाँड़े' में भी योग की व्यंग्य शैली में निन्दा की गई है।

राग सारंग

ऊधो ! लहनौ अपनो पैए।
जो कछु बिधना रची सो भइए आन दोष न लगैए॥
कहिए कहा जु कहत बनाई सोच हृदय पछितैए।
कुब्जा बर पावै मोहन सों, हमहीं जोग बतैए॥
आज्ञा होय सोइ तुम कहिबो, बिनती यहै सुनैए।
सूरदास प्रभु-कृपा जानि जो दरसन-सुधा पिबैए॥ 173 ॥

शब्दार्थ—लहनो = प्राप्य, भाग्य में लिखा। बिधना = ब्रह्मा। आनदोष न लगैए = दूसरों को दोष नहीं देना चाहिए। बर = पति, दूल्हा। भइए = होता है।

सन्दर्भ—इस पद में गोपियाँ उद्धव के समक्ष अपना ही दोष स्वीकार करती हैं। इसमें गोपियों का दैन्य भाव व्यक्त हुआ है।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, अपना जो प्राप्य है (जो अपने भाग्य में लिखा है) वह अवश्य मिलता है। अतः दूसरों को दोष नहीं देना चाहिए, क्योंकि ब्रह्मा ने जो भाग्य में रच दिया है, उसे कोई काट नहीं सकता, उसे वह निश्चय ही भोगेगा। तुम जो निर्गुण ज्ञान-विषयक बहुत-सी बातें गढ़-गढ़कर यहाँ कह रहे हो उनके सम्बन्ध में हम अधिक क्या कहें—यह हमारे ही कर्मों का फल है जो ऐसी बातें सुन रही हैं और जिन्हें सुनकर हृदय में पश्चाताप होता है (हम अपने भाग्य के सम्बन्ध में जब सोचती हैं तो अपार दुख होता है)। यह

भाग्य की ही बात है कि कुब्जा जैसी कुपात्री मोहन जैसे सत्पात्र वर (पति) को प्राप्त करे और हमें योग की शिक्षा दी जाय (यदि भाग्य की बात न होती तो क्या तुम हमें योग की शिक्षा देते और कुब्जा श्रीकृष्ण को पति रूप में वरण करती ?) हे उद्धव, तुम्हें श्रीकृष्ण की जो आज्ञा हुई हो, तुम उसका पालन करो अर्थात् श्रीकृष्ण ने तुम्हें हमारे सम्बन्ध में जो कुछ कहने के लिए कहा हो तुम हमसे वही कहो और वही सुनाओ—दूसरी बातें नहीं। हाँ, अन्त में तुम हमारी एक प्रार्थना उनसे अवश्य कर देना कि हम अपने प्रति तुम्हारी बहुत बड़ी कृपा समझेंगी यदि तुम ब्रज में आकर एक बार अपने दर्शन का अमृत हम सब को पिला दें (सुधोपम दर्शन लाभ करा दें)।

टिप्पणी—

(1) इसमें भाग्यवादी दृष्टिकोण को महत्व दिया गया है।
(2) 'दरसन-सुधा' में रूपक अलंकार है।
(3) 'कुब्जा बर पावै मोहन सों' में असूया संचारी है।
(4) द्वितीय पंक्ति में दैन्य संचारी भाव है।
(5) भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की यह पंक्ति इस पद के द्वितीय चरण के समानान्तर है—
'मेरो उराहनों है कछु नाहिं सबै फल आपुने भाग को पावैं'।

राग सारंग

ऊधो ! कहा करैं लै पाती ?
जौ लगि नाहिं गोपालहिं देखत बिरह दहति मेरी छाती ॥
निमिष एक मोहिं बिसरत नाहिंन सरद-समय की राती।
मन तौ तबहीं तें हरि लीन्हों जब भयो मदन बराती ॥
पीर पराई कह तुम जानौ तुम तौ स्याम-सँघाती।
सूरदास स्वामी सों तुम पुनि कहियो ठकुरसुहाती ॥ 174 ॥

शब्दार्थ—जौ लगि = जब तक। दहति = जलती रहती है। निमिष = क्षण, पल। मदन बराती = कामदेव का आगमन। सँघाती = साथी। ठकुरसुहाती = खुशामदी बातें।

सन्दर्भ—यद्यपि श्रीकृष्ण ने गोपियों को संतुष्ट करने के लिए उद्धव द्वारा पत्र भेजा है, लेकिन गोपियाँ श्रीकृष्ण के इस पत्र से संतुष्ट नहीं हैं—वे तो श्रीकृष्ण के प्रत्यक्ष दर्शन द्वारा ही संतुष्ट हो सकती हैं। इस पद में वे उद्धव से अपनी यही बात कह रही हैं।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, कृष्ण के इस पत्र को लेकर क्या करें—इससे हमारे वास्तविक उद्देश्य की पूर्ति तो होती नहीं, क्योंकि जब तक श्रीकृष्ण को हम इन आँखों से नहीं देख लेतीं तब तक हमारा यह हृदय उनके वियोग-ताप से जलता ही रहेगा। हमें एक-एक पल के लिए शरद की उस रात का आनन्द नहीं भूलता जब यौवन काल में मदनागम के होते ही (यौवन-सुलभ काम चेष्टाओं के उत्पन्न होते ही) श्रीकृष्ण ने हमारे मन को वशीभूत कर लिया। अब श्रीकृष्ण के वियोग में हमें जो पीड़ा होती है उसे पराए की पीड़ा न समझने वाले तुम क्या जानो। तुम भी तो श्रीकृष्ण के मित्र हो अर्थात् तुम दोनों का स्वभाव एक सामान है—जैसे दूसरों की पीड़ा श्रीकृष्ण नहीं समझते—हमारे मन को मोहित करके—छोड़ दिया—उसी प्रकार तुम भी हमारी दशा और वियोग की पीड़ा को नहीं समझ पा रहे हो। सूरदास

के शब्दों में वियोगिनी गोपियाँ कह रही हैं कि हे उद्धव, तुम तो यहाँ से जाने पर पुनः ठकुरसोहाती कहोगे (वही बात श्रीकृष्ण के पास जाकर कहोगे—जो उन्हें भाती है—हमारी दशा से तुम्हें क्या प्रयोजन ? तात्पर्य यह है कि सत्य और यथार्थ बात तुम कहने वाले नहीं हो और तुम ब्रज की सच्ची-सच्ची बातों का उल्लेख नहीं करते तो श्रीकृष्ण हम सब की यथार्थ दशा के बारे में क्या जान सकते हैं) ?

टिप्पणी—

(1) अन्तिम पंक्ति में लोकोक्ति अलंकार का प्रयोग हुआ है। इस लोकोक्ति का प्रयोग गोस्वामी तुलसीदास ने भी स्व 'मानस' में किया है—

हमहूँ कहब अब ठकुरसोहाती, नाहीं तो मौन रहब दिन राती।

(2) 'पीर पराई' में भी लोकोक्ति की व्यंजना इस रूप में हो रही है—

जाके पाँव न फटै बिवाई। सो का जाने पीर पराई॥

(3) सूर ने इस पद में 'मदनबराती' जैसे विशिष्ट शब्दों का भी प्रयोग किया है। यहाँ 'बराती' उसे कहा गया है जो वर के साथ जुड़ा रहता है। यहाँ यौवन को वर रूप में माना गया है और काम को बराती बनाया गया है। आशय यह है कि यौवन काल में मदन का आगमन प्रियतम के वियोग में कष्टदायक होता है (गोपियाँ निरन्तर श्रीकृष्ण के वियोग में काम-पीड़ा से पीड़ित हैं)।

राग सारंग

ऊधो ! बिरहौ प्रेमु करै।
ज्यों बिनु पुट पट गहै न रंगहिं, पुट गहे रसहि परै॥
जौ आँवौं घट दहत अनल तनु तौ पुनि अमिय भरै।
जौ धरि बीज देह अंकुर चिरि तौ सतफरनि फरै॥
जौ सर सहत सुभट संमुख रन तो रबिरथहिं सरै।
सूर गोपाल प्रेमपथ-चलि करि को सुख दुखहिं डरै॥ 175 ॥

शब्दार्थ—प्रेम करै = प्रेम उत्पन्न करता है। पुट = कपड़े को रँगते समय रंग में सोडा या फिटकरी मिला देते हैं, ऐसा करने से कपड़े का रंग पक्का पड़ जाता है। इसे पुट देना कहा जाता है। ज्यों बिनु पुट पट गहै न रंगहिं = जैसे बिना पुट दिए कपड़ा रंग नहीं पकड़ता (बिना पुट के कपड़े पर रंग नहीं चढ़ता। पुट गहे = पुट देने पर। रसहि परै = रंग चढ़ जाता है। जौ = जब। आँवौं = आवाँ, जिसमें कुम्हार मिट्टी के बर्त्तन पकाते हैं। घट = घड़ा। अनल = आग। दहत = जलाता है। जौ धरि बीज दहे अंकुर चिरि = जब बीज का शरीर फट कर अपने शरीर में अंकुर धारण करता है। सतफरनि = सैकड़ों फल। फरै = फलता है। सर = बाण। सुभट = योद्धा। संमुख रन = युद्ध क्षेत्र में। सरे (निसरै-निकले) = निकल जाता है। रबिरथहिं = सूर्य के रथ को (सूर्य मंडल को बेधते हुए निकल जाता है)। प्रेम-पथ चल करि = प्रेम मार्ग का अनुयायी होकर।

सन्दर्भ—इस पद में गोपियों ने अपने विरह को भी अच्छा बताया है। उनके अनुसार

जितनी अधिक वियोग की पीड़ा बढ़ती है उतना ही विरही के हृदय में अपने प्रियतम के लिए प्रेम-भाव बढ़ता है।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, हमारे लिए विरह भी अच्छा ही है क्योंकि विरह से प्रेम अपेक्षाकृत अधिक बढ़ता है। जैसे बिना पुट के वस्त्र रंग नहीं पकड़ता (बिना पुट दिए कपड़े पर रंग नहीं चढ़ता और पुट देने पर वह रंग पकड़ लेता है—रंग पक्का हो जाता है उसी प्रकार बिरह से प्रेम का रंग निरन्तर पक्का होता जा रहा है। जैसे आँवाँ में घड़ा अपने शरीर को पहले जलाता है (आँवाँ में घड़ा जब खूब पक जाता है) तब वह अमृत धारण करने में समर्थ होता है (कच्चा घड़ा तो अमृत या जल आदि धारण करने पर गल जाएगा) तात्पर्य यह है कि जब तक विरह की पीड़ा नहीं बढ़ती तब तक सुधोपम प्रेम का स्वाद नहीं मिल सकता। इसी प्रकार जब बीज का शरीर पृथ्वी के नीचे फट कर अपने शरीर में अंकुर धारण करता है (पृथ्वी के नीचे बीज जब अपने को गलाता है तो उसमें अंकुर उत्पन्न होते हैं) तब वही अंकुर वृक्ष के रूप में सैकड़ों फल फलने में समर्थ होता है (यदि अंकुर न होता तो सैकड़ों सुन्दर फलों की कल्पना ही नहीं की जा सकती थी। आशय यह है कि दुखों का सामना किए बिना आनन्द की उपलब्धि नहीं होती। जैसे योद्धा जब युद्धस्थल में अपनी छाती में शत्रु के बाणों की चोट सहता है तब वह सूर्य मंडल को बेधते हुए स्वर्ग की प्राप्ति करता है (ऐसा विश्वास किया जाता है कि युद्ध-स्थल में जो योद्धा अपने धर्म का पालन करते हुए मरता है, वह सीधे स्वर्ग पहुँचता है)। सूरदास के शब्दों में गोपियों का कथन है कि अब श्रीकृष्ण के प्रेम मार्ग पर चल कर (उनके प्रेम-मार्ग का अनुसरण करके) कौन ऐसी है जो सुख और दुख से डर जाय अर्थात् सुख-दुख के भय से ब्रज में ऐसा कोई नहीं है जो प्रेममार्ग को छोड़ दे।

टिप्पणी—

(1) इस पद के अन्तिम चरण का पाठ अतिशय भ्रष्ट और निरर्थक था। वास्तव में आचार्य शुक्ल ने इन पदों को वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई वाले सूरसागर से संकलित किया था। उस संस्करण को देखने से इस पद की अंतिम पंक्ति का पाठ यों मिला—'सूर गोपाल प्रेम-पथ चलिकरि को सुख दुखहिं डरै' हमें यही पाठ अच्छा और ठीक लगा। अन्य टीकाकारों ने इसके अंतिम चरण के इस पाठ को ग्रहण किया।

सूर गोपाल प्रेम-पथ जल तें कोउ न दुखहिं डरै।

इन टीकाकारों ने जल का अर्थ अश्रु किया है जो सहज और स्वाभाविक प्रतीत नहीं होता। खींच-तान कर अर्थ करने की अपेक्षा उसके शुद्ध पाठ पर ध्यान दिया जाना चाहिए था। हमारे विचार से यह छपते समय गलत छप गया है। कदाचित 'चल' का भूल से 'जल' मुद्रित हो गया।

(2) इस पद में प्रेम पथ के अन्तर्गत रूपक है और अनेक उदाहरणों के कारण उदाहरण-माला अलंकार है।

(3) कबीर ने भी सूर की भाँति विरह के महत्व को स्वीकार किया है—

बिरहा बुरहा जिनि कहौ, बिरहा है सुलितान।
जिहि घट बिरह न संचरे, सो घट सदा मसान॥

राग सारंग

ऊधो ! इतनी जाय कहो।
सब बल्लभी कहत हरि सों ये दिन मधुपुरी रहो॥
आज काल तुमहूँ देखत हौ तपत तरनि सम चंद।
सुंदर स्याम परम कोमल तनु क्यों सहिहैं नँदनंद॥
मधुर मोर पिक परुष प्रबल अति बन उपवन चढ़ि बोलत।
सिंह, बृकन सम गाय बच्छ ब्रज बीथिन-बीथिन डोलत॥
आसन, असन, बसन विष अहि सम भूषन भवन भँडार।
जित तित फिरत दुसह द्रुम-द्रुमप्रति धनुष लए सत मार॥
तुम तौ परम साधु कोमलमन जानत हौ सब रीति।
सूर स्याम को क्यों बोलैं ब्रज बिन टारे यह ईति॥ 176॥

शब्दार्थ—बल्लभी = प्रेमिका। मधुपुरी = मथुरा। तरनि = सूर्य। मधुर = मृदुभाषी, मीठी बोली बोलने वाले। पिक = कोयल। पुरुष = कर्कश, कठोर। बृकन = भेड़िये। बच्छ = बत्स, बछड़ा। बीथिन = गलियों में। आसन = शय्या, सेज। असन = भोजन। बसन = वस्त्र। अहिसम = सर्प के समान। दुसह = असहनीय। मार = कामदेव। सत = सैकड़ों। बोलैं = बुलावें। ईति = बाधा, उपद्रव। लए = लेकर।

सन्दर्भ—गोपियाँ संकट की इस बेला में श्रीकृष्ण को ब्रजमंडल में बुलाना नहीं चाहतीं। वियोग में आज वसंतऋतु की सभी सुखद वस्तुएँ दुखद हो गयी हैं। अनुकूल परिस्थितियाँ प्रतिकूल हो गयी हैं, अतः गोपियाँ ऐसे वातावरण में श्रीकृष्ण को बुलाकर कष्ट नहीं देना चाहतीं। वे उद्धव से कहती हैं कि हे उद्धव, श्रीकृष्ण से कह देना कि इन दिनों वहीं रहें और यहाँ न आवें। क्योंकि ब्रज में बसन्त का आगमन कष्टकर हो गया है।

व्याख्या—(कृष्ण प्रति गोपियों का उद्धव से संदेश) हे उद्धव, तुम हमारी इतनी बातें श्रीकृष्ण से जाकर कह देना कि तुम्हारी सभी प्रेमिकाएँ तुमसे यही निवेदन करती हैं, कि तुम इन दिनों ब्रजमण्डल में न आओ (आने पर तुम्हें कष्ट होगा जो हमें वांछनीय नहीं है) और मथुरा में ही रहो। उद्धव जी, तुमसे क्या छिपा है, तुम भी देख रहे हो कि आजकल शीतलता प्रदान करने वाला चन्द्रमा भी सूर्य की भाँति संतप्त कर रहा है, भला सुंदर श्याम और कोमल शरीर वाले हमारे श्याम सुंदर इस ताप को कैसे सहन कर सकते हैं। उद्धव जी आप देख रहे हैं कि मधुर वाणी बोलने वाले मोर और कोयल बन और उपवन के वृक्षों पर चढ़कर आज अतिशय कठोर वाणी बोल कर हम सब को संत्रस्त कर रहे हैं। आशय यह है कि श्रीकृष्ण के वियोग में इनकी मधुर वाणी भी कठोर और कर्ण-कटु प्रतीत होती है। समय के बदल जाने पर जो गाएँ और बछड़े हमें सुखद प्रतीत होते थे वे ही सिंह और भेड़िये के समान ब्रज की गली-गली में घूमते हुए प्रतीत हो रहे हैं। आशय यह है कि उन्हें देखकर हम सब उसी प्रकार डर जाती हैं जैसे सिंह और भेड़ियों को देख कर लोग संत्रस्त हो जाते हैं (श्रीकृष्ण के चले जाने पर गोपियाँ जब इन गायों और बछड़ों को देखती हैं तो उनके मानस में श्रीकृष्ण की मधुर स्मृतियाँ जग जाती हैं और वे व्याकुल हो उठती हैं)। आज वियोग में शय्या, भोजन और वस्त्र आदि विष के समान जलाए दे रहे हैं—ये सब दग्धकारी हैं। और भूषण, भवन तथा (भवन की) वस्तुओं के भण्डार सर्पवत् भयंकर लग रहे हैं—इन्हें देखने की इच्छा नहीं होती। यत्र-तत्र सर्वत्र प्रत्येक वृक्ष पर सैकड़ों

कामदेव असहनीय धनुष लिए घूम रहे हैं (उन्हें जहाँ अवसर मिलता है अपने बाणों से हमें बिद्ध कर देते हैं) तात्पर्य यह है कि बसन्तागमन के समय जब पुष्पित वृक्षों को देखती हैं तो प्रबल कामोद्दीपन होने लगता है। हे उद्धव, तुम तो बड़े ही कोमल स्वभाव के सन्त हो और सभी बातों को जानते हो (चतुर भी हो) सूर के शब्दों में गोपियों का कथन है कि हे उद्धव, अब तुम्हीं बताओ कि इन बाधाओं को दूर किए बिना श्रीकृष्ण को अभी यहाँ कैसे बुलाएँ ? आशय यह है कि हमारी भाँति यहाँ आने पर उन्हें भी कष्ट होगा।

टिप्पणी—

(1) प्रकृति का इस पद में उद्दीपन विभाव से वर्णन किया गया है।
(2) तीसरी, छठीं और सातवीं पंक्ति में उपमा अलंकार है।
(3) श्रीकृष्ण के प्रति गोपियों की संवेदनशीलता का यह एक मर्मस्पर्शी चित्र है।
(4) गोपियों की विषम परिस्थिति में बसन्तागमन के एक रूप की इसमें झलक मिलती है।

राग मलार

जो पै ऊधो ! हिरदय माँझ हरी।
तौ पै इती अवज्ञा उनपै कैसे सही परी ?
तबहि दवा द्रुम दहन न पाये, अब क्यों देह जरी ?
सुंदरस्याम निकसि उर तें हम सीतल क्यों न करी ?
इंद्र रिसाय बरस नयनन मग, घटत न एक घरी।
भीजत सीत भीत तन काँपत रहे, गिरि क्यों न धरी॥
कर कंकन दर्पन लै दोऊ अब यहि अनख मरी।
एतो मान सूर सुनि योग जु बिरहिनि बिरह धरी॥ 177 ॥

शब्दार्थ—जो पै = यदि। हिरदय मांझ = हृदय में। तौ पै = तो। अवज्ञा = अनादर। दवा = वन की आग। दहन न पाये = जलने नहीं पाये। भीत = भय। बरस = वर्षा करता है। कर कंकन दर्पन लै दोऊ = हाथ में कड़ा और दर्पण दोनों को लेकर (कड़ा शरीर की दुर्बलता के कारण ढीला पड़ गया है और दर्पण में मुख पीला दिखाई पड़ता है कांतिहीन मुख हो गया है)। अनख = कुढ़न, जलन। एतोमान = इतना अधिक कष्ट सहने पर भी। द्रुम = वृक्ष। धरी = धारण करती हैं।

सन्दर्भ—उद्धव का यह कथन कि श्रीकृष्ण ब्रह्म रूप में सबके घट में व्याप्त हैं, गोपियों को मान्य नहीं है। वे प्रश्न करती हैं कि यदि ब्रह्म रूप श्रीकृष्ण हृदय में हैं तो हम लोगों के ऐसे संकट के समय में वे प्रकट क्यों नहीं होते ?

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, यदि तुम्हारे कथनानुसार ब्रह्मरूप श्रीकृष्ण हृदय में ही हैं तो हम सबों के ऐसे संकट को देखकर भी वे क्यों नहीं प्रकट होते ? उनसे हम लोगों की ऐसी उपेक्षा कैसे करते बना ? पहले (जब वे ब्रज में थे) तो उन्होंने दावाग्नि लगने पर एक भी वृक्ष को जलने नहीं दिया—सब की रक्षा की और आज जब हम सब वियोगाग्नि में जल रही हैं तो वे कहाँ हैं—हमें क्यों नहीं बचाते ? अब यह शरीर उन्होंने क्यों

जलने दिया और श्यामसुंदर ने हृदय से निकलकर क्यों नहीं इस जलते शरीर को शीतल किया ? तात्पर्य यह है कि तुम जिस कृष्ण को ब्रह्म के रूप में घट-घटवासी कहते हो उसमें हमारा विश्वास नहीं है—हमारे कृष्ण तो मथुरा में हैं और हमें वियोगिनी के रूप में छोड़ कर चले गए। यदि कृष्ण यहाँ होते तो इस समय जो इन्द्र नाराज होकर नेत्रों के मार्ग से जल-वृष्टि कर रहा है और जो जल एक घड़ी के लिए भी बन्द नहीं होता (इतना अश्रु प्रवाह नेत्रों से हो रहा है कि यह यत्न करने पर भी नहीं रुकता) उसे देखकर वे चुप कैसे बैठते। क्योंकि एक समय इन्द्र के नाराज होने पर उन्होंने गोवर्धन पर्वत उठा कर हमारी रक्षा की थी। और इस अखण्ड अश्रु-प्रवाह से भीगकर शीतलता के भय से काँपती हुई हम सब की दशा को देखकर गोवर्धन पर्वत क्यों नहीं धारण करते ? हे उद्धव, हाथों में कंकण और दर्पण लेकर हम सब अब कुढ़न से मरी जा रही हैं अर्थात् जब वियोग में शरीर की कृशता से ढीले कंकण को और हाथ में दर्पण लेकर मुख के पीलेपन की ओर देखती हैं तो बड़ी कुढ़न पैदा होती है। सूर के शब्दों में गोपियाँ कह रही हैं कि वियोग का इतना अधिक कष्ट सहने पर भी हमारे लिए अब योग से बढ़कर वियोग ही है, व्यंजना यह है कि अब हम सब योग से भी अधिक कष्ट जब वियोग में सह रही हैं तो योग-साधना की क्या आवश्यकता ? हमारे लिए योग से बढ़कर यह वियोग ही है।

टिप्पणी—

(1) पाँचवीं पंक्ति में प्रत्यनीक, 'कर कंकन दर्पण लै दोऊ' में सूक्ष्म और 'नयनन मग' में रूपक अलंकार है।

(2) योग की तुलना में वियोग-जनित कष्ट की महत्ता का प्रतिपादन हुआ है। वियोग का महत्व पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तों में भी उल्लिखित है।

(3) वियोग में शरीर की कृशता का काव्य-रूढ़ियों जैसा वर्णन हुआ है।

राग मलार

ऊधो ! इतै हितूकर रहियो।
या ब्रज के ब्योहार जिते हैं सब हरि सों कहियो॥
देखि जात अपनी इन आँखिन दावानल दहियो।
कहँ लौं कहौं बिथा अति लाजति यह मन को सहियो॥
कितौ प्रहार करत मकरध्वज हृदय फारि चहियो।
यह तन नहिं जरि जात सूर प्रभु नयनन को बहियो॥ 178 ॥

शब्दार्थ—इतै = इधर। हितूकर = हितकारी, कृपालु। दहियो = जलना। बिथा अतिलाजति = व्यथा अत्यंत लज्जित हो जाती है। यह मन को सहियो = इस मन की सहनशीलता पर। चहियो = देखा जा सकता है। कितौ = कितना अधिक। मकरध्वज = कामदेव। बहियो = बहने से (अश्रु प्रवाह के कारण)।

सन्दर्भ—गोपियाँ इस पद में उद्धव से निवेदन कर रही हैं कि इस समय ब्रजवासियों की जो दशा है, उसे सत्य-सत्य श्रीकृष्ण से कह देना।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, तुम श्रीकृष्ण के पास जा रहे हो, लेकिन, इधर भी अपनी कृपा-दृष्टि बनाए रखना अर्थात् कृपालु होकर इस ब्रज मण्डल की समस्त

बातों का निवेदन श्रीकृष्ण से सत्य-सत्य कर देना। तुम अपनी आँखों से देखे ही जा रहे हो कि हम सब किस प्रकार वियोग की दावाग्नि में जल रही हैं, अतः तुमसे बढ़कर यहाँ की यथार्थता का वर्णन अन्य कौन कर सकता है ? हे उद्धव, हम अपने इस मन की सहनशीलता का वर्णन तुमसे क्या करें (इसमें इतनी व्यथा और पीड़ा रहती है कि उसे वह निरन्तर सहन करता रहता है) इस सहनशीलता को देखकर स्वयं व्यथा भी लज्जित हो जाती है (मन की पीड़ा से व्यथा भी लजा जाती है)। कह देना कि जब से तुम यहाँ से गए हो कामदेव इतना प्रहार करता है कि उसे हृदय फाड़ कर ही दिखाया जा सकता है (क्योंकि काम-पीड़ा को हमारा हृदय ही जानता है, अन्य नहीं)। सूर के शब्दों में गोपियाँ कह रही हैं कि यह शरीर वियोग की ज्वाला में भस्म हो जाता, लेकिन अश्रु प्रवाह के कारण यह निरन्तर शीतल होता रहता है, इससे यह नष्ट होने से बच जाता है।

टिप्पणी—

(1) चौथी पंक्ति में अतिशयोक्ति अलंकार है।
(2) इसमें वियोग की मार्मिक दशा का वर्णन हुआ है।
(3) अंतिम पंक्ति में काव्य लिंग अलंकार है।
(4) अश्रु और विषाद संचारी भाव भी हैं।

राग मलार

ऊधो ! यहि ब्रज बिरह बढ़्यो।
घर, बाहर, सरिता, बन, उपवन, बल्ली द्रुमन चढ़्यो॥
बासर-रैन सधूम भयानक दिसि दिसि तिमिर मढ़्यो।
द्वंद करत अति प्रबल होत पुर, पय सों अनल डढ़्यो।
जरि किन होत भस्म छन महियाँ हा हरि, मंत्र पढ़्यो।
सूरदास प्रभु नँदनंदन बिनु नाहिन जात कढ़्यो॥ 179 ॥

शब्दार्थ—बल्ली = लता। द्रुमन = वृक्षों पर। बासर-रैन = दिन-रात। सधूम = धुएँ से युक्त। तिमिर मढ़्यो = अंधकार छा गया। द्वंद करत = उत्पात करता। पुर = गाँव। पय = पानी। पय सों अनल डढ़्यो = पानी से आग और बढ़ जाती है। जरिं किन होत भस्म = जल कर भस्म क्यों नहीं होता ? छन महियाँ = क्षण में। हा हरि मंत्र पढ़्यो = हा हरि हा हरि जो गोपियाँ कहती है उसी मंत्र के पढ़ने के कारण जल कर भस्म नहीं होतीं। नाहिंन जात कढ़्यो = वियोग की आग से निकलते नहीं बनता।

सन्दर्भ—इस पद में गोपियों के वियोग का अतिरंजनापूर्ण वर्णन हुआ है। गोपियों के वियोग की यह आग उनके शरीर तक ही सीमित नहीं है, बल्कि वह प्रकृति की प्रत्येक वस्तु में व्याप्त हो गयी है।

व्याख्या—(उद्धव से गोपियाँ अपने वियोगानल की व्यापकता का उल्लेख कर रही हैं) हे उद्धव, इस ब्रजमण्डल में वियोग की ज्वाला बढ़ गयी है और वह इतनी अधिक बढ़ गयी है कि केवल हम लोगों के शरीर को ही दग्ध नहीं कर रही है, बल्कि वियोग की इस ज्वाला से समस्त प्रकृति प्रभावित है। यह वियोगाग्नि घर, बाहर, नदी, वन, उपवन, लता और वृक्षों में चढ़ गयी है

(सभी इस ज्वाला से जल रहे हैं)। यह ज्वाला धूम्र से युक्त है—इस आग से इतने धुएँ निकल रहे हैं कि प्रत्येक दिशा में भयानक अंधकार छा गया—कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता। यह विरहानल गाँव-गाँव में अतिप्रबल होकर उत्पात मचा रहा है और पानी पड़ने से (अश्रु-प्रवाह से) और बढ़ जाता है। हे उद्धव, हम सब इसमें इसलिए भस्म होने से बच जाती हैं कि निरन्तर 'हा हरि, हा हरि' रूपी मंत्र पढ़ा करती हैं अर्थात् हम सबों का व्यथित मन से 'हा हरि, हा हरि' शब्दों का उच्चारण ही मंत्र समान है जिससे हम सब वियोगानल से अपने प्राणों की रक्षा करती हैं। सूरदास के शब्दों में गोपियों का कथन है कि हे उद्धव, वियोग की यह आग चतुर्दिक लग गयी है, अतः नंदनंदन के बिना उससे निकलने का कोई उपाय नहीं सूझता। आशय यह है कि जब तक श्रीकृष्ण का दर्शन न होगा, यह वियोगाग्नि शान्त होने वाली नहीं है।

टिप्पणी—

(1) इसमें वियोगानल का अतिशयतापूर्ण कथन किया गया है, इस कारण इसमें अतिशयोक्ति अलंकार है।

(2) वियोग का मानवीकरण भी है।

(3) 'पय सों अनल उढ़्यो' में विरोध अलंकार है।

(4) वियोग में आग के आरोप के कारण रूपक अलंकार है।

(5) पाँचवीं पंक्ति में काव्यलिंग अलंकार है 'दिसि-दिसि' में पुनरुक्ति प्रकाश अलंकार है।

(6) जायसी आदि, प्राचीन कवियों ने भी विरह की व्यापकता का वर्णन किया है—
'लागिउँ जरै जरै जस बारू'।

(7) उर्दू कवियों ने भी इस आग का वर्णन किया है। जौक ने एक स्थल पर कहा है—
मैं आप बुझ गया, मगर इस दिल की आग को,
सीने से हमने जौक न पाया बुझा हुआ।

राग धनाश्री

ऊधो ! तुम कहियो ऐसे गोकुल आवैं।
दिन दस रहे सो भली कीनी अब जनि गहरु लगावैं॥
तुम बिनु कछु न सुहाय प्रानपति कानन भवन न भावैं।
बाल बिलख, मुख गो न चरत तृन, बछरनि छीर न प्यावैं॥
देखत अपनी आँखिन, ऊधो, हम कहि कहा जनावैं।
सूर स्याम बिनु तपति रैन-दिनु हरिहि मिले सचुपावैं॥ 180 ॥

शब्दार्थ—कहियो ऐसे = इस ढंग से कहना। गहरु लगावैं = देरी न करें। बाल बिलखि = बालक रोते रहते हैं। गौ न चरत तृन = गाएँ घास नहीं खातीं। छीर न प्यावैं = दूध नहीं पिलातीं। सचुपावैं = सुख प्राप्त कर सकती हैं।

सन्दर्भ—गोपियाँ उद्धव से निवेदन करते हुए कहती हैं कि तुम श्रीकृष्ण को यहाँ की मार्मिक दशा का वर्णन इस ढंग से करना कि वे इससे प्रभावित होकर गोकुल लौट आवें।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, तुम ब्रजमण्डल की दशा का उल्लेख

इस ढंग से करना जिससे श्रीकृष्ण तुम्हारे कथन से प्रभावित होकर गोकुल लौट आवें। उनसे कह देना कि थोड़े दिन वे मथुरा में बस गए यह अच्छा ही हुआ, लेकिन अब यहाँ आने में देरी न करें। हे प्राणपति तुम्हारे बिना हमें कुछ भी अच्छा नहीं लगता—अब न तो हमें घर भाता है न बन। कहीं भी रहने पर तुम्हारी चिन्ता हमें लगी रहती है। तुम्हारे बिना ब्रज के सभी बच्चे सदा रोते रहते हैं और गाएँ तो इतनी दुखी रहती हैं कि मुख से घास भी नहीं चरतीं (खाना-पीना छोड़ बैठी हैं) और अपने बछड़े को दूध भी नहीं पिलातीं। तुम तो यहाँ की दशा अपनी आँखों से देख ही रहे हो, उसे कह कर तुमसे क्या बताएँ ! सूर के शब्दों में गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि हे उद्धव, श्याम के बिना हम सब रात-दिन वियोग की ज्वाला में जलती रहती हैं और हम लोगों को शान्ति नहीं मिलती। हम सबों को सुख और शान्ति श्रीकृष्ण के दर्शन से ही मिल सकती है।

टिप्पणी—

(1) तीसरी पंक्ति में गोपियों के दैन्य भाव की प्रधानता है।

(2) चौथी पंक्ति में विषाद संचारी भाव है। श्रीकृष्ण के वियोग में पशु भी दुखी हैं। आज श्रीकृष्ण के वियोग में गायों ने चरना छोड़ दिया और बछड़ों को दूध भी नहीं पिलातीं।

(3) अंतिम पंक्ति में गोपियों की श्रीकृष्ण के प्रति दर्शनाभिलाषा सहज रूप में व्यक्त हुई है।

राग धनाश्री

ऊधो ! अब जो कान्ह न ऐहैं।
जिय जानौ अरु हृदय बिचारौ हम न इते दुख सैहैं॥
बूझौ जाय कौन के ढोटा, का उत्तर तब दैहैं ?
खायो, खेल्यो संग हमारे, ताको कहा बनैहैं॥
गोकुलमनि मथुरा के बासी कौ लों झूठो कैहैं।
अब हम लिखि पठवन चाहति हैं वहाँ पाँति नहिं पैहैं॥
इन गैयन चरिबो छाँड़्यौ है जो नहिं लाल चरैहैं।
एते पै नहिं मिलत सूर प्रभु फिरि पाछे पछितैहैं॥ 181 ॥

शब्दार्थ—बूझौ जाय = जाकर पूछो। कौन के ढोटा = किसके पुत्र हैं ? का = क्या। ताको कहा बनैहैं = क्या बात गढ़ लेंगे। कौलों = कब तक। पाँति नहिं पैहैं = अपनी पंगति में बैठने नहीं पाएँगे, जाति से बहिष्कृत हो जाएँगे।

सन्दर्भ—कृष्ण-दर्शन से वंचित गोपियाँ अब वियोग का कष्ट अधिक नहीं सह सकतीं अतः असमर्थ होकर उन्हें कहना पड़ा कि इतने कष्ट पर भी यदि वे दर्शन नहीं देते तो उन्हें अन्ततः पछताना पड़ेगा, क्योंकि मथुरा में उनकी कलई खोल देने पर वे जाति बहिष्कृत हो जाएँगे और यहाँ आने पर हमें न पाएँगे—ये दोनों ओर से चले जाएँगे।

व्याख्या—(श्रीकृष्ण के प्रति उद्धव के माध्यम से गोपियाँ अपना संदेश दे रही हैं) हे उद्धव, इतनी प्रतीक्षा के पश्चात् यदि अब कृष्ण नहीं आते तो इसे अपने मन में समझ लो और हृदय

में विचार कर लो, हम सब उनके बिना इतना दुख सहने को तैयार नहीं हैं (श्रीकृष्ण के वियोग की जितनी पीड़ा हम सबों ने बर्दाश्त की है, शायद ही कोई बर्दाश्त कर सके—इस पीड़ा की हद हो गयी) यदि तुम जाकर उनसे पूछो कि वे किसके पुत्र हैं तो वे इसका क्या उत्तर देंगे (उनके पास इसका कोई उत्तर नहीं है)। वे बचपन से तो हमारे साथ ही खेलते खाते रहे—अन्यत्र तो कहीं गए नहीं—इसके सम्बन्ध में वे क्या बात गढ़ लेंगे। इसको वे कहाँ तक छिपाएँगे—क्योंकि इस बात को तो सारी दुनिया जानती है। वे कब तक गोकुल के शिरोमणि होकर अपने को झूठे रूप में मथुरावासी सिद्ध करते फिरेंगे। वस्तुतः वे तो गोकुल के ही हैं, यहीं उनका बचपन बीता, अब थोड़े दिनों से वे मथुरा में रहने लगे—तो क्या वे मथुरावासी हो जाएँगे ? (गोपियाँ श्रीकृष्ण के मथुरावासी रूप को नहीं स्वीकार करतीं। उनके लिए तो गोकुलवासी श्रीकृष्ण ही पूज्य हैं) अभी तक तो हम सब श्रीकृष्ण के साथ संकोच करती रहीं, अब सभी शील-संकोच को त्याग कर मथुरावासियों के पास एक पत्र भेजकर इनकी सब कलई खोल देना चाहती हैं—इनकी वास्तविकता का ज्ञान होने पर ये अपनी जाति से बहिष्कृत हो जाएँगे और अपनी जाति वालों की पंगति में बैठने नहीं पाएँगे। यह भी कह देना कि जब से तुम गए हो, तुम्हारी इन गायों ने चरना छोड़ दिया है और आकर इन्हें पहले की भाँति नहीं चराओगे तो निश्चय ही ये मर जाएँगी। ब्रज की इन दशाओं का भान होने पर भी यदि तुम्हारा दर्शन नहीं होता तो इसके लिए तुम्हें पछताना पड़ेगा (वहाँ तुम जाति बहिष्कृत हो जाओगे और यहाँ पर हम सबों को नहीं पाओगे तो निश्चय ही तुम्हें कष्ट होगा और तुम पश्चाताप करोगे)।

टिप्पणी—

(1) पूरे पद में व्याजस्तुति अलंकार है। गोपियों ने श्रीकृष्ण की निन्दा के बहाने उनकी प्रशंसा की है और परोक्षतः उनके प्रति अपना रागात्मक संबंध प्रकट किया है।

(2) 'वहाँ पाँति नहिं पैहैं' में जातीय मान्यताओं का संकेत है। आज भी जातीय मर्यादा के विरुद्ध कार्य करने पर जाति से बहिष्कृत कर दिया जाता है। ब्राह्मणेत्तर जातियों में हुक्का पानी भी बन्द कर देने की प्रथा है। इसमें तत्कालीन समाज की जाति प्रथा का आभास मिलता है।

(3) इस पद में प्रयुक्त शब्दावली व्यंजनावलित है।

(4) 'फिरि पाछे पछितैहैं' में गोपियों ने अपनी मृत्यु का संकेत किया है।

राग धनाश्री

ऊधो ! हमैं दोऊ कठिन परी।
जो जीवैं, तौ सुन सठ ! ज्ञानी, तन तजैं रूपहरी॥
गुन गावैं तौ, सुक सनकादिक, संग धावैं तो लीला करी।
आसा अवधि संतोष धरैं तो धार्मिक ब्रज-सुंदरी॥
स्यामा हैं सब सखी सुजाती पै सब बिरह-भरी।
सोक-सिंधु तरिबे की नौका जिहि मुख मुरलि धरी॥
निसिदिन फिरत निरंकुस अति बड़ मानो मदनकरी।
डाहैगो सब धाम सूर जो चितौ न वह केहरी॥ 182॥

शब्दार्थ—कठिन परी = मुश्किल हो गया। रूपहरी = श्रीकृष्ण के सौन्दर्य से वंचित होना पड़ता है। सुक = शुकदेव मुनि। सनकादिक = सनक सनन्दन आदि ऋषि। लीलाकरी = लीला करने वाली (त्रिया चरित्र करने वाली)। स्यामा = (सं० श्यामा) पोडश वर्षीया, युवती। सुजाती = कुलीन, अच्छी जाति की। पै = किन्तु। धरी = धारण की, बजाया। अति बड़ = बहुत बड़ा, विशाल। मदनकरी = कामदेव रूपी हाथी। जिहि = जिस। डाहैगो = जलाएगा, दुख देगा। चितौ न = विचार नहीं करते। केहरी = सिंह (श्रीकृष्ण के लिए प्रयुक्त है)।

प्रसंग—इस पद में गोपियाँ अपने अन्तर्द्वंद्व के उस रूप को व्यक्त कर रहीं हैं जिसमें उनके लिए मरना और जीना दोनों ही मुश्किल हो रहा है (न तो उनसे मरते बनता है और न जीते)।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, कृष्ण के बिना हमारे लिए जीना और मरना दोनों ही मुश्किल हो गया है। यदि जीती हैं तो रे शठ ! हमारी गणना ज्ञानियों में की जाएगी (ज्ञानियों में इसलिए की जाएगी कि जो सच्चे भावुक और प्रेमी होते हैं वे अपने प्रिय के वियोग में जीते नहीं, मर जाते हैं, यथा दशरथ जी राम के वियोग में जीवित नहीं रहे। अत: श्रीकृष्ण के वियोग में ज्ञानियों की भाँति जीवित रहना हमें वांछनीय नहीं है और यदि अपने शरीर को बिना श्रीकृष्ण के रूप-दर्शन के त्याग देती हैं तो भी अच्छा नहीं है (हम श्रीकृष्ण के सौन्दर्य से वंचित नहीं होना चाहतीं और मरने पर निश्चय ही यह लाभ नहीं मिलेगा। इस कारण मरना भी हमारे लिए अच्छा नहीं है। यदि हम उनका गुणानुवाद करती हैं तो लोग हमें शुकदेव और सनकादिक ऋषियों की भाँति वीतराग समझेंगे जो हमें वांछनीय नहीं हैं, क्योंकि हम सब वीतराग न होकर श्रीकृष्ण की अनन्य अनुरागिनी हैं—उनके सौन्दर्य की उपासिका हैं। और यदि हम उनके पीछे-पीछे दौड़ें और जहाँ जायँ वहाँ पहुँच जायँ तो लोग हमें यही कहेंगे कि हम लीला कर रही हैं (दुनिया को दिखाने के लिए यह स्वांग कर रही हैं) और यदि उनकी अवधि की आशा (आने की आशा) में संतोष करके बैठ जायँ तो लोग यही कहेंगे कि ये ब्रज की सुंदरियाँ धार्मिक प्रकृति की हैं और ये दिखाने के लिए धर्म का मात्र पालन कर रही हैं—इनमें श्रीकृष्ण के प्रति सच्चा अनुराग नहीं है। इस रूप में जगत हमारी खिल्ली उड़ाएगा जो हमें प्रिय नहीं। अब हम अपने को किस कोटि में रखें, क्योंकि हमारी रीतियाँ सबसे भिन्न हैं। वास्तविकता यह है कि हम सब नव-युवतियाँ उच्चकुलीन हैं (एक प्रतिष्ठित परिवार में हमारा जन्म हुआ है) और श्रीकृष्ण के वियोग से पीड़ित हैं अर्थात् सभी सखियाँ वियोगिनी की भाँति अपना जीवन बिता रही हैं। इस वियोग के शोक-सागर से पार होने के लिए हमारे लिए मात्र एक नाव श्रीकृष्ण का वह मुखमण्डल है जिस पर उन्होंने मुरली धारण की (अर्थात् जिस चन्द्रमुख से उन्होंने बंशी की सुधोपम ध्वनियाँ प्रसारित कीं हम सब उसी मुख का दर्शन करने के लिए लालायित हैं। उन्हीं के चन्द्रमुख का अवलोकन करने से ही हम लोगों का वियोग-जनित अपार दुख दूर हो सकता है। हे उद्धव, श्रीकृष्ण के बिना इन दिनों ब्रजमण्डल में अत्यंत विशाल मस्त और निरंकुश कामदेव रूपी हाथी घूम रहा है, वह समस्त घरों को नष्ट कर देगा यदि वह सिंह (श्रीकृष्ण रूपी सिंह) इधर दृष्टिपात नहीं करता (आशय यह है कि श्रीकृष्ण के बिना काम पीड़ा से गोपियाँ दिवारात्रि पीड़ित रहा करती हैं और यह काम-पीड़ा तभी दूर हो सकती है जब उन्हें श्रीकृष्ण का दर्शन होगा)।

टिप्पणी—

(1) कामदेव रूपी मस्त हाथी के लिए श्रीकृष्ण का हरि के रूप में प्रयोग साभिप्राय है अतः यहाँ परिकरांकुर अलंकार और मदनकरी में रूपक है।

(2) शुकदेव और सनकादिक ऋषि वीतराग और संन्यासी माने गये हैं।
(3) 'मदनकरी' में शुद्धासारोपा लक्षणा भी है।
(4) 'सोक-सिंधु तरिबे को नौका' में परम्परित रूपक है।
(5) 'स्यामा' षोडश वर्षीया सुंदरी के लिए कहा जाता है।

राग धनाश्री

ऊधो ! बहुतै दिन गए चरनकमल-बिमुख ही।
दरस-हीन, दुखित दीन, छन-छन बिपदा सही।
रजनी अति प्रेमपीर, गृह बन मन धरै न धीर !
बासर मग जोवत, उर सरिता बही नयननीर॥
आवन की अवधि आस सोई गनि घटत स्वास।
इतो बिरह बिरहिनि क्यों सहि सकै कह सूरदास ?॥ 183 ॥

शब्दार्थ—विमुख = पृथक्, रहित। दरसहीन = बिना दर्शन के। बासर = दिन में। गनि = गिनते हुए। घटत स्वास = श्वासों का आना-जाना कम हो गया है—मरणासन्न हैं।

सन्दर्भ—श्रीकृष्ण के कमलवत् चरणों से विमुख गोपियाँ अपने शेष जीवन की घड़ियाँ गिन रही हैं—श्वासों का आना-जाना कम हो रहा है—अब मरणासन्न स्थिति हो गयी है। निराशा के ऐसे क्षणों को गोपियाँ कैसे बर्दाश्त कर सकती हैं।

व्याख्या—(उद्धव के प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, श्रीकृष्ण के कमलवत् चरणों से विमुख हुए बहुत समय बीत गया—अब बिना उन चरणों के दर्शन किए रहा नहीं जाता। हम सब अभी तक बिना उन चरणों के दर्शन के दुखित और दीन होकर क्षण-क्षण विपदा सहती रहीं (अब यह दुख नहीं सहा जाता)। रात को हमारी दशा यह होती है कि श्रीकृष्ण की प्रेम-पीड़ा से व्यथित रहती हैं और घर-बन जहाँ कहीं शान्ति के लिए जाती हैं, हमारा मन व्याकुल ही रहता है वह धैर्य नहीं रख पाता (मानस में निरन्तर अशान्ति बनी रहती है) दिन में उनका मार्ग देखते-देखते (उनकी प्रतीक्षा करते-करते) थक जाती हैं और अन्त में निराश होने पर नेत्रों से आँसुओं की नदी छाती पर प्रवाहित होने लगती है। निराशा में हम सब का मन इतना उद्विग्न हो जाता है कि नेत्रों से आँसुओं की झड़ी लग जाती है और समस्त वक्षस्थल भीग जाता है। उनके आने की अवधि की आशा में लगी दिन और घड़ियाँ गिनते-गिनते श्वासों का आना-जाना कम हो गया है—श्वासें मंद हो गयी हैं (निराशा की इस घड़ी में जीवन की अवधि बहुत कम रह गयी है) सूरदास के शब्दों में विरहिणियों की पीड़ा और वेदना की अब पराकाष्ठा हो चुकी है। अब अधिक विरह की पीड़ा वे कैसे सह सकती हैं। इतना अधिक विरह के कष्टों को सहना उनके लिए संभव नहीं है।

टिप्पणी—

(1) 'सरिता नयनन नीर बही' में रूपक अलंकार है।
(2) अवधि के दिनों को विरहिणियाँ बड़ी आशा से गिनती हैं—इसका उल्लेख प्राचीन कवियों ने भी किया है। यथा, ठाकुर की इस पंक्ति में इसका संकेत मिलता है—
दिन औधि के कैसे गिनौं सजनी अंगुरीन के पोरन छाले परे।

(3) चौथी पंक्ति में अश्रुसंचारी भाव है।
(4) इसमें श्रीकृष्ण के कमलवत् चरणों के प्रति गोपियों के अनन्य अनुराग भाव की अभिव्यक्ति हुई है।
(5) प्रथम पंक्ति में स्मृति संचारी भाव है।

राग आसावरी

ऊधो ! कहत न कछू बनै।
अधरामृत-आस्वादिनि रसना कैसे जोग भनै ?
जेहि लोचन अवलोके नखसिख सुंदर नंदतनै।
ते लोचन क्यों जायँ और पथ लै पठए अपनै ?
रागिनि राग तरंग तान घन जे स्रुति मुरलि सुनै।
ते स्रुति जोग-सँदेस कठिन कह काँकर मेलि हनै॥
सूरदास स्यामा मोहन के यह गुन बिबिध गुनै।
कनकलता तें उपज न मुक्ता षटपद ! रंग चुनै॥ 184 ॥

शब्दार्थ—अधरामृत- आस्वादिनि = श्रीकृष्ण के ओष्ठों के अमृत का स्वाद लेने वाली। रसना = जिह्वा। भनै = कहे। घन = अत्यधिक। कह = कहकर। काँकर मेलि हनै = कंकड़ी डालकर चोट पहुँचाते हो। गुनै = स्मरण किया करती हैं। स्यामा = षोडशी गोपियाँ। कनकलता = स्वर्ण-लता (गोपियों के शरीर से अभिप्राय है)। मुक्ता = मोती। रंग चुनै = चुने हुए रंगों वाले। लै पठए अपनै = स्वयं उन्हें पकड़ कर भेजने पर (बलात् अन्यत्र भेजने पर)।

सन्दर्भ—श्रीकृष्ण की जिस रूप-माधुरी पर गोपियाँ मुग्ध हो चुकी हैं अब वे उद्धव के कहने से निर्गुण ब्रह्म की उपासना कैसे स्वीकार कर सकती हैं ? अपनी इस विवशता का निवेदन गोपियाँ उद्धव से कर रही हैं—

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, अपनी विवशता की बात आपसे कहते नहीं बनती (आपके निर्गुण ब्रह्म की उपासना हम कैसे स्वीकार करें, क्योंकि हमारी जिन इन्द्रियों ने श्रीकृष्ण की रूप-माधुरी को ग्रहण किया है, उसे कैसे भुला सकती हैं ?) भला, आप ही बताएँ कि हमारी जिस जिह्वा ने श्रीकृष्ण के ओष्ठों के मधुरामृत का रसास्वादन कर लिया वह तुम्हारे कहने से योग की रट (जप) कैसे लगा सकती है—वह योग कहना बिल्कुल पसंद नहीं करेगी। हमारे जिन नेत्रों ने श्रीकृष्ण के सर्वांगों (नख-शिख) के सौन्दर्य को देखा (उस सौन्दर्य का आनन्द प्राप्त किया)। उन नेत्रों को वे स्वयं अन्य मार्ग (तुम्हारे निर्गुण मार्ग) की ओर भेजें तो ये नेत्र वहाँ कैसे जा सकते हैं ? और हमारे जिन कानों ने श्रीकृष्ण की वंशी द्वारा अनेक प्रकार की राग-रागिनियों और तान-तरंगों का आनन्द लिया, उन कानों को तुम अपने योग का संदेशा कह कर (सुनाकर) कंकड़ी डालने के समान क्यों चोट पहुँचा रहे हो (कहने का आशय यह है कि श्रीकृष्ण की वंशी की मधुर ध्वनि से आपूरित कानों में तुम योगरूपी कंकड़ी डालकर इन्हें कष्ट दे रहे हो)। सूरदास के शब्दों में गोपियों का कथन है कि ब्रज की नवयुवतियाँ श्रीकृष्ण के विविध गुणों को प्रायः स्मरण करती रहती हैं और हे भ्रमर (छह पैरों वाला पशु), यदि कोई स्वर्णलता में अनेक रंग के मोतियों को पैदा करना चाहे तो क्या संभव है। तात्पर्य यह है कि जैसे स्वर्णलता का होना असंभव है और उसमें मोतियों को उत्पन्न करना और कठिन है, उसी

प्रकार सगुणोपासिका गोपियों के लिए भी निर्गुणोपासना अत्यंत कठिन है।

टिप्पणी—

(1) अन्तिम पंक्ति में अन्योक्ति अलंकार है।

(2) 'लै पठए अपनै' को प्रायः सभी टीकाकारों ने छोड़ दिया और किसी ने इसके शाब्दिक अर्थ और व्यंजना पर ध्यान नहीं दिया। मेरे विचार से इसका स्पष्ट अर्थ होगा—जिनकी रूप-माधुरी पर नेत्र मुग्ध रहे यदि स्वयं श्रीकृष्ण इन्हें अन्य मार्ग (निर्गुण मार्ग) की ओर भेजना चाहें भी तो ये वहाँ नहीं जा सकते।

राग मारू

ऊधो ! इन नयनन नेम लियो।
नँदनंदन सों पतिब्रत बाँध्यो, दरसत नाहिं बियो॥
इंदु चकोर, मेघ प्रति चातक, जैसे धरन दियो।
तैसे ये लोचन गोपालै इकटक प्रेम पियो॥
ज्ञानकुसुम लै आए ऊधो ! चपल न उचित कियो।
हरिमुख-कमल अमियरस सूरज चाहत वहै लियो॥ 185 ॥

शब्दार्थ—नेम = संकल्प, व्रत। बियो = दूसरा। दरसत = दिखाई पड़ता है। इंदु = चंद्रमा। धरन दियो = टेक या हठ पकड़ रखा है। ज्ञान-कुसुम = ज्ञानरूपी पुष्प। चपल = चंचल वृत्ति वाले उद्धव।

सन्दर्भ—इस पद में गोपियों ने श्रीकृष्ण के प्रति एकनिष्ठ भाव से जुड़े अपने नेत्रों के सम्बन्ध में बताया है। इन नेत्रों ने श्रीकृष्ण के प्रति आत्मसमर्पण की वृत्ति उसी प्रकार अपनायी है, जैसे पतिव्रता स्त्री अपने पति के लिए सब प्रकार से समर्पित रहती है।

व्याख्या—(गोपियाँ उद्धव को अपने नेत्रों के सम्बन्ध में बता रही हैं) हे उद्धव, हमारे इन नेत्रों ने श्रीकृष्णानुराग के लिए संकल्प ले लिया है—कृष्ण को छोड़कर ये किसी अन्य से प्रेम करना ही नहीं चाहते। इन्होंने श्रीकृष्ण को पति के रूप में वरण कर लिया और उनके प्रति पातिव्रत धर्म का पालन कर रहे हैं। इन्हें उन्हें छोड़ कर दूसरा कोई दिखाई ही नहीं पड़ता (जैसे पतिव्रता स्त्रियाँ अपने प्रति के अतिरिक्त किसी दूसरे की ओर दृष्टि नहीं डालतीं—उसी प्रकार हमारे नेत्र श्रीकृष्ण की रूप-माधुरी को छोड़कर अन्यत्र नहीं जाते)। जैसे चन्द्रमा के प्रति चकोर पक्षी और बादल के प्रति चातक दोनों ही एकनिष्ठ प्रेम का संकल्प ले लेते हैं और उनका प्रेम अन्य के प्रति नहीं होता उसी प्रकार श्रीकृष्ण के प्रेम रस को हमारे ये नेत्र टकटकी बाँधकर (निर्निमेष) पीते रहते हैं—इनका प्रेम दूसरों के प्रति नहीं है। आशय यह है कि जैसे चकोर बड़ी निष्ठा के साथ चन्द्र-किरण॥ का रस-पान करते हैं और चातक मेघ के प्रति स्वाती-बूँदों की प्राप्ति की आशा में अपन नेत्र गड़ाए हुए सच्चे प्रेम का निर्वाह करता है, उसी प्रकार हमारे नेत्र भी श्रीकृष्ण के प्रति अपने सच्चे प्रेम का निर्वाह कर रहे हैं। हे चंचल स्वभाव वाले उद्धव, तुम हमारे लिए अपना ज्ञान रूपी पुष्प लेकर आए हो, लेकिन यह तुमने उचित और अच्छा कार्य नहीं किया, क्योंकि हमारे नेत्र तो श्रीकृष्ण के कमलवत् मुख के अमृत तुल्य मकरन्द का आनन्द एक भ्रमर की भाँति लेना चाहते हैं। उन्हें तुम्हारे ज्ञान पुष्प में कहाँ रस मिल सकता है। तुम यदि उस

कमलवत् मुख का रस इन्हें दे सको तो ये उसे सहर्ष ग्रहण करेंगे।

टिप्पणी—

(1) पूरे पद में नेत्रों में मानवीकरण है।
(2) तीसरी पंक्ति में उपमा और चौथी तथा पाँचवीं पंक्ति में ('ज्ञान पुष्प', 'हरिमुख कमल') रूपक अलंकार है।
(3) 'इकटक प्रेम पियो' में सात्विक अनुभाव और जड़ता संचारी भाव है।
(4) द्वितीय पंक्ति में स्वकीया नायिका के आदर्श के प्रति संकेत किया गया है।

राग केदारो

ऊधो ! ब्रजरिपु बहुरि जिए।
जे हमरे कारन नँदनंदन हति हति दूरि किए॥
निसि के बेष बकी है आवति अति डर करति सकंप हिए।
तिन पय तें तन प्रान हमारे रबि ही छिनक छिनाय लिए॥
बन बृकरूप, अघासुर सम गृह, कितहू तौ न बितै सकिए।
कोटिक काली सम कालिंदी, दोषन सलिल न जात पिए॥
अरु ऊँचे उच्छ्वास तृनाव्रत, तिहि सुख सकल उड़ाय दिए।
केसी सकल कर्म केसव बिन, सूर सरन काकी तकिए ? ॥ 186 ॥

शब्दार्थ—ब्रजरिपु = ब्रज के शत्रु। बहुरि = पुनः। जिए = जीवित हो गए। हतिहति दूरि किए = मार-मार कर भगा दिये थे। बकी = पूतना नामक राक्षसी। करति सकंप हिए = हृदय को कंपित कर देती है। तिन = रात्रि रूपी पूतना। पयते = दुग्ध पान द्वारा। तन प्रान हमारे रबि ही = हमारे तन और प्रान स्वरूप श्रीकृष्ण रूप सूर्य को। छिनक = एक क्षण में। छिनाय लिए = हमसे छीन लिया। बृक रूप = बकासुर के रूप में। अघासुर = अजगर के रूप में एक राक्षस। बितै = व्यतीत करना, काटना। कोटिक = करोड़ों। काली सम = कालिय नाग के समान। कालिंदी = यमुना। दोषन = दोष अर्थात् विषमय हो जाने से। सलिल = जल। ऊँचे उच्छ्वास = दीर्घ निश्वासें। तृनव्रत = तृणावर्त नामक राक्षस। केसी = एक राक्षस जो घोड़े के रूप में आया था। काकी = किसकी। तकिए = देखें, जाएँ।

सन्दर्भ—श्रीकृष्ण के वियोग में गोपियों को समस्त ब्रजमण्डल राक्षस के समान भयानक प्रतीत हो रहा है और प्रकृति की सभी वस्तुएँ दुखद लग रही हैं। गोपियाँ उद्धव से यहाँ के दुखद और भयंकर वातावरण का उल्लेख बहुत ही प्रभावशाली रूप में कर रही हैं।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, श्रीकृष्ण ने हमारे कारण जिन-जिन शत्रुओं को मार-मारकर भगा दिए थे, ब्रज के वे सभी शत्रु फिर से जीवित हो उठे। पहले जब श्रीकृष्ण ब्रज में थे तो एक दिन पूतना अपने स्तनों में विष लगाकर श्रीकृष्ण को मारने के लिए आई थी, लेकिन श्रीकृष्ण ने उसके प्राण खींच लिए। लेकिन आज वही पूतना काली रात्रि के रूप में पुनः आया करती है और अतिशय भय से हम सबों के हृदय को कम्पित कर देती है (आशय यह है कि गोपियों को श्रीकृष्ण के वियोग में रात्रि दुखद और भयानक प्रतीत होती है)। इस रात्रिरूपी पूतना ने हमारे तन और प्राणस्वरूप श्रीकृष्ण रूपी सूर्य को एक क्षण में विषैला दूध

पिलाकर हमसे छीन लिया (तात्पर्य यह है कि रात्रि के कारण सूर्य छिप जाता है सूर्य के प्रकाश न मिलने से रात्रि का अंधकार दु:सह्य हो जाता है)। श्रीकृष्ण के बिना ब्रज का वन बकासुर राक्षस सदृश लगता है और घर अघासुर राक्षस जैसा, अतः न तो वन में न घर में कहीं भी समय कटता नहीं। एक समय ऐसा भी था जब कालिय नाग के कारण यमुना का जल विषाक्त हो गया था और उस जल को जो भी पीता था वह मर जाता था। श्रीकृष्ण ने कालिय नाग को मार हम लोगों की रक्षा की थी। अब तो यमुना करोड़ों कालिय नाग के समान भयंकर लग रही है और विषमय हो जाने से उसका जल पिया नहीं जाता। कहने का आशय यह है कि कृष्ण के बिना यमुना जल भी अच्छा नहीं लगता। श्रीकृष्ण के वियोग में हम सबों की निरन्तर दीर्घ निःश्वासें निकला करती हैं, ये निश्वासें ही तृणावर्त राक्षस है जो ब्रज में पुनः आ गया है और जिसने हम सबों के समस्त सुखों को तृण की भाँति उड़ा दिया (जैसे तृणावर्त भयंकर आंधी के रूप में आया था और ब्रजवासियों को उड़ा दिया था। श्रीकृष्ण ने उसे मार कर सबों की रक्षा की थी, लेकिन निःश्वासरूपी तृणावर्त से प्राण-रक्षा की आशा अब समाप्त हो चुकी है और समस्त सुख गायब हो गये हैं)। सूर के शब्दों में गोपियाँ कह रही हैं कि हमारे समस्त कार्य ही केशी राक्षस के समान हैं अर्थात् किसी कार्य में मन नहीं लगता और ये सभी कार्य केशी राक्षस के समान काटने दौड़ते हैं। अतः ऐसी स्थिति में किसकी शरण का अवलम्ब ग्रहण करें (ऐसी अवस्था में श्रीकृष्ण के बिना हमें दूसरा कोई नहीं दृष्टिगत होता जिसकी शरण में पहुँच कर हम अपने प्राणों की रक्षा कर सकें।

टिप्पणी—

(1) इसमें ब्रज के उन राक्षसों का उल्लेख हुआ है जिन्हें श्रीकृष्ण ने मारा था। वे राक्षस पूतना, बकासुर, अघासुर, तृणावर्त और केशी इत्यादि हैं। पूतना अपने स्तनों में विष लगाकर आयी थी, बकासुर बकुले के रूप में, अघासुर अजगर का रूप धारण करके, तृणावर्त आँधी के रूप में और केशी घोड़े के रूप में श्रीकृष्ण को मारने के लिए आए थे। कालियनाग यमुना में निवास करता था, जिसके कारण यमुना का समस्त जल विषमय हो गया था। उसे जो पीता था वह मर जाता था। श्रीकृष्ण ने कालियनाग को नाथ कर इस प्रकार ब्रजवासियों की रक्षा की थी।

(2) इसमें प्रकृति चित्रण उद्दीपन विभाव की दृष्टि से किया गया है।

(3) इस पद में त्रास और स्मृति संचारी भाव है।

(4) अलंकार की दृष्टि से इसमें उपमा, रूपक, स्मरण अलंकार हैं।

(5) चौथी पंक्ति का अर्थ अधिकांश टीकाकारों ने अतिशय भ्रष्ट कर दिया है।

राग सारंग

ऊधो ! कहिए काहि सुनाए ?
हरि बिछुरत जेती सहियत हैं इते बिरह के घाए॥
बरु माधव मधुबन ही रहते, कत जसुदा के आए ?
कत प्रभु गोप वेष ब्रज धार्‌यो, कत ये सुख उपजाए ?
कत गिरि धारि इन्द्र-मद मेट्‌यौ, कत बन रास बनाए ?
अब कह निठुर भए हम ऊपर लिखि-लिखि जोए पठाए ?

परम प्रबीन सबै जानत हौ, तातें यह कहि आए।
अपनी कौन कहै सुनु सूरज मात-पिता बिसराए॥ 187 ॥

शब्दार्थ—काहि = किसको। घाए = घाव, चोट। बरु = बल्कि। मधुबन = मथुरा। कत = क्यों। बनाए = रचाया। कह = क्यों। तातें = इसलिए। यह कहि आए = यह कहना पड़ा।

सन्दर्भ—गोपियाँ श्रीकृष्ण प्रति उद्धव से उलाहना देती हुई कह रही हैं कि यदि श्रीकृष्ण को ऐसा ही व्यवहार करना था तो वे यशोदा के यहाँ क्यों आए ? उन्हें मथुरा ही रहना चाहिए था। प्रियतम श्रीकृष्ण की निष्ठुरता का इसमें सहज रूप में वर्णन हुआ है।

व्याख्या—(श्रीकृष्ण के प्रति गोपियाँ उद्धव से उलाहना दे रही हैं) हे उद्धव, श्रीकृष्ण के वियोग में इस समय हम सब जितनी चोट (पीड़ा) सह रही हैं, उसे किसे बताएँ। (हमारे मन की चोट को हमारा मन ही जानता है)। इससे तो अच्छा यही होता कि श्रीकृष्ण यशोदा के घर न आते और मथुरा ही रहते। यदि उन्हें हमारे साथ धोखा ही देना था तो उन्होंने गोप का वेश क्यों बनाया और क्यों अनेक प्रकार के सुख दिए (वे राजा ही रहते, गोप के रूप में हम सबों को क्यों सुख दिया ?) क्यों उन्होंने गोबर्धन पर्वत धारण करके इन्द्र के गर्व को नष्ट किया और बन में रास रचाया (यदि ऐसा ही करना था तो गोबर्धन पर्वत उठाकर हमारे प्राणों की क्यों रक्षा की और रास-रचाकर अपने नृत्य-संगीतादि द्वारा हम सबों को क्यों आनंदित किया ?) और इतने सुख पहुँचाने के बाद अब हमारे ऊपर वे कठोर क्यों बन बैठे जो लिख-लिख कर योग संदेश भेजा करते हैं। तुम तो अतिशय कुशल और बुद्धिमान हो, सब जानते हो, फिर भी इतना तो कहना ही पड़ रहा है कि अपनी बात अब उनसे कौन कहे (अपने सुख-दुख की चर्चा कैसे कहें) जब कि उन्होंने अपने माता-पिता को भुला दिया (उनकी किसी भी प्रकार से वे चिन्ता नहीं करते)।

टिप्पणी—

(1) इसमें श्रीकृष्ण की निष्ठुरता की सहज अभिव्यक्ति हुई है।
(2) श्रीकृष्ण की पूर्व संवेदनशीलता का उल्लेख गोपियों ने स्मृति-बिम्ब द्वारा किया है।
(3) इसी प्रकार के भाव हिंदी के अन्य कवियों में भी मिले हैं—

(क) जो रहीम करिबो हुतो, ब्रज को यही हवाल।
तौ कत तुम रक्षा करी, गिरिवर धरि गोपाल॥

(ख) हरिचंद भए निरमोही इते निज नेह को यों परिनाम कियो।
मन माहिं जो तोरन की ही हुती, अपनाय के क्यों बदनाम कियो।

राग सारंग

ऊधो ! भली करी गोपाल।
आपुन तौ आवत नाहीं ह्यां, वहाँ रहे यहि काल॥
चंदन चंद हुतो तब सीतल, कोकिल सब्द रसाल।
अब समीर पावक सम लागत, सब ब्रज उलटी चाल॥

हार, चीर, कंचुकि कंटक भए, तरनि तिलक भए भाल।
सेज सिंह, गृह तिमिर-कंदरा, सर्प सुमन-मनिमाल॥
हम तौ न्याय सहैं एतो दुख बनवासी जो ग्वाल।
सूरदास स्वामी सुखसागर भोगी भ्रमर भुवाल॥ 188 ॥

शब्दार्थ—हुतो = था। रसाल = मधुर। समीर = पवन। पावक = अग्नि। कंचुकि = चोली। तरनि तिलक भए भाल = मस्तक का टीका सूर्य के समान दाहक हो गया। गृह तिमिर-कंदरा = घर अंधकारमय गुफा के समान है। न्याय = ठीक ही है, उचित है। भुवाल = भूपाल, राजा।

सन्दर्भ—श्रीकृष्ण के जाने पर ब्रज की सभी परिस्थितियाँ बदल गयीं। अनुकूल वस्तुएँ प्रतिकूल हो गयीं। अत: ऐसी स्थिति में गोपियाँ नहीं चाहतीं कि श्रीकृष्ण यहाँ आकर कष्ट पावें। उद्धव से वे कह रही हैं कि जब तक यहाँ की स्थिति ठीक नहीं हो जाती, श्रीकृष्ण मथुरा ही रहें। गोपियों का यह कथन व्यंग्यपूर्ण शैली में प्रस्तुत हुआ है।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, श्रीकृष्ण ने अच्छा ही किया जो यहाँ नहीं आए—क्योंकि यहाँ की स्थिति अभी ठीक नहीं है। वे तो स्वयं ही यहाँ नहीं आ रहे थे, अब यदि आना भी चाहें तो उनसे कहना कि इन दिनों वे मथुरा में ही रहें—यहाँ न आवें। व्यंग्यार्थ यह है कि वे इतने निष्ठुर हो गये कि जब से गए हम सबों का उन्होंने कोई समाचार ही नहीं लिया—अब जब हम सब वियोग की ज्वाला में जल चुकी हैं तो आकर क्या करेंगे ? उनसे कह देना कि जब वे यहाँ थे तो उस समय तो चन्दन और चन्द्रमा शीतलता प्रदान करते थे, और कोकिल की वाणी बड़ी मधुर प्रतीत होती थी, लेकिन अब तो बात ही दूसरी है—अब हवा आग के समान जलाती रहती है (ब्रज की सब विपरीत दशा है) गले का हार, वस्त्र और कंचुकी आदि काँटे की भाँति चुभते रहते हैं—इनका पहनना कष्टदायक है। हम सबों के माथे का टीका सूर्य की भाँति तापदायक है (वियोग में शृंगारादि की वस्तुएँ कष्टकर हैं) जब हम अपनी सेज पर जाती हैं तो वह सिंह के समान भयानक लगती है (शय्या पर जाने की इच्छा ही नहीं होती)। घर तो ऐसा लगता है मानो अंधकारमय गुफा है—घर देखने से भय प्रतीत होता है। पुष्प और मणियों की माला सर्पवत् प्रतीत होती है (इन्हें देखने में भय प्रतीत होता, और पहनते नहीं बनता)। हम तो जंगल में रहने वाली ग्वाल जाति की हैं, वन-वन में हमारे पति-बच्चे गाएँ चराते हैं, अत: इन सब कष्टों को बर्दाश्त कर सकती हैं (यह कष्ट हमारे लिए उचित ही है) लेकिन आप तो हे स्वामी राजा हैं, आनन्द की राशि हैं और रसिक भ्रमर की भाँति सब सुखों का निरन्तर उपभोग करते रहते हैं। आप इन कष्टों को कैसे झेल सकते हैं (व्यंग्यार्थ यह है कि आप जब से मथुरा के राजा हुए हैं अपने उस वन्य-जीवन की सहजता और कष्ट को भूल गए। अब हमारी इस पीड़ा को आप क्यों समझेंगे ? (बड़े लोग छोटे लोगों के दुख-दर्द को क्या जानें ?)

टिप्पणी—

(1) अंतिम पंक्ति में अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि है।
(2) चौथी, पाँचवीं और छठीं पंक्ति में उपमा अलंकार है।
(3) प्रकृति का उद्दीपन विभाव के रूप में वर्णन हुआ है।
(4) श्रीकृष्ण के विलासमय जीवन और गोपियों के प्रति उनकी निष्ठुरता की एक झलक इसमें मिल जाती है।

(5) द्वितीय पंक्ति में अत्यंत तिरस्कृत वाच्य ध्वनि है।
(6) पूरे पद में प्रकृति और ब्रजमण्डल के समस्त वातावरण का अतिरंजना पूर्ण वर्णन हुआ है।

राग सोरठ

अपने मन सुरति करत रहिबी।
ऊधो ! इतनी बात स्याम सों समय पाय कहिबी॥
घोष बसन की चूक हमारी कछू न जिय गहिबी।
परम दीन जदुनाथ जानिकै गुन बिचारि सहिबी॥
एकहि बार दयाल दरस दै बिरह-रासि दहिबी।
सूरदास प्रभु बहुत कहा कहौं वचन-लाज बहिबी॥ 189 ॥

शब्दार्थ—सुरति करत रहिबी = हमारी याद करते रहेंगे। कहिबी = कह दीजिएगा (बुदेलखण्डी प्रयोग)। घोष = अहीरों की बस्ती। गहिबी = ग्रहण करेंगे। सहिबी = सहन कर लीजिएगा। दहिबी = नष्ट कर दीजिएगा। बहिबी = निवहि कर लीजिएगा। चूक = अपराध।

सन्दर्भ—(उद्धव से गोपियाँ श्याम के प्रति संदेश भेज रही हैं) हे उद्धव, यदि श्रीकृष्ण को राज्य के कार्य से कभी अवकाश मिले तो अवसर पाकर इतनी बात हमारी ओर से कह देना कि वे हमें भूलें नहीं और मन में हमारी याद करते रहें। जब वे हम अहीरों की बस्ती में रहते रहे तो जान-अनजान में हमसे उनके प्रति बहुत से अपराध हुए होंगे। उनसे कह देना कि वे उन अपराधों को मन में स्थान न दें—उन्हें भूल जायँ (हमें दीन और अनाथ जान कर श्री यदुनाथ हमारी बुराइयों को गुण समझकर सह लेंगे। जैसे गुणों को सह लेते थे, उसी प्रकार हमारे दोषों को भी गुण समझकर सह लेंगे। हे दयालु, कृष्ण आपसे निवेदन है कि एक बार हमें दर्शन देकर हमारे विरह की ज्वाला को नष्ट कर दें (आपके दर्शन के बिना हम निरन्तर वियोग की ज्वाला में जलती रहती हैं) सूर के शब्दों में गोपियों का कथन है कि हे स्वामी, अब आपसे अधिक क्या कहें आप तो अन्तर्यामी हैं—हाँ, इतना अवश्य कीजिए कि अपने वचन की लज्जा का निर्वाह करना न भूलें—आप जब अक्रूर के साथ मथुरा जा रहे थे तो आपने वचन दिया था कि शीघ्र ही लौटेंगे—अतः मथुरा से लौटकर अपने दिए हुए वचन की मर्यादा का पालन करें—यही प्रार्थना है।

टिप्पणी—

(1) दूसरी पंक्ति का भाव रत्नाकर के 'उद्धव शतक' में इस प्रकार मिलता है—
अवसर मिले औ सिरताज कछू पूछिहैं,
तो कहियो कछू न, दसा देखी सो दिखाइयो।
(2) इसमें आद्योपान्त बुन्देली की भविष्यत काल की क्रियाओं (रहिबी, कहिबी, गहिबी आदि) का प्रयोग हुआ है।
(3) 'कछू न जिय गहिबी' और 'वचन लाज बहिबी' जैसे मुहावरों के कारण सूर की भाषा की व्यंजकता बढ़ गयी है।

राग केदारो

ऊधो ! नँदनंदन सों इतनी कहियो।
जद्यपि ब्रज अनाथ करि छाँड्यो तदपि बार इक चित करि रहियो॥
तिनकातोर करौ जनि हमसों एक बात की लज्जा गहियो।
गुन-औगुनन रोष नहिं कीजत दासनिदासि की इतनी सहियो॥
तुम बिन स्याम कहा हम करिहैं यह अवलंब न सपने लहियो।
सूरदास प्रभु यह कहि पठई कहाँ जोग कहँ पीवन दहियो॥ 190 ॥

शब्दार्थ—बार इक = एक बार। चितकरि रहियो = चित्त में विचार कर लीजिए, सोच लीजिए। तिनका तोर = नाता तोड़ना, सम्बन्ध-त्याग। लज्जा गहियो = लज्जा कीजिए। दासनिदासि = दासों की दासी। यह अवलम्ब = आपकी यह शरण या सहारा। न सपने लहियो = स्वप्न में भी नहीं मिल सकता। यह कहि पठई = यह कह कर वापस कर रही हैं। पीवन दहियो = दही का पीना (श्रीकृष्ण कहाँ दूध-दही पीते थे, अब कहाँ योग की चर्चा करने लगे, आश्चर्य है)।

सन्दर्भ—गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि यद्यपि श्रीकृष्ण ने हम सब को छोड़कर अनाथ कर दिया, लेकिन इतनी विनय एक बार अवश्य है कि वे हमारी दशा पर एक बार पुनः विचार करें। इसमें गोपियों की विनयशीलता और उनके दैन्य भाव की अभिव्यक्ति हुई है।

व्याख्या—(उद्धव से गोपियाँ कृष्ण-प्रति संदेश भेज रही हैं) हे उद्धव, तुम नंदनंदन श्रीकृष्ण से इतना तो अवश्य कह देना कि यद्यपि आपने समस्त ब्रज को अनाथ कर दिया, फिर भी एक बार इस ब्रज की दशा पर विचार करें—क्योंकि आपको इतनी निष्ठुरता नहीं दिखानी चाहिए। हमसे आप सदैव के लिए इस प्रकार का सम्बन्ध-विच्छेद न करें (इस प्रकार नाता तोड़ना उचित नहीं है) और कम से कम एक स्थान पर जो हम दोनों प्रेमपूर्वक रहते रहें—उसकी लज्जा तो रखें (एक स्थान में रहते-रहते परस्पर अच्छा सम्बन्ध हो जाता है, अतः उस सम्बन्ध को न तोड़ें)। हमने बहुत से गुण और अवगुण किए हैं, अतः हमारे इन गुण और अवगुणों पर आपको क्रोध नहीं करना चाहिए। हम तो आपके दासों की दासी हैं, अतः हमें आपको क्षमा करना चाहिए (आप हमारे लिए इतना तो बर्दाश्त कर ही सकते हैं)। हे श्याम, तुम्हारे बिना हम क्या करेंगी—हमें कौन पूछेगा ? आपकी यह शरण (सहारा) तो अन्यत्र हमें स्वप्न में भी नहीं मिल सकती। हमें तो एक मात्र आपकी ही शरण का भरोसा है। सूरदास के शब्दों में गोपियाँ कह रही हैं कि हे स्वामी, हम यह कह कर आपके इस योग-संदेश को वापस कर रही हैं कि कहाँ यह अग्राह्य और शुष्क योग साधना और कहाँ आपका सामान्य ग्वालों की भाँति दही का पीना दोनों में कितना अन्तर है (निर्गुण की दुर्बोधता और सगुण की सहजता में महदन्तर है)।

टिप्पणी—

(1) पाँचवीं और अंतिम पंक्ति का अर्थ बहुत से टीकाकारों ने नहीं समझा और खींचतान कर अपना अर्थ प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। 'पीवन दहियो' का अर्थ प्रियतम के बिना जलना कितना हास्यास्पद है।

(2) इसमें दैन्य संचारी भाव की प्रधानता है।

(3) तिनकातोर ब्रज का प्रचलित मुहावरा है जिसका अर्थ है हमेशा के लिए नाता

तोड़ना।

(4) पाँचवी पंक्ति में गोपियों का आत्मसमर्पण भाव व्यक्त हुआ है।

(5) तीसरी पंक्ति का भाव घनानंद के इस चरण में भी मिलता है।

बसि के इक गाँव में एहो
दई चित ऐसो कठोरन कीजिए जू।

राग सारंग

ऊधो ! हरि करि पठवत जेती।
जौ मन हाथ हमारे होतो तो कत सहती एती ?
हृदय कठोर कुलिसहू तें अति तामें चेत अचेती।
तब उर बिच अंचल नहिं सहती, अब जमुना की रेती॥
सूरदास प्रभु तुम्हारे मिलन को, सरन देहु अब सेंती।
बिन देखे मोहिं कल न परति है जाको स्रुति गावत हैं नेती॥ 191॥

शब्दार्थ—करि = प्रयत्नपूर्वक। पठवत जेती = जितनी योग संबंधित बातें लिख-लिख कर भेजते हैं। एती = इतना। कुलिस = वज्र। तामे = उसमें। चेत अचेती = बेसुध अवस्था। अंचल नहीं सहती = अंचल का व्यवधान सहन नहीं होता था। जमुना की रेती = बालू का मैदान। अबसेंती = अब से। कल न परति = चैन नहीं मिलता। स्रुति = वेद। नेती = नेति, अनादि।

सन्दर्भ—श्रीकृष्ण ने गोपियों के पास उद्धव द्वारा योग का संदेश बड़े प्रयत्न के साथ भेजा है। लेकिन गोपियों के कथनानुसार उनका मन स्वयं उनके हाथ में नहीं है। अत: इसे स्वीकार करने में वे सब अपनी विवशता व्यक्त करती हैं—

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, श्रीकृष्ण बड़े प्रयत्न के साथ तुम्हें बहुत समझा-बुझाकर हमारे पास जितना योग का संदेश लिख-लिखकर भिजवाते हैं उसे यदि हमारा मन वश में होता तो सहर्ष स्वीकार कर लेतीं और विरह का इतना दुख फिर क्यों सहतीं (निर्गुणोपासना को स्वीकार करने पर विरह के इस दुख से छुटकारा मिल जाता)। सम्प्रति हमारा हृदय वज्र से भी कठोर हो गया है और इस पर हमारी चेतन शक्तियाँ भी चली गयी हैं, हम सब श्रीकृष्ण की याद में बेसुध रहा करती हैं (हमारी अवस्था बेसुध जैसी हो गयी है) यदि चेतना ही नहीं है तो तुम्हारे योग की बातों को कैसे ग्रहण करें। एक समय ऐसा भी था कि श्रीकृष्ण से आलिंगन करते समय हम सब अंचल से होने वाले अन्तराल को भी नहीं बर्दाश्त कर पाती थीं (उनके और अपने हृदय के मिलन में अंचल को बाधा समझती थीं) अब तो हमारे और उनके बीच बालू का विशाल मैदान पड़ गया है (श्रीकृष्ण यमुना के उस पार मथुरा में रहते हैं और हम सब यमुना के इस पार ब्रज में रहते हैं)। सूरदास के शब्दों में विरहिणी गोपियाँ कह रही हैं कि हे स्वामी, अब बहुत हो गया आपके दर्शन के बिना काफी समय बीत गया। अब तो तुम अपनी शरण में हमें रख लो। जिसे वेद नेति-नेति (अनादि) कहकर गुणानुवाद किया करते हैं उनको बिना देखे हमें चैन नहीं मिलता अर्थात् हमारे लिए श्रीकृष्ण ही ब्रह्म हैं हमें निर्गुण ब्रह्म पर विश्वास नहीं है, हम इन्हीं को ब्रह्म समझती हैं। तात्पर्य यह है कि हमारे लिए सगुणोपासना का मार्ग ही श्रेष्ठ और सहजग्राह्य है।

टिप्पणी—

(1) चौथी पंक्ति का भाव घनानंद के इस सवैये में प्राप्त होता है।
तब हार पहार से लागत है अब आनि के बीच पहार परे।

(2) 'जो मन हाथ हमारे होतो' एक सुंदर मुहावरा है।

(3) 'अब सेंती' अवधी का प्रयोग है। अवधी काव्यों में 'से' के अर्थ में 'सेंती' का प्रयोग मिलता है।

(4) 'कल न परति है' में भी मुहावरे का प्रयोग हुआ है।

(5) 'करि पठवत' में न्यूनपदत्व दोष है (इसमें योग संदेश की बातें लुप्त हैं, अतः अर्थ में बाधा उपस्थित होती है)।

(6) अंतिम पंक्ति में दर्शन की उत्कटता व्यक्त हुई है।

राग सोरठ

ऊधो ! यह हरि कहा कर्‌यौ ?
राजकाज चित दियो साँवरे, गोकुल क्यों बिसर्‌यौ ?
जौ लों घोष रहे तौ लों हम संतत सेवा कीन्ही।
बारक कबहूँ उलूखल परसे, सोई मानि जिय लीन्ही॥
जौ तुम कोटि करौ ब्रजनायक बहुतै राजकुमारि !
तौ ये नंद पिता कहँ मिलिहैं अरु जसुमति महतारि ?
कहँ गोधन, कहँ गोप-वृन्द सब, कहँ गोरस को खैबो ?
सूरदास अब सोइ करौ जिहि होय कान्ह को ऐबो॥ 192 ॥

शब्दार्थ—जौ लों = जब तक। घोष = अहीरों की बस्ती। संतत = सदैव। बारक = एक बार। परसे = बाँध दिया। मानि जिय लीनी = मन में रख लिया (नाराज हो गए)। ऐबो = आना। कहा कर्‌यो = क्या किया। उलूखल = ऊखल। खैबो = खाना। जौ = यदि।

सन्दर्भ—गोपियों को इस बात का बड़ा दुख है कि श्रीकृष्णचन्द्र गोकुल को भूल गए। उन सबों ने गोकुल में रहते समय श्रीकृष्ण की बहुत सेवा की थी, लेकिन श्रीकृष्ण ने उन सेवाओं का कुछ भी महत्व नहीं समझा।

व्याख्या—(गोपियाँ श्रीकृष्ण के दुर्व्यवहार का उल्लेख उद्धव से कर रही हैं) हे उद्धव, श्रीकृष्ण ने यह क्या किया (उनका यह कैसा व्यवहार है) कि मथुरा में जाते ही राज्य के कार्यों को अपने मन को इतना लगा दिया (वे उसमें इतने फँस गये) कि गोकुलवासियों को वे भूल ही गए। हम तो जब तक वे अहीरों की बस्ती में रहे उनकी निरन्तर सेवा करती रहीं। एक बार हमने ऊखल में उन्हें क्या बँधवा दिया कि उसे उन्होंने अपने मन में रख लिया—गाँठ बाँध ली। (इसके कारण वे नाराज हो गए और ब्रजवासियों को त्याग दिया)। हे ब्रज के स्वामी श्रीकृष्ण, भले ही तुम करोड़ों राजकुमारियों को रख लो—उनसे सम्बन्ध बना लो, लेकिन ये नंद पिता तुम्हें कहाँ मिलेंगे और यशोदा जैसी माता से कहाँ भेंट होगी ? तात्पर्य यह है कि मथुरा में तुम्हें राजकुमारियाँ तो बहुत मिल सकती हैं, लेकिन माता-पिता बहुत नहीं मिलेंगे। वहाँ तुम्हें कहाँ गाएँ मिलेंगी, और ऐसे गोपवृन्द कहाँ पाओगे और इस तरह दूध-दही खाने को कहाँ मिलेगा ?

आशय यह है कि मथुरा में राजकीय वैभव के सुख को तो वे प्राप्त कर लेंगे परन्तु ब्रज के ऐसे ग्राम्य-सुलभ सुख उन्हें वहाँ कहाँ नसीब होगा। सूरदास के शब्दों में गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि हे उद्धव, अब आप वही उपाय करें जिससे श्रीकृष्ण का ब्रज में पुनः आगमन हो (हमें उनके दर्शन की बड़ी चाह है)।

टिप्पणी—

(1) रत्नाकर के उद्धव शतक में भी सूर के इस पद की सातवीं पंक्ति का भाव देखने को मिला है—

षटरस व्यंजन तौ रंजन सदा ही करैं।
ऊधो नवनीत हूँ सप्रीति कहूँ पावैं हैं।

(2) ग्राम्यजीवन की सरलता और मथुरा के कृत्रिम वातावरण का वर्णन बहुत सुंदर ढंग से किया गया है।

(3) वात्सल्य भाव की अभिव्यक्ति छठीं पंक्ति में हुई है।

राग आसावरी

ऊधो ! ऐसो काम न कीजै।
एक रंग कारे तुम दोऊ धोय सेत क्यों कीजै ?
फेरि फेरिकै दुख अवगाहैं हम सब करी अचेत।
कत पटपर गोता मारत हौ निरे भूँड़ के खेत॥
तरपट कोट कीटकुल जनमे, कहा भलाई जाने ?
फोरत बाँस-गाँठि दाँतन सों बार-बार ललचाने॥
छाँड़ि कमल सों हेतु आपनो तू कत अनतहिं जाय ?
लंपट, ढीठ, बहुत अपराधी कैसे मन पतिआय ?
यहै जु बात कहति हौं तुमसों फिरि मति कबहूँ आवहु।
एक बार समुझावहु सूरज अपनो ज्ञान सिखावहु॥ 193 ॥

शब्दार्थ—सेत = श्वेत। दुख अवगाहैं = दुख में डूबती हैं। कत = क्यों। पटपर = मैदान। निरे = बिल्कुल। भूड़ = लाल रंग की बालू मिली हुई मिट्टी जिसमें कुछ नहीं पैदा होता। तरपट = अन्दर, भीतर। कोट = बाँस की कोठी। हेतु = प्रेम। अन्तहिं = अन्यत्र, दूसरी जगह। पतिआय = विश्वास करे।

सन्दर्भ—उद्धव की धृष्टता से ऊब कर गोपियाँ उन्हें फटकार रही हैं और भ्रमर के रूप में उनके लम्पटता आदि अवगुणों का संकेत कर रही हैं।

व्याख्या—(भ्रमर रूप उद्धव के प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, तुम जो कार्य कर रहे हो (हम गोपियों को जो निर्गुण का उपदेश दे रहे हो) वह उचित नहीं, तुम्हें इस प्रकार का कार्य नहीं करना चाहिए। लेकिन तुम्हारी लाचारी यह है कि तुम और तुम्हारे मित्र श्रीकृष्ण दोनों ही स्वभाव से काले हैं (कुटिल हृदय के हैं) अतः इसमें तुम दोनों का दोष ही क्या है ? तुम दोनों की कालिमा यदि धोकर श्वेत करना चाहें तो वह कहाँ संभव है (काला कभी श्वेत नहीं हो सकता) तात्पर्य यह है कि यदि तुम्हारी कुटिलता को दूर करके तुम्हें सज्जन बनने का प्रयत्न भी

किया जाय तो इसमें कहाँ सफलता मिल सकती है। हम तुम्हारे कारण बारम्बार दुख के सागर में डूबती रहती हैं और यही नहीं, निर्गुण की बातों को सुना कर तुमने हम सबों को बेसुध कर दिया (हमारी चेतन-शक्तियाँ खो गयीं)। तुम सपाट मैदान में गोता लगाने का प्रयास क्यों कर रहे हो—यह तुम्हारा व्यर्थ का प्रयास है, क्योंकि गोता तो जल में लगाया जा सकता है, मैदान में नहीं—उसी प्रकार तुम्हारे निर्गुण ज्ञान की सिद्धि उन्हें मिल सकती है, जो इसे समझता हो—हम सब इसे क्या जानें ? तुम तो हमें बिल्कुल ऊसर भूमि प्रतीत होते हो (हमारी समझ में तुम जड़ लगते हो) जैसे ऊसर भूमि में किसी भी प्रकार की उपज नहीं होती, उसी प्रकार तुम्हारे मानस में कोई भी अच्छी या समझदारी की बात नहीं पैदा होती। तुम तो सचमुच 'ऊसर बरसे तृण नहीं जामा' की कहावत चरितार्थ कर रहे हो। हे भ्रमर, तुम्हारा जन्म तो नीरस बाँस की कोठियों के भीतर कीट कुल में (कीड़ों के वंश में) हुआ है। अतः तुम भलाई करना क्या जानो (कीड़े क्या कभी किसी की भलाई करते हैं—उनका काम तो काटना और किसी वस्तु को बर्बाद करना होता है)। तुम्हारा तो यह स्वभाव ही है कि जो शरण देता है, उसी को क्षय करने के लिए तत्पर रहते हो—भला, यह भी उचित है कि जिस बाँस की कोठी ने तुझे शरण दी तू उसी बाँस की गाँठों को दाँतों से काटने और फोड़ने के लिए लालायित रहता है। लेकिन इसके बावजूद तू कमल से प्रेम भी करता है और कमल को छोड़ कर अन्यत्र नहीं जाता। हाँ, इसमें तुम्हारी लम्पटता और धृष्टता सिद्ध होती है, क्योंकि जिसने तुम्हें शरण दी उसके साथ तो तू विश्वासघात करता है और दूसरों से जिसने तुम्हारे साथ इस प्रकार की भलाई नहीं की उसके प्रति प्रेम प्रदर्शित करता है। अतः तुम अतिशय, लम्पट, धृष्ट और अपराधी हो, तुम्हारा कौन विश्वास करे। व्यंजना यह है कि तुम हमारे साथ विश्वासघात करते हो—स्वयं तो कृष्ण के भक्त हो और निर्गुण का उपदेश देते फिरते हो। अब हमें ऐसे धोखेबाज व्यक्ति की आवश्यकता नहीं है, अतः तुमसे हम स्पष्ट बात कह रही हैं कि अब यहाँ आ गए तो आ गए, दुबारा मत आना। तुम अपने ज्ञान की बातों की शिक्षा खूब समझकर एक बार दे दो—अब बार-बार इसकी शिक्षा मत देना।

टिप्पणी—

(1) इसमें अन्योक्ति अलंकार है। भ्रमर के समस्त अवगुणों को उद्धव के प्रति इंगित किया है।

(2) चौथी पंक्ति में मुहावरे का प्रयोग हुआ है—मैदान में गोता लगाने का अभिप्राय है असंभव को संभव करने का प्रयास करना।

(3) 'निरे भूड़ के खेत' में उद्धव की शुष्कता और जड़ता व्यंजित है।

(4) इसमें गोपियों के आवेग, खीझ और अमर्ष भाव की व्यंजना है।

राग सारंग

ऊधो ! औरै कथा कहौ।
तजि जस, ज्ञान सुने तावत तनु, बरु गहि मौन रहौ॥
जाके बिच राजत मन-परबत स्यामसूल अनुरागी।
तापै रतिद्रुम रीति नयनजल सींचत निसदिन जागी॥
ग्रीषम अलि आए प्रगट्यो ब्रज कठिन जोग-रवि हेरे।
सो मुरझात सूर को राखै मेह-नेह बिनु तेरे ? ॥ 194 ॥

शब्दार्थ—तावत = तप्त होता है। बरु = बल्कि। मौन गहि = चुप, शान्त। मन परबत = मन रूपी पर्वत। जाके = जिस शरीर के। स्याम-सूल अनुरागी = श्रीकृष्ण की पीड़ा में अनुरक्त रहने वाला। तापै = उस पर। रतिद्रुम = प्रेम रूपी वृक्ष। रीति = रिक्त करके, खाली करके। ग्रीषम अलि = ग्रीष्म रूपी भ्रमर (उद्धव)। जोग रवि = योग रूपी सूर्य। हेरे = देखने पर। मेह-नेह = प्रेम रूपी वर्षा।

प्रसंग—गोपियाँ श्रीकृष्ण की प्रेम चर्चा को छोड़कर उद्धव की ज्ञान-कथा सुनना पसन्द नहीं करतीं। अतः वे उद्धव से क्रुद्ध होकर कहती हैं कि तुम अपनी इस ज्ञान-गाथा को बन्द कर दो।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, तुम्हारी ज्ञान-गाथा हम सब बहुत सुन चुकीं। अब तुम कुछ दूसरी बात चलाओ, क्योंकि श्रीकृष्ण के यश (गुणानुवाद) को छोड़कर जब हम तुम्हारे योग की कथा सुनती हैं तो हमारा समस्त शरीर वियोगाग्नि में तप्त होने लगता है (तुम्हारी बातों से हमारी विरह-व्यथा और बढ़ जाती है)। अतः अच्छा यही है कि तुम ज्यादा न बोलो, मौन धारण कर लो (चुप हो जाओ)। तुम्हें जानना चाहिए कि तुम हमारे जिस शरीर को अपनी योग-गाथा द्वारा संतप्त कर रहे हो उसके मध्य श्याम की पीड़ा में पगा हुआ हमारा मन रूपी पर्वत विराजमान है (हमारा मन श्रीकृष्ण की वियोग-व्यथा में सदा डूबा रहता है और उस मन रूपी पर्वत पर उत्पन्न प्रेम रूपी वृक्ष को हम सब अपने नेत्र रूपी घड़ों के अश्रु रूपी जल को खाली करके उसे रात-दिन सींचती हुई जागती रहती हैं अर्थात् वियोग के कारण जो प्रेम उत्पन्न होता है उसे हमारे निरन्तर बहते हुए अश्रु-जल सदैव बढ़ाते रहते हैं। इस आंसुओं से श्रीकृष्ण की प्रेमपीड़ा घटती नहीं, बढ़ती ही रहती है)। हे उद्धव, तुम तो इस ब्रजमंडल में ग्रीष्म रूप होकर आए हो (हम सब को पीड़ित करने के उद्देश्य से यहाँ पधारे हो) और तुम्हारे योग-संदेश रूप कठिन (अत्यंत दुखद) सूर्य को देखने पर (क्योंकि ग्रीष्म का सूर्य अत्यंत प्रचण्ड और भयंकर होता है) वह प्रेम रूपी वृक्ष जिसे हमारे नेत्रों ने बड़े यत्न से आँसुओं के जल से सींच कर बढ़ाया है—मुरझाने लगता है। सूर के शब्दों में गोपियों का श्रीकृष्ण के प्रति यह संकेत है कि बिना उनकी प्रेमरूपी वर्षा के कौन इन प्रेमरूपी वृक्षों की रक्षा कर सकता है (श्रीकृष्ण के प्रेम को प्राप्त करके हम सब इस वृक्ष को हरा-भरा रख सकती हैं)।

टिप्पणी—

(1) पूरे पद में सांगरूपक और शुद्धासारोपा लक्षणा है।

(2) 'अश्रु' और 'विषाद' संचारी भाव की प्रधानता है।

(3) इसमें अलंकार से वस्तु ध्वनित है अर्थात् सांगरूपक अलंकार द्वारा गोपियों की वियोग-पीड़ा रूपी वस्तु ध्वनित हुई है।

(4) भाव-व्यंजना और कलात्मक उत्कर्ष की दृष्टि से यह पद अत्यंत महत्व रखता है।

(5) 'ऊधो बिरहौ प्रेम करै' का भाव इसमें भी व्यक्त हुआ है।

राग सारंग

ऊधो ! साँच कहौ हम आगे।
घर में कहा बचै कहु ताके प्रगट आगि के लागे॥

जा दिन तें गोपाल सिधारे स्वास-अनल तन जार्‌यो।
ऋषि-हिरदय मुखचंद मुग्ध भयो काढ़ि वाहि दै डार्‌यो॥
एते पै तोहिं सूझत नाहिंन, जोग सिखावन आयो।
फिरि लै जाहु सूर के प्रभु पै जिहि हैं यहाँ पठायो॥ 195 ॥

शब्दार्थ—प्रगट = पूरी तरह से। स्वास अनल = श्वांसों की तप्त वायु। तन जार्‌यो = शरीर को दग्ध कर दिया। ऋषि-हिरदय = सरल हृदय। काढ़ि = निकाल कर। वाहि दै डार्‌यो = उसे दे दिया। एते पै = इतने पर भी। फिरि लै जाहु = वापस ले जाओ। पै = पास। जिहि = जिसने।

संदर्भ—गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि एक बार श्रीकृष्ण के चंद्रमुख् पर अपने सरल हृदय के मुग्ध हो जाने पर जब हमने उसे निकाल कर उन्हें दे दिया फिर आपकी यह योग शिक्षा कौन सुने ?

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, तुम सच-सच हमारे सामने एक बात बताओ कि जिस घर में अच्छी तरह से आग लग जाय तो उसमें क्या बचता है ? अर्थात् पूर्णतया आग के लग जाने पर भी क्या कुछ बचने की आशा रहती है। ठीक उसी प्रकार जिस दिन से श्रीकृष्ण यहाँ से गए हैं उसी दिन से हमारी निःश्वासों की ज्वाला ने हमारे समस्त शरीर को जला दिया—अब क्या बचा है ? एक सरल हृदय हमारे पास अवश्य था, लेकिन उसे तो श्रीकृष्ण के चन्द्रमुख पर मोहित होने के कारण पहले से ही निकाल कर उन्हें दे दिया। ऐसी दशा में भी तुम्हें कुछ समझ नहीं पड़ता और तुम हमारे पास योग की शिक्षा देने चले आए हो। सूर के शब्दों में गोपियों का कथन है कि हे उद्धव, तुम अपने इस योग को उसी के पास वापस ले जाओ ज़िसने इसे तुम्हारे द्वारा यहाँ भिजवाया है (अर्थात् जिस कृष्ण ने हमारे पास यह योग का संदेश भिजवाया है तुम वहीं वापस ले जाओ—वहीं इसकी कद्र होगी)।

टिप्पणी—

(1) 'स्वास अनल मुख चन्द्र' में रूपक अलंकार है।
(2) 'वाहि काढ़ि दै डार्‌यो' में लक्षणा का प्रयोग हुआ है।
(3) इसमें वियोग की मार्मिक दशा का वर्णन हुआ है।
(4) 'ऋषि हिरदय' द्वारा गोपियों की सरलता, पवित्रता और सहनशीलता की अभिव्यक्ति हुई है।

राग सारंग

ऊधो ! सब स्वारथ के लोग।
आपुन केलि करत कुब्जा-संग, हमहिं सिखावत जोग॥
भ्रमि बन जात साँवरी मूरति निति देखहिं वह रूप।
अब रस-रास पुलिन जमुना के करत लाज, भए भूप॥
अनुदिन नयन निमेष न लागत, भयो बिरह अति रोग।
मिलवहु कान्ह कुमार अस्विनी मिटै सूर सब रोग॥ 196 ॥

शब्दार्थ—भ्रमि = भ्रमित होकर। अनुदिन = प्रत्येक दिन। निमेष न लागत = पलकें

नहीं गिरतीं। कुमार अस्विनी = अश्विनी कुमार (देवताओं के वैद्य)।

सन्दर्भ—इस पद में गोपियों ने श्रीकृष्ण की निष्ठुरता और स्वार्थपरता के प्रति दुख प्रकट किया है। गोपियों के अनुसार जब से श्रीकृष्ण मथुरा के राजा हुए हैं, ब्रज की सभी बातें वे भूल गए। अब यहाँ की लीलाओं की चर्चा करना भी उनके लिए लज्जा की बात है।

व्याख्या—(उद्धव-प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, सभी लोग स्वार्थी होते हैं—जब तक श्रीकृष्ण ब्रज में रहे, हम लोगों से प्रीति रखते रहे और हम सब उनके लिए मरती रहीं, लेकिन अब हमारी पुरानी प्रीति को भुलाकर वे कुब्जा के संग रंगरेलियाँ मनाने लगे, और हमें योग की शिक्षा देने लगे। लेकिन कभी-कभी भ्रमवश हम जब वन में जाती हैं तो उनकी वही श्याम मूर्ति को देखा करती हैं (हमें यह नहीं समझ पड़ता कि श्रीकृष्ण मथुरा में हैं, यहाँ नहीं—हम नित्य उनकी स्मृति में तन्मय होकर उनकी श्याममूर्ति का साक्षात्कार किया करती हैं)। किन्तु श्रीकृष्ण अब तो यमुना के किनारे रास-मण्डल रचाने में लज्जा का अनुभव करते हैं, क्योंकि वे राजा हो गए हैं—हम भले ही उनकी क्रीड़ाओं की स्मृति में तन्मय होकर आनन्द ले लें, परन्तु उन्हें इन सब बातों की याद भी नहीं आती कि कभी हम यमुना के किनारे क्रीड़ा करते थे। हमारी दशा तो यह हो गई है कि प्रतिदिन (सदैव) नेत्रों की पलकें नहीं लगतीं—टकटकी बाँधकर उन्हें देखा करती हैं। व्यंजना यह है कि ऐसा विरह का रोग उत्पन्न हो गया है कि सोतीं भी नहीं, आँखें खोले जागती रहती हैं—उनकी प्रतीक्षा करती रहती हैं। सूर के शब्दों में गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि अब इस वियोग जैसे भयंकर रोग के लिए यदि तुम श्रीकृष्ण रूपी अश्विनी कुमार वैद्य को नहीं मिलाते, तो यह कथमपि दूर नहीं हो सकता (अत: निवेदन है कि तुम श्रीकृष्ण रूपी अश्विनी कुमार वैद्य का दर्शन शीघ्र कराओ, जिसमें यह रोग दूर हो जाय)।

टिप्पणी—

(1) तीसरी पंक्ति में स्मृति बिम्ब है, मन:स्थिति का यहाँ अत्यंत मनोवैज्ञानिक चित्रण किया गया है।

(2) अन्तिम पंक्ति में रूपक अलंकार है।

(3) बिरह-रोग में रूपक है।

(4) 'आपुन केलि करत कुब्जा सँग' में असूया संचारी भाव है।

(5) अन्तिम पंक्ति का भाव मीरा की इस पंक्ति से मिलता है—

'मीरा के प्रभु पीर मिटै जब बैद सँवरिया होय'

राग सारंग

ऊधो ! दीनी प्रीति दिनाई।
बातनि सुहद, करम कपटी के, चले चोर की हाई॥
बिरह-बीज बघवार सलिल मानो अधर-माधुरी प्याई।
सो है जाय खगी अंतर्गत, औषधि बल न बसाई॥
गरल दान दीनो है नीको, याको नहीं उपाय।
कै मारै, कै काज सरै, यह दुख देख्यो नहिं जाय॥
कहि मारै सो सूर कहावै, मित्रद्रोह न भलाई।

सूरदास ऐसे, अलि, जग में तिनकी गति नहिं काई ॥ 197 ॥

शब्दार्थ—दिनाई = विष प्रयोग की वस्तु। सुहृद = मित्र (सज्जन)। हाई = घात, दाँव। बिरह-बीज = बिरहमय। बघवार = बाघ की मूँछ के बाल, जो विष समझे जाते हैं। खगी = चुभी है। न बसाई = वश नहीं चलता। काज सरै = काम हो। गति = सद्‌गति। काई = कभी। अन्तर्गत = हृदय।

सन्दर्भ—इस पद में गोपियों ने श्रीकृष्ण को विश्वासघाती और मित्र-द्रोही बताया है।

व्याख्या—(उद्धव के प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, श्रीकृष्ण ने हमें प्रेम रूपी विषैला पदार्थ खिलाकर ठग लिया। जैसे ठग विषैला पदार्थ खिलाकर ठग लेते हैं उसी प्रकार श्रीकृष्ण ने अपने बनावटी प्रेम के द्वारा हमें ठग लिया। वे अपनी बातों में तो बड़े ही सज्जन और मित्र प्रतीत होते हैं लेकिन उनके समस्त कार्य-कलाप कपटी मनुष्यों जैसे हैं। और घात लगाने में तो वह चोर की भाँति हैं, अर्थात् जैसे चोर घात लगाकर लोगों की वस्तु चुरा लेता है, उसी प्रकार उन्होंने बड़े दाँव से हमारे चित्त को चुरा लिया। चलते समय उन्होंने बिरह के बीजारोपण रूपी बाघ की जहरीली मूँछों को अपने ओष्ठों की माधुरी रूपी जल में घोल कर पिला दिया और इस प्रकार हमें अचेत करके हमारे मन को हर लिया (ठग प्रायः मीठी वस्तुओं में विष मिलाकर भले लोगों की बहुमूल्य चीज़ें अपहरण कर लेता है)। अब उनके वियोग के जहर का प्रभाव हमारे हृदय में उत्पन्न हो गया है और सारा शरीर विषाक्त हो चुका है तथा किसी औषधि का भी प्रभाव इस विष को दूर करने में नहीं पड़ रहा है (नाना प्रकार की औषधियों का प्रयोग करने पर भी यह वियोगरूपी विष घटने के बजाय बढ़ता ही जा रहा है)। श्रीकृष्ण ने हमें यह बहुत अच्छा विष का दान दिया है जिसे दूर करने का कोई उपाय नहीं है व्यंजना यह है कि वियोग की ऐसी कठिन असह्य पीड़ा उन्होंने पैदा कर दी है जिसे दूर नहीं किया जा सकता। जब उन्होंने इतने तीक्ष्ण विष का प्रयोग हमारे ऊपर कर दिया तो उन्हें इस प्रकार तड़पाना नहीं चाहिए—वे या तो हमें मार डालें या हमारा काम करें अर्थात् अपने दर्शन की संजीवनी द्वारा नवजीवन दान करें। क्योंकि वियोग की यह पीड़ा अब बर्दाश्त नहीं हो रही है। वास्तव में जो कह कर मारता है छिपकर नहीं, वही सच्चा शूर कहलाता है और जो धोखाधड़ी करके मित्रों के साथ द्रोह करता है वह अच्छा नहीं कहा जाता। आशय यह है कि जो मित्रों के साथ विश्वासघात करता है उसका ऐसा कार्य करने में कभी कल्याण नहीं होता। सूर के शब्दों में गोपियों का कथन है कि हे भ्रमर, जो इस प्रकार प्रेम में विश्वासघात करता है उसकी सद्‌गति कभी नहीं होती।

टिप्पणी—

(1) 'दिनाई' शब्द बुन्देलखण्डी है। अब बुन्देलखण्ड में किसी के साथ विष प्रयोग करने के लिए कहा जाता है कि 'वाको दिनाई दै दयो'। इस प्रकार की भाषा पर यथास्थल बुन्देलखण्डी का भी प्रभाव लक्षित होता है।

(2) तीसरी पंक्ति में रूपक अलंकार का प्रयोग किया गया है।

(3) 'गरलदान दीनो है नीको' में विपरीत लक्षणा का प्रयोग हुआ है। यहाँ 'नीको' का अर्थ बुरी तरह से है।

(4) 'मित्रों द्रोह न भलाई' के सम्बन्ध में संस्कृत में भी इस प्रकार के भाव मिलते हैं; यथा—*मित्रद्रोही कृतघ्नश्च यश्च विश्वासघातकः।*

ते नरा नरकं यान्ति यावच्चन्द्र दिवाकरौ ॥

(5) 'बघवार' के सम्बन्ध में ऐसा कहा जाता है कि इसे किसी मीठी वस्तु में मिलाकर जब ठग किसी को खिला देता है, तो वह बेहोश हो जाता है (क्योंकि बाघ की मूँछों में विष का प्रभाव होता है) और उसके बेहोश होने पर वह उसका सामान छीन लेता है।

राग सारंग

ऊधो ! जो हरि आवैं तो प्रान रहैं।
आवत, जात, उलटि फिरि बैठत जीवन-अवधि गहे ॥
जब हे दाम ऊखल सों बाँधे बदन नवाय रहे।
चुभि जु रही नवनीत चोर-छबि, क्यों भूलति सो ज्ञान गहे ॥
तिनसों ऐसी क्यों कहि आवै, जे कुल-पति की त्रास महे।
सूर स्याम गुन-रसनिधि तजिकै को घटनीर बहे ? ॥ 198 ॥

शब्दार्थ—उलटि = लौटकर। बैठत = प्रवेश करते हैं। जीवन अवधि गहे = जीवन की अवधि को पकड़े हुए। हे = थे। दाम = रस्सी द्वारा। बदन = मुख। नवाय रहे = झुका लिया। नवनीत-चोर = मक्खन चोर (श्रीकृष्ण)। ज्ञान गहे = तुम्हारे निर्गुण ज्ञान को स्वीकार करने पर। पति = प्रतिष्ठा। त्रास = भय । महे = नष्ट कर दिया, मथ डाला। रसनिधि = आनन्द का सागर। को घटनीर बहे = कौन घड़े के जल में (थोड़े जल में) प्रवाहित हो।

सन्दर्भ—गोपियाँ श्रीकृष्ण के वियोग में मरणासन्न हैं। उनके प्राण श्रीकृष्ण की आशा में कभी शरीर में आ जाते हैं और कभी निराश होकर निकल जाते हैं।

व्याख्या—(गोपियाँ श्रीकृष्ण के वियोग में अपने प्राणों की दयनीय स्थिति का उल्लेख उद्धव से कर रही हैं)। हे उद्धव, श्रीकृष्ण के बिना हमारे प्राण रहना नहीं चाहते—हाँ यदि वे आ जायँ तो निश्चय ही ये रह जायेंगे। उनके दर्शन से हमारे प्राणों की रक्षा हो जाएगी। हमारे प्राणों की यह दशा है कि वे जाते-जाते श्रीकृष्ण के आगमन की आशा से पुनः आ जाते हैं, और जब उनके आने की निराशा हो जाती है तो ये चले जाते हैं तथा जीवन की अवधि को पकड़े हुए ये प्राण लौटकर पुनः प्रवेश कर जाते हैं। हे उद्धव, हमें उनके बचपन का वह चित्र स्मरण हो रहा है जब माता यशोदा ने एक बार उन्हें रस्सी के द्वारा ऊखल में बाँध दिया तो वे अपने मुख को (भय और लज्जा से) झुकाए हुए बैठे रहे। आज भी हमारे मन में मक्खन चोर श्रीकृष्ण की वह सुन्दरता चुभ रही है और तुम्हारे निर्गुण ज्ञान को स्वीकार करने पर वह कैसे भूल सकती है (तुम्हारे निर्गुण ज्ञान को ग्रहण करके श्रीकृष्ण की ऐसी मधुर छवि कैसे भूल सकती हैं)। भला जिन गोपियों ने श्रीकृष्ण के लिए अपने वंश की प्रतिष्ठा का भी ध्यान नहीं दिया (नष्ट कर दिया) और उनके पीछे-पीछे भागती रहीं, उनके लिए श्रीकृष्ण से ऐसी बातें कैसे कहते बनती हैं अर्थात् वे क्यों गोपियों के लिए योग संदेश भिजवाया करते हैं। सूरदास के शब्दों में गोपियाँ कह रही हैं कि हे उद्धव, श्रीकृष्ण के गुणों के आनन्द-सागर को त्याग कर कौन अभागिनी घड़े के जल में (अल्प जल में) अपने को प्रवाहित करे अर्थात् जैसे घड़े के अल्प जल में प्रवाहित होना संभव नहीं है उसी प्रकार तुम्हारे निर्गुण ज्ञान में मानस को प्रवाहित करना हमारे लिए संभव नहीं। हम सब तो सगुण रूप श्रीकृष्ण के गुणों के अपार आनंद रूपी सागर में अपने मानस को निमज्जित किए रहती हैं।

टिप्पणी—

(1) वियोग की अन्तिम अवस्था मरण का इसमें अत्यंत भावपूर्ण शब्दों में वर्णन किया गया है।

(2) दूसरी पंक्ति का भाव जायसी के पद्मावत में भी मिला है—

खिन एक आव पेट महँ स्वाँसा।
खिनहि जाइ सब होइ निरासा॥

(3) तीसरी और चौथी पंक्ति में स्मृति संचारी के द्वारा श्रीकृष्ण की बाल-छवि का स्मरण किया गया है।

(4) अन्तिम पंक्ति में (गुन रसनिधि) रूपक अलंकार है।

राग सारंग

ऊधो ! यह निश्चय हम जानी।
खोयो गयो नेह नग उनपै, प्रीति-कोठरी भई पुरानी॥
पहिले अधर सुधा करि सींची, दियो पोष बहु लाड़ लड़ानी।
बहुरै खेल कियो केसव सिसु गृहरचना ज्यों चलत बुझानी॥
ऐसे ही परतीति दिखाई पन्नग केंचुरि ज्यों लपटानी।
बहुरो सुरति लई नहिं जैसे भँवर लता त्यागत कुम्हिलानी॥
बहुरंगी जहँ जाय तहाँ सुख, एक रंग दुख देह दहानी।
सूरदास पसु धनी चोर के खायो चाहत दाना पानी॥ 199 ॥

शब्दार्थ—नेह नग = प्रेम रूपी रत्न। प्रीति-कोठरी = प्रेम रूपी कोठरी (निवास स्थान)। अधर सुधा = ओष्ठों की सुधा माधुरी से। लाड़ लड़ानी = प्यार किया। सिसु-गृह = घरौंदा। चलत बुझानी = श्रीकृष्ण के जाते ही समझ में आयी। परतीति दिखाई = विश्वास दिलाया। पन्नग केंचुरि = सर्प की केंचुली। बहुरै = पुनः। बहुरौ = पुनः। सुरति लई नहिं = स्मरण नहीं किया। बहुरंगी = सब से प्रेम करने वाला। एकरंग = एकनिष्ठ प्रेम। दहानी = जली।

प्रसंग—इस पद में गोपियों ने श्रीकृष्ण के (प्रेम के क्षेत्र में) किए गए विश्वासघात का बड़ा ही सजीव वर्णन किया है। उन्होंने प्रेम करके कैसे विश्वासघात किया इसे विभिन्न दृष्टान्तों द्वारा गोपियों ने सपुष्ट किया है।

व्याख्या—(उद्धव के प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, अब हम निश्चयपूर्वक समझ गयीं कि श्रीकृष्ण ने हमारे प्रेमरत्न को खो दिया (हमारे प्रति उनके मानस में जो प्रेम था अब वह प्रेम नाम की चीज उनके पास नहीं बची, समाप्त हो गयी)। वे जिस प्रेम कोटर (गोपियों के हृदय) में रहा करते थे, वह भी पुराना हो गया। अब उन्होंने नए प्रेम-कोटर (कुब्जा का हृदय) को तलाश लिया है—पुराने निवास स्थान को छोड़ दिया। पहले तो उन्होंने हमें (प्रेमरूपी लताओं को) अपने ओष्ठों के अमृतरस से सींच कर बढ़ा दिया। अपने ओष्ठों के अमृत-पान द्वारा प्रेम बढ़ाया और तरह-तरह से प्यार किया। लेकिन जब वे यहाँ से नाता तोड़कर चलने लगे तो बात समझ में आ गयी कि यह तो श्रीकृष्ण ने बच्चों के घरौंदे जैसा खेल किया (जैसे बच्चे खेलने के बाद घरौंदे को तोड़ डालते हैं, उसी प्रकार श्रीकृष्ण ने बच्चों के घरौंदे की भाँति हमारे प्रेम-सूत्र को तोड़

डाला)। और हम लोगों के प्रति अपना झूठा व्यवहार प्रदर्शित करते हुए अपने पुराने सम्बन्धों को उसी प्रकार छोड़ दिया जैसे सर्प अपनी लिपटी हुई केंचुल को बिना किसी मोह के त्याग देता है और उसकी ओर नहीं देखता। श्रीकृष्ण ने मथुरा जाने पर हमारा पुनः स्मरण उसी तरह नहीं किया जैसे भ्रमर कुम्हलाई हुई लता को देखकर छोड़ देता है और उसे फिर नहीं याद करता। वास्तव में जो बहुरंगी हैं (बहुतों से प्रेम करते है) वे जहाँ जाते हैं, वहीं सुख प्राप्त करते हैं जैसे श्रीकृष्ण ने हम लोगों को छोड़ कर कुब्जा से प्रेम किया और उसी से सुख प्राप्त किया। किन्तु जो एकनिष्ठ प्रेम के उपासक हैं (जैसे हम गोपियाँ) उनका शरीर प्रियतम के वियोग में सदैव दग्ध होता रहता है। सूर के शब्दों में गोपियों का कथन है कि यह पशुओं का लक्षण है कि वे जब धनी स्वामी द्वारा चुराए जाने पर उसके यहाँ पहुँचते हैं तो पुराने मालिक के आवास और उसके स्नेह को भूलकर सुखपूर्वक खाना-पीना किया करते हैं—उसकी कभी याद नहीं करते। ठीक उसी प्रकार श्रीकृष्ण अब मथुरा पहुँचकर अपने पुराने स्थान और प्रेम को भूल गए और कुब्जादि के प्रेम-पाश में फँस गए।

टिप्पणी—

(1) 'नेहनग', 'अधर सुधा' और 'प्रेम कोठरी' में रूपक अलंकार है।
(2) चतुर्थ और अंतिम पंक्ति में उपमा है।
(3) 'बहुरंगी' में कुब्जा के प्रति संकेत होने के कारण असूया संचारी भाव है।
(4) 'बहुरौ . . . . त्यागत कुम्हिलानी' में भी उपमा है।
(5) पाँचवीं पंक्ति का भाव देव के इस छन्द में भी देखने को मिला है।

'पन्नग की मनि कीन्हें तुम्हें हम, पन्नग की केंचुली कियो चाहत।'

राग सारंग

ऊधो ! हम हैं तुम्हरी दासी।
काहे को कटु बचन कहत हौ, करत आपनी हाँसी ॥
हमरे गुनहिं गाँठि किन बाँध्यो, हमपै कहा बिचार ?
जैसी तुम कीनी सो सब ही जानतु हैं संसार ॥
जो कछु भलो बुरो तुम कहिहौ सो सब हम सहि लैहैं।
अपनो कियो आपु भुगतैंगी दोष न काहू दैहैं ॥
तुम तो बड़े, बड़े के पठए, अरु सबके सरदार।
यह दुख भयो सूर के प्रभु सुनि, कहत लगावत छार ॥ 200 ॥

शब्दार्थ—हाँसी = उपहास। हमरे . . . . . बाँध्यौ = हमारे गुण गाँठ में क्यों नहीं बाँधे, हमारे गुणों का विचार क्यों नहीं किया ? हमपै कहा विचार = हमारे सम्बन्ध में क्या विचार करके। छार = भस्म।

सन्दर्भ—इस पद में गोपियों के दैन्य, धैर्य और उनकी सहनशीलता का भाव प्रकट हुआ है।

व्याख्या—(उद्धव के प्रति गोपियों का कथन) हे उद्धव, हम तो तुम्हारी दासी हैं, अतः क्यों अपनी कटु वाणी द्वारा हमें दुखित करते हो (आशय यह है कि तुम्हारे निर्गुण ज्ञान को सुनकर

हमें अत्यंत कष्ट होता है) और इन बातों से अपना उपहास क्यों करवा रहे हो ? तात्पर्य यह है कि तुम हम अबलाओं को जो ज्ञान का उपदेश दे रहे हो उसे सुनकर सब तुम्हारी अज्ञानता पर खिल्ली उड़ाते हैं। हमारे सम्बन्ध में क्या विचार करके (क्या सोचकर) तुमने हमारे गुणों को गाँठ में नहीं बाँधा—हमारे गुणों का विचार नहीं किया)। तुमने हमारे साथ जैसा व्यवहार किया (अपने निर्गुण ज्ञान द्वारा हमारे मन को जैसा दुख दिया) उसे सारा संसार जानता है। फिर भी तुम जैसा भला या बुरा कहोगे हम सब श्रीकृष्ण के रूखा होने के नाते सहन कर लेंगी—तुम्हें कुछ नहीं कहेंगी। हम स्वयं अपने किए हुए कर्मों को भोग लेंगी अर्थात् श्रीकृष्ण से प्रेम करने पर जो कष्ट हो रहा है उस कष्ट को हम स्वयं भोग लेंगी (सह लेंगी) और इसके लिए किसी को भी दोष नहीं देंगी (आशय यह है कि श्रीकृष्ण ने प्रेम करने पर जो दुख दिया उस दुख के लिए हम उन्हें बदनाम नहीं करेंगी—स्वयं सहन करेंगी) तुम्हारी गणना तो बड़ों में होती है। तुम गुणी और विद्वान हो) और मथुरा के राजा श्रीकृष्ण जो स्वयं बड़े कहे जाते हैं, के द्वारा भेजे गए हो और उनके सभी मित्रों में सरदार (शिरोमणि) भी हो। सूर के शब्दों में गोपियाँ कह रही हैं कि हे उद्धव, श्रीकृष्ण की इसी बात को सुनकर दुख हुआ कि वे हमें भस्म लगाने का आग्रह कर रहे हैं (हमें वे योगिनी बनाना चाहते हैं)।

टिप्पणी—

(1) तीसरी पंक्ति में रूढ़ि लक्षणा का प्रयोग हुआ है।

(2) 'तुम तो बड़े, बड़े के पाए' में प्रयुक्त बड़े शब्द में अत्यंत तिरस्कृत वाच्य ध्वनि है।

(3) इसमें गोपियों के धैर्य, दैन्य और सहनशीलता के गुण स्पष्ट हैं।

(4) इस पद में 'अपनो . . . . दोष न काहू देहैं' में मुहावरे गर्भित भाषा के कारण सूर का अभिव्यक्ति पक्ष सराहनीय है।

डॉ० किशोरी लाल

जन्म—1 फरवरी, 1931

जन्म-स्थान—नैनी बाजार, इलाहाबाद

शिक्षा—इलाहाबाद विश्वविद्यालय से एम० ए० (हिन्दी) एवं डी० फिल०

पद—अवकाशप्राप्त वरिष्ठ प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

प्रकाशित ग्रन्थ—रीति कवियों की मौलिक देन (शोध कार्य), बिहारी काव्य की उपलब्धियाँ, घनानन्द : काव्य और आलोचना, सुंदरी-सिंदूर (देव की रचनाओं का संपादन और व्याख्या), रीतिकाव्य शब्दकोश, सूर के विशिष्ट पद (सूर के दो सौ पचास कठिन पदों की स्तरीय व्याख्या), विद्वन्मोद तरंगिणी (संपादन), आचार्य केशवदासकृत विज्ञान गीता (स्तरीय संपादन एवं व्याख्या)।

प्रकाशनाधीन ग्रन्थ—परमानन्ददास : काव्य और आलोचना, रीति शृंगार-मंजूषा, हिन्दी साहित्य का रेखांकन (रेवरेंड ग्रीव्ज़ कृत ए स्केच ऑव हिन्दी लिटरेचर का हिन्दी अनुवाद)।

प्रकाशित लेख—सन् 1951 से अब तक शताधिक शोधपूर्ण लेख निम्नलिखित पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित—

साहित्य संदेश (आगरा), सरस्वती संवाद (आगरा), रसवंती (लखनऊ), युगधर्म (इलाहाबाद), नागरी प्रचारिणी पत्रिका (वाराणसी), भारत (इलाहाबाद), सन्मार्ग (वाराणसी), सम्मेलन पत्रिका (इलाहाबाद), सूर-सौरभ (आगरा), मानसामृत (वाराणसी), हिन्दुस्तानी (इलाहाबाद), हिन्दुस्तान (दिल्ली), राष्ट्रभाषा संदेश (हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद), ब्रजभारती (मथुरा)।

अभिरुचि—मूर्तिकला, चित्रकला और पांडुलिपियों का संग्रह।

विशेषज्ञता—भक्ति एवं रीतिकालीन साहित्य में।

साम्प्रतिक कार्य-योजना—सेवक ग्रंथावली, उदयनाथ कवीन्द्र ग्रन्थावली का संपादन तथा केशवकृत जहाँगीर जस चंद्रिका की व्याख्या।

अभिव्यक्ति प्रकाशन द्वारा प्रकाशित

प्रशासनिक सेवाओं (I.A.S., P.C.S.) में 'हिन्दी साहित्य' विषय लेकर सम्मिलित होने वाले प्रत्याशियों के लिए अपरिहार्य महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

1.	**हिन्दी भाषा**	डॉ० हरदेव बाहरी	50.00
2.	**कविता का पाठ और काव्य-मर्म** सन्दर्भ : तीन लम्बी कविताएँ 'राम की शक्ति पूजा', 'सरोज स्मृति' और 'अंधेरे में'	डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव	25.00
3.	**जयशंकर प्रसाद** विशेष सन्दर्भ : कामायनी एवं चन्द्रगुप्त नाटक	सं० विश्वनाथ प्रसाद तिवारी	40.00
4.	**मुक्तिबोध और अंधेरे में**	डॉ० गिरीश रस्तोगी	25.00
5.	**हिन्दी नाटक और रंगमंच**	डॉ० गिरीश रस्तोगी	25.00
6.	**शेखर : एक जीवनी** विविध आयाम	सं० डॉ० राम कमल राय	30.00
7.	**कबीर (साहित्य और साधना)**	सं० प्रो० वासुदेव सिंह	40.00
8.	**कहानीकार प्रेमचन्द : एक पुनर्मूल्यांकन**	डॉ० एम० सी० जोशी	30.00
9.	**सूरसागर–सार-संग्रह** विनय, भक्ति तथा गोकुल लीला सम्बन्धी प्रारम्भ के 125 पद, आलोचना, मूलपाठ, शब्दार्थ, व्याख्या एवं टिप्पणी	डॉ० मोहन अवस्थी	25.00
10.	**कबीर साखी-सुधा** प्रारम्भिक 200 साखी मूल पाठ व्याख्या एवं समीक्षा	प्रो० वासुदेव सिंह	30.00

हमारे अन्य प्रकाशन

1.	**गांधी, नेहरू, टैगोर, आम्बेडकर**	डॉ० एम० सी० जोशी	25.00
2.	**Gandhi, Nehru, Tagore, Ambedker**	Dr. M. C. Joshi	30.00
3.	**स्वतन्त्रता संग्राम का संक्षिप्त इतिहास**	डॉ० एम० सी० जोशी	30.00
4.	**शारीरिक मानव विज्ञान** **(द्वितीय संशोधित, परिवर्द्धित संस्करण)** (I.A.S. के प्रश्न-पत्र I खण्ड 2(क) हेतु)	डॉ० ए० एन० शर्मा	50.00
5.	**सामाजिक मानव विज्ञान** (I.A.S. के अनिवार्य प्रश्न-पत्र हेतु)	डॉ० ए० एन० शर्मा	40.00

सूर और उनका भ्रमरगीत

'सूर और उनका भ्रमरगीत' के लेखक मध्यकालीन साहित्य के अधिकारी विद्वान डॉ० किशोरीलाल हैं। इन्होंने प्रथम बार प्रस्तुत ग्रन्थ में पूर्ववर्ती टीकाकारों और व्याख्याकारों की भयंकर भूलों एवं भ्रांतियों के सम्बन्ध में बहुत सूझ-बूझ और विचारपूर्वक काव्य के अध्येताओं का ध्यान आकृष्ट किया है। लेखक ने प्रतियोगिता एवं स्नातकोत्तर स्तर के छात्रों को दृष्टि में रखते हुए इस ग्रन्थ के पदों की व्याख्या बहुत सुबोध और सुग्राह्य शैली में प्रस्तुत की है। व्याख्या के साथ ही संदर्भ और व्याख्येय अंशों के अन्तर्गत प्राप्त काव्यगत सौन्दर्य और वैशिष्ट्य का संकेत विस्तृत टिप्पणियों में किया गया है। इसके अतिरिक्त विगत वर्षों में प्रतियोगिता परीक्षा में पूछे गये प्रश्नों के आधार पर लिखित एक महत्वपूर्ण और सारगर्भित समीक्षा भी इस ग्रंथ के आरम्भ में संलग्न कर दी गयी है। अब आशा है कि प्रतियोगिता परीक्षा में सम्मिलित होने वाले प्रत्याशियों और स्नातकोत्तर स्तर के छात्रों के लिए यह ग्रन्थ अतिशय उपादेय एवं उपयोगी प्रमाणित होगा।

□□□

अभिव्यक्ति प्रकाशन